युगवीर-समन्तभद्र-ग्रन्थमाला : १७

सम्यक्त्व-चिन्तामणि:

लेखक
डॉ० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य
प्राचार्य—गणेश वर्णी जैन संस्कृत महाविद्यालय
वर्णी भवन, सागर (म० प्र०)

वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन

ग्रन्थमाला-सम्पादक व नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया

सम्यक्त्व-चिन्तामणि

लेखक :
डॉ० पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

ट्रस्ट-संस्थापक :
आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

प्रकाशक :
मंत्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट
१/१२८ बी० डुमरांवबाग कॉलोनी,
अस्सी, वाराणसी-५ (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण : ५०० प्रति
१९८३

मूल्य : बीस रुपए

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी (उ० प्र०)
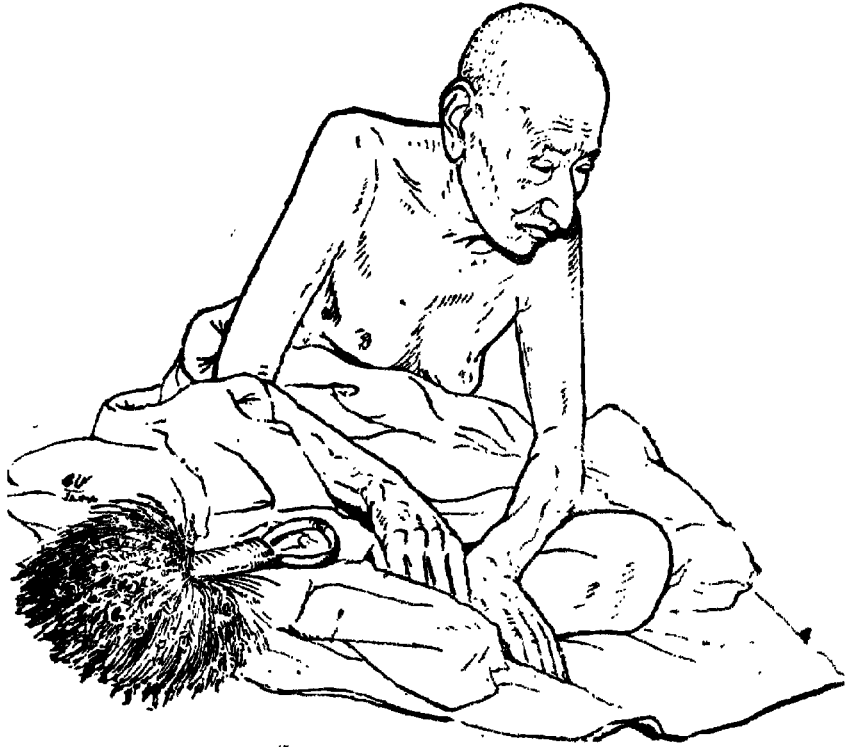
येषां कृपाकोमलदृष्टिपातैः
सुपुष्पिताभून्मम सूक्तिवल्ली।
तान् प्रार्थये वर्णिगणेशपादान्
फलोदयं तत्र नतेन मूर्ध्ना॥

मैं अपने जीवन-निर्माता पूज्यपाद, समाधिप्राप्त क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी (कीर्तिसागर मुनिराज) के करकमलोंमें उनके असीम उपकारोंसे अभिभूत हो यह सम्यक्त्व-चिन्तामणि ग्रन्थ सादर-सविनय समर्पित करता हूँ।

—पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

प्राक्कथन

श्रीयुत पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य इस युगके उल्लेखनीय विद्वानोंमेंसे हैं। वे योग्य अध्यापक, कुशल वक्ता और कुशल साहित्य-सेवी हैं। उन्होंने अनेक पुराणोंका अनुवाद किया है। किन्तु उनकी प्रकृत रचना 'सम्यक्त्व-चिन्तामणि' संस्कृत पद्योंमें है। जहां तक हम जानते हैं इस प्रकार की यह रचना प्राचीन परिपाटी के अनुरूप है। इसमें विद्वान् रचयिताने जैन सिद्धान्तके प्रायः सभी विषयोंका संग्रह कर दिया है इसका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनके स्वरूप और उसके भेदोंके कथनसे हुआ है, शायद इसीसे यह नाम दिया गया है। किन्तु इसमें सम्यग्दर्शनके विषय-भूत सात तत्त्वोंका वर्णन करते हुए जीवके भेदोंका, संसारी जीवके पंच परावर्तनोंका, चौदह गुणस्थानोंका, चौदह मार्गणाओंका, असंख्यात द्वीप-समुद्रोंका, छह द्रव्योंका, आस्रवके कारणोंका, कर्मोंके भेद-प्रभेदोंका, गुण-स्थानोंमें बन्धुव्युच्छित्तिका, बन्धके चारों भेदोंका, संवरके कारणोंका, वर्णन है। इस प्रकार पं० जीने अपनी इस रचनामें तत्त्वार्थसूत्र और गोम्मटसारके विषयों को संग्रहीत कर दिया है। इस एक ही ग्रन्थके स्वाध्यायसे उक्त ग्रन्थोंका विषय समझमें आ जाता है। अन्तमें सिद्धोंके स्वरूपका वर्णन है।

पं० जी की रचना भाषा और विषय दोनों ही दृष्टियोंसे मनोहर है। उनकी संस्कृत रचनामें प्रसाद और माधुर्य गुण है। उसे पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत नहीं होता कि हम किसी नवीन रचयिताकी रचना को पढ़ रहे हैं। उसकी 'टोन' बराबर प्राचीन रचनाओंसे मेल खाती है। और वस्तु-निरूपण तो स्पष्ट और समझमें आने योग्य है ही। यह एक ऐसी रचना है, जो संस्कृतके छात्रोंके लिये भी उपयोगी हो सकती है। हम इस रचनाके लिये पं० जी को साधुवाद देते हैं। पं० दरबारीलाल जी कोठियाने वीर-सेवामन्दिर-ट्रस्टसे इसका प्रकाशन करके अच्छा ही किया है। आशा है इस रचना का सर्वत्र समादर होगा।

(सिद्धान्ताचार्य) कैलाशचन्द्र शास्त्री
पूर्वप्राचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशकीय

गत महावीर-जयन्तीपर जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसाका प्रकाशन हुआ था और अब सम्यक्त्व-चिन्तामणिका प्रकाशन हो रहा है। इतने अल्पकाल—मात्र एक माह बाद ही उसका प्रकाशन निश्चय ही सुखद है।

स्वर्गीय श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर'की भावनाके यह सर्वथा अनुरूप है। उनका यावज्जीवन प्रयत्न रहा कि जैन साहित्यका जितना प्रकाशन होगा उतना ही सामान्य जनताको उसका परिचय मिलेगा और जैन तत्त्वज्ञानसे वह लाभान्वित होगी। वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट उनके इस प्रयत्नको आगे बढ़ानेमें सदा अग्रसर है।

जैसाकि हम इससे पूर्व प्रकट कर चुके हैं कि 'पत्रपरीक्षा' और 'समन्तभद्र-ग्रन्थावली' ये दोनों ग्रन्थ भी जल्दी ही प्रकाशमें आ रहे हैं। इनकी प्रस्तावना लिखना मात्र शेष है। अन्य दो ग्रन्थ—आचार्य देवसेनका 'आराधनासार' आदि (संस्कृतव्याख्या और हिन्दी अनुवाद सहित) और 'अरिष्टनेमि' प्रेसमें हैं, जो आगामी दीपावली तक पाठकोंके समक्ष आ जावेंगे।

सहयोगके लिए हम सभीके आभारी हैं।

३१-५-१९८३ (डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
वाराणसी–५ मंत्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट

प्रस्तावना

जैन संस्कृतिमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनका बड़ा महत्त्व है। इन्हें 'रत्नत्रय'—तीन रतनके नामसे अभिहित किया गया है। जैसे हीरा, पन्ना, पोखराज आदि पाषाण-रतनोंको लोकमें बहुमूल्य माना जाता है और उन्हें मंजूषा (पिटारी) आदिमें सावधानीसे सुरक्षित रखा जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आत्म-रत्नोंको सावधानी और बड़े पुरुषार्थसे प्राप्त करने तथा प्राप्त होनेपर उन्हें सुरक्षित रखनेका बार-बार उपदेश दिया है। हीरा आदि रतन तो मात्र शरीरको सजाते और सुख देते हैं। किन्तु सम्यग्दर्शन आदि तीन रतन आत्माको सजाते और उसे सुख देते हैं। इतना ही नहीं, वे उसे संसार-कारागारसे मुक्त करानेमें भी सक्षम हैं। आचार्य गृद्धपिच्छने[1] अपने मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) का आरम्भ करते हुए पहला सूत्र यही रचा है कि 'सम्यग्दर्शन आदि तीनोंकी प्राप्ति मुक्तिका मार्ग (साधन) है।' स्वामी समन्तभद्रने[2] तो धर्मकी व्याख्या करते हुए उन्हें ही धर्म कहा है और उनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको अधर्म बतलाया है तथा उन्हें भव-पद्धति—संसार-परम्पराका कारण निरूपित किया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि सम्यग्दर्शन आदि तीनोंकी प्राप्ति संसार-परम्पराकी निरोधक तथा मुक्तिकी साधिका है।

इस दुर्लभ रत्नत्रयकी प्राप्तिपर तीर्थंकर ऋषभदेवसे लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक और उनके उत्तरवर्ती असंख्य आचार्योंने बल दिया है तथ सहस्रों ग्रन्थोंका निर्माण कर उसका उपदेश दिया है।

रत्नत्रयमें सम्यग्दर्शनका तो और भी अधिक महत्त्व है। उसका मूल्यांकन करते हुए यहाँ तक कहा गया है[3] कि सम्यग्दर्शनके समान तीन काल और तीन

---

१. 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।'—त० सू० १-१।

२. सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥—र० क० श्रा० श्लो० ३।

३. न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥—र० क० श्रा० श्लो० ३४।

लोकमें अन्य कोई चीज हितकारी नहीं है और मिथ्यात्वके समान अहितकारी नहीं है। इसका अर्थ है कि आत्माका कल्याण करने वाला यह सम्यग्दर्शन है। संसारका बन्धन उसीसे टूटता है। इसीसे मोक्ष-मार्गमें प्रथमतः उसीकी उपासना—साधना—प्राप्ति की जाती है और ज्ञान तथा चारित्रकी उसके बाद। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गमें कर्णधार है। कर्णधार खेवटियाको कहते हैं। जिस प्रकार खेवटिया यात्रियोंको नावसे समुद्रके उस पार पहुँचा देता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गरूपी नावद्वारा मुमुक्षु-यात्रियोंको संसार-समुद्रके उस पार पहुँचा देता है। इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शनके होनेपर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सम्यक् कहे जाते हैं तथा उनकी उत्पत्ति, संरक्षण, वृद्धि और फलप्राप्ति होती है, उसके अभावमें नहीं।[२] इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिपर इतना बल क्यों दिया गया और दिया जाता है।

वस्तुतः सम्यक्त्व आत्माका वह विशेष गुण है जिसके प्रकट होते ही जड़-चेतन, आत्मा और पुद्गल तथा स्व और परकी रुचि, श्रद्धा और विश्वास होता और उसके होते ही भेदज्ञान होता है। इस भेदज्ञानका मूल सम्यक्त्व है। दर्शनमोहनीयके कारण निजको पर और परको निजकी रुचि होती है और वैसा ही प्रत्यय होता है और यह स्पष्ट है कि वे दोनों मिथ्या हैं—मिथ्यात्व और मिथ्याज्ञान हैं। आचार्य समन्तभद्रने लिखा है कि मोह (दर्शनमोहनीय) एक तिमिर है—अन्धकार है उसके दूर होनेपर ही दर्शन (स्वको स्व और परको पर देखना) होता है और तभी सम्यग्ज्ञान (स्वपरभेद-प्रत्यय) होता है। यह सम्यग्दर्शन जिसे हो जाता है उसकी आँखें खुल जाती हैं—चामकी नहीं, ज्ञानकी। और तब उसे मोक्ष दूर नहीं रहता। देर हो सकती है, अन्धेर नहीं होगा।

डॉ० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने प्रस्तुत ग्रंथमें उसी सम्यग्दर्शनपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। उनकी यह संस्कृत-रचना मौलिक कृति है। विविध छन्दोंमें इसे उन्होंने प्रस्तुत किया है। छन्द-वैविध्यसे जहाँ ग्रंथके सौन्दर्यकी वृद्धि हुई है वहाँ पाठकोंको एक धर्मग्रंथमें अनेक छन्दोंके माध्यमसे मूल वस्तुको जाननेका अवसर मिलेगा। कहीं-कहीं उन्हें लगेगा कि वे काव्यग्रंथ पढ़ रहे हैं, धर्मग्रंथ नहीं। उनका यह लगना स्वाभाविक होगा, क्योंकि साहित्याचार्यजी मूलतः काव्यकार हैं और इससे उनकी रचनामें काव्यत्वका प्रतिबिम्ब

---

१. दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते॥—र० क० श्लो० ३१।

२. विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धि फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥—र० क० श्लो० ३२।

मिलना ही चाहिए। किन्तु वे धर्मशास्त्रके भी मूर्द्धन्य पण्डित हैं, यह उनकी विशेषता है।

हमें जहाँ तक ज्ञात है, वर्तमानमें ब्र० भूरामलजी (आचार्य ज्ञानसागरजी) की जयोदय, दयोदय आदि मौलिक संस्कृत-रचनाओंके बाद साहित्याचार्यजीकी ही यह प्रस्तुत मौलिक संस्कृत-रचना है। विशेषता यह है कि यह पूर्णतया धर्मशास्त्र है और उपर्युक्त कृतियाँ काव्य-रचनाएँ हैं।

जैन लेखकोंने युगानुरूप ग्रन्थ लिखे हैं। प्राकृतके युगमें प्राकृतमें, संस्कृतके युगमें संस्कृतमें, अपभ्रंशके युगमें अपभ्रंशमें और अब हिन्दीके युगमें हिन्दीमें लिखे जा रहे हैं।

हमें प्रसन्नता है कि डॉ० पन्नालालजी जैन परम्परामें भी संस्कृत-भाषामें ग्रन्थ लिखनेकी धाराको जीवित बनाये हुए हैं। हम उन्हें हार्दिक साधुवाद देते हैं।

दिनांक ३१-५-१९८३,
वाराणसी (उ० प्र०),

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया,
सेवानिवृत्त रीडर, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

हृदयोद्गार

सन् १९२५ ई० में मैंने क्वीन्स कालेज (संपूर्णानन्द सं० विश्वविद्यालय) की प्रथमा-परीक्षा पास की थी। उस समय उसके पाठ्यक्रममें श्रुत-बोध था। श्रुत-बोधमें संस्कृतके प्रसिद्ध छन्दोंके लक्षण हैं। उसके आधारपर मैंने पर्युषण पर्वके समय उत्तमक्षमादि धर्मोंके विषयमें कुछ संस्कृत श्लोक बनाकर पूज्य वर्णीजीको दिखाये। सिघईजीके मन्दिरमें वर्णीजीकी शास्त्र-सभा होती थी। प्रवचनके बाद बोले—

'भैया, ई ने संस्कृतमें श्लोक-रचना करी है, सुनो।' सब लोगोंने शान्तभावसे वे श्लोक सुने। पश्चात् वर्णीजीने मेरी प्रशंसामें बहुत कुछ कहा। उत्साह बढ़ गया और संस्कृत-कविताका प्रारम्भ हो गया। सन् १९३६ में आचार्य-परीक्षा पास करनेके बाद भाव हुआ कि कोई प्रबन्ध-काव्य रचना चाहिए। भावनाके अनुसार 'ऋजुकाव्य' नामक प्रबन्धकाव्य रचना प्रारम्भ किया। परन्तु राजाके वर्णनके बाद जब रानीके वर्णनका प्रसङ्ग आया, तब चित्त हट गया। और मनमें निश्चय किया कि काव्य-निर्माण करनेकी शक्ति यदि प्रकट हुई है तो जिनेन्द्र-देवकी पूजा, स्तुति तथा धर्मशास्त्रकी रचना की जाय।

निश्चयानुसार सामायिकपाठ[1], त्रैलोक्यतिलकव्रतोद्यापन[2], अशोक[3]-रोहिणीव्रतोद्यापन, [4]रविव्रतोद्यापन, [5]क्षत्रचूडालंकार तथा प्रकीर्णक स्तोत्र आदि की रचनाएँ हो जानेके बाद 'रत्नत्रयी' ग्रन्थकी रचनाका विचार किया। संकल्प था कि इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (मुनिधर्म-श्रावकधर्म) का विस्तृत वर्णन करूं। संकल्पानुसार सम्यग्दर्शनका वर्णन पूर्ण होनेपर गति रुक गई। गृहस्थीका जाल धीरे-धीरे बढ़ता गया और उसके संचालनार्थ काव्य-रचनाका समय ट्यूशनोंमें लग गया। ग्रीष्मावकाशके दो माह विविध ग्रन्थोंके अनुवाद तथा संस्कृत-टीकाके निर्माणमें व्यतीत होने लगे।

---

१. वर्णी-ग्रन्थमालासे प्रकाशित २-३. सूरतसे प्रकाशित,
४. महावीरजीसे प्रकाशित ५. गद्यचिन्तामणिके परिशिष्टमें भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित।

'रत्नत्रयी' का प्रथम भाग बहुत पहले तैयार हो चुका था। परन्तु अपने ग्रन्थको प्रकाशित करानेके लिए किसी महानुभावसे याचना करते हुए संकोच होता रहा, जब कि दूसरोंके पचासों ग्रन्थ हमारे द्वारा संपादित और अनूदित होकर विविध संस्थाओंसे प्रकाशित हुए। एक दिन श्रीमान् डॉ० दरबारीलालजी कोठियासे रत्नत्रयीके प्रकाशनकी बात आयी। मैंने कहा कि 'यह रचना मेरे प्राणान्त होनेके पश्चात् रद्दीमें समाप्त हो जायगी, क्योंकि पुत्रोंमें किसीने यह विद्या पढ़ी नहीं।' कोठियाजी बोले—'मैं इसे वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टसे प्रकाशित करा दूँगा।' सम्यग्ज्ञानका वर्णन करने वाला द्वितीय भाग और सम्यक्चारित्रका वर्णन करने वाला तृतीय भाग अब इस वृद्धावस्थामें तैयार हो सकेगा या नहीं, इसका निश्चय नहीं। अतः प्रथम भागका नाम बदलकर इसे 'सम्यक्त्व-चिन्तामणि' नामसे प्रकाशित किया जा रहा है।

इसके दश मयूखोंमें सम्यग्दर्शनकी प्राग्भूमि, सम्यक्त्वकी उत्पत्ति और सम्यक्त्वके विषयभूत सात तत्त्वोंका विवेचनाके साथ वर्णन किया है। संवरतत्त्वके वर्णनके अन्तर्गत दश धर्मोंका वर्णन 'धर्मकुसुमोद्यान' नामसे जिनवाणी प्रेस, कलकत्ता द्वारा बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है। ग्रन्थके अन्दर अनुष्टुप् छन्दके अतिरिक्त विविध छन्दोंका उपयोग किया गया है। वर्णनीय विषयोंका आधार गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, तत्त्वार्थवार्तिक, पञ्चाध्यायी तथा तत्त्वार्थसार आदि हैं। विषय सब इन ग्रन्थोंका और काव्य-रचना मेरी है।

सम्यग्दर्शनपर विशिष्ट प्रकाश डालने वाला एक लेख 'वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टसे प्रकाशित और मेरे द्वारा संपादित रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्रस्तावना में लिखा था। वह लेख 'सम्यक्त्वचिन्तामणि' के अनुरूप जान पड़ा, अतः उसे प्रारम्भमें दिया जा रहा है।

ग्रन्थकी प्रस्तावना श्रीमान् डा० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा लिखी गई, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। कोठियाजीकी उदारताके विषयमें क्या लिखूं ? उन्होंने ग्रन्थके प्रकाशन तथा प्रूफ आदिके देखनेमें बड़ा श्रम किया है। सहयोगी विद्वान् पं० बाबूलाल जी फागुल्ल मालिक महावीर-प्रेसने बड़ी तत्परतासे ग्रन्थका सुन्दर मुद्रण किया है, अतः उनका भी आभारी हूँ।

मेरे धर्मशास्त्रके विद्यागुरु सागर विद्यालयके प्राचार्य स्वर्गीय स्याद्वादवाचस्पति पं० दयाचन्द्रजी न्यायतीर्थ और स्याद्वाद महाविद्यालयके प्राचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री हैं। इन महानुभावोंके उपकारका स्मरण कर श्रद्धासे मस्तक अवनत हो जाता है और नेत्र सजल हो जाते हैं। इनके प्रति मेरे श्रद्धा-सुमन अर्पित है। पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीके विषयमें

लिख ही क्या सकता हूँ, जिन्होंने आरम्भसे लेकर जीवन पर्यन्त मार्गदर्शन किया है। उनकी कृपासे ही सागर विद्यालयमें अध्ययनके लिए प्रविष्ट हुआ और अध्ययनके बाद ५२ वर्षोंसे अनवरत अध्यापन करा रहा हूँ।

अन्तमें सावधानी बरतनेपर भी संस्कृत-रचना तथा अनुवादमें त्रुटियोंका रह जाना संभव है, अतः छपने पर जो अशुद्धियाँ दृष्टिमें आई हैं उनका शुद्धि-पत्र परिशिष्टमें दे दिया है। शेषकेलिए विद्वज्जनोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ।

विदुषां वशंवदः
पन्नालाल जैन

सम्यग्दर्शन

मोक्षमार्ग

यद्यपि जीव टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाववाला है तथापि अनादिकालसे कर्म-संयुक्त दशामें रागी-द्वेषी होता हुआ स्वभावसे च्युत हो रहा है तथा स्वभावसे च्युत होनेके कारण ही चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण कर रहा है। इस जीवका अनन्त काल ऐसी पर्यायमें व्यतीत हुआ है जहाँ इसे एक श्वासके भीतर अठारह बार जन्म-मरण करना पड़ा है। अन्तर्मुहूर्तके भीतर इसे छयासठ हजार तीनसौ छत्तीस क्षुद्रभव धारण करना पड़े हैं। इन क्षुद्रभवोंके भीतर एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रियों तककी पर्याय इसने धारण की है। जिस प्रकार आतिशबाजीकी चकरीके घूमनेमें कारण, उसके भीतर भरी हुई बारूद है उसी प्रकार जीवके चतुर्गतिमें घूमनेका कारण, उसके भीतर विद्यमान रागादिक विकारी भाव हैं। संसार दुःखमय है, इस दुःखसे छुटकारा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो जाती। जीव और कर्मरूप पुद्गलका पृथक्-पृथक् हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष-प्राप्तिके उपायोंका वर्णन करते हुए आचार्योंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकताका वर्णन किया है। जब तक ये तीनों प्रकट नहीं हो जाते तब तक मोक्षकी प्राप्ति संभव नहीं है। सम्यग्दर्शनादिक आत्माके स्वभाव होनेसे धर्म कहलाते हैं और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म कहलाते हैं। अधर्मसे संसार और धर्मसे मोक्ष प्राप्त होता है। अतः मोक्षके अभिलाषी जीवोंको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप धर्मका आश्रय लेना चाहिये। यहाँ तीनोंके स्वरूपपर प्रकाश डाला जाता है।

अनुयोगोंके अनुसार सम्यग्दर्शनके विविध लक्षण

जैनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे चार प्रकारका है। इन अनुयोगोंमें विभिन्न दृष्टिकोणोंसे सम्यग्दर्शनके स्वरूपकी चर्चा की गई है। प्रथमानुयोग और चरणानुयोगमें सम्यग्दर्शनका स्वरूप प्रायः इस प्रकार बताया गया है कि[1] परमार्थ देव-शास्त्र-गुरुका तीन मूढ़ताओं और

---

१. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥—र० श्रा० ४।
अत्तागमतच्चाणं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।
संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं॥६॥—वसुनन्दि० ८।

आठ मदोंसे रहित तथा आठ अङ्गोंसे सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वीत-राग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्ति देव कहलाता है। जैनागममें अरहन्त और सिद्धपरमेष्ठीकी देवसंज्ञा है। वीतराग सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिसे अवतीर्ण तथा गणधरादिक आचार्योंके द्वारा गुम्फित आगम शास्त्र कहलाता है और विषयोंकी आशासे रहित निर्ग्रन्थ-निष्परिग्रह एवं ज्ञान, ध्यान और तपमें लीन साधु गुरु कहलाते हैं। हमारा प्रयोजन मोक्ष है, उसकी प्राप्ति इन्हीं देव, शास्त्र, गुरुके आश्रयसे हो सकती है। अतः इनकी दृढ़ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। भय, आशा, स्नेह या लोभके वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंकी प्रतीति नहीं करना चाहिए।

द्रव्यानुयोगमें प्रमुखतासे द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर और मोक्ष इन सात तत्त्वों एवं पुण्य और पाप सहित नौ पदार्थोंकी चर्चा आती है। अतः द्रव्यानुयोगमें सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धानको[1] बताया गया है। तत्त्व-रूप अर्थ, अथवा तत्त्व—अपने अपने वास्तविक स्वरूपसे सहित जीव, अजीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा परमार्थ[2] रूपसे जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्-दर्शन हैं। यहाँ विषय और विषयीमें अभेद मानकर जीवादि पदार्थोंको ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। अर्थात् इन नौ पदार्थोंका परमार्थरूपसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी द्रव्यानुयोगमें स्वपरके श्रद्धानको भी सम्यग्दर्शन कहा गया है, क्योंकि आस्रवादिक तत्त्व स्व—जीव और पर—कर्मरूप अजीवके संयोगसे होनेवाले पर्यायात्मक तत्त्व हैं अतः स्वपरमें ही गर्भित हो जाते हैं। अथवा इसी द्रव्यानुयोगके अन्तर्गत अध्यात्मग्रन्थोंमें परद्रव्योंसे भिन्न [3]आत्म द्रव्यकी प्रतीति-को सम्यग्दर्शन कहा है, क्योंकि प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्मद्रव्य ही है। स्वका निश्चय होनेसे पर वह स्वतः छूट जाता है।

मूलमें तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। चेतनालक्षणवाला जीव है और उससे भिन्न अजीव है। अजीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे पाँच प्रकारका है। परन्तु यहाँ उन सबसे प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो जीवके साथ संयोगको प्राप्त हुए नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप अजीवसे प्रयोजन है। चैतन्यस्वभाववाले जीवके साथ अनादि कालसे ये नोकर्म—शरीर, द्रव्यकर्म—

१. 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'।—त० सू० १-२।

२. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥—स० सा० १३।

३. 'दर्शनमात्मविनिश्चितिः'—पुरुषार्थ०।

ज्ञानावरणादिक और भावकर्म—रागादिक लग रहे हैं। ये किस कारणसे लग रहे हैं, जब इसका विचार आता है तब आस्रवतत्त्व उपस्थित होता है। आस्रवके बाद जीव और अजीवकी क्या दशा होती है, यह बतानेके लिए बन्धतत्त्व आता है। आस्रवका विरोधी भावसंवर है, बन्धका विरोधी भावनिर्जरा है तथा जब सब नोकर्म, द्रव्य कर्म और भावकर्म जीवसे सदाके लिए सर्वथा विमुक्त हो जाते हैं तब मोक्षतत्त्व होता है। पुण्य और पाप आस्रवके अन्तर्गत हैं। इस तरह आत्मकल्याणके लिए उपर्युक्त सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थ प्रयोजनभूत हैं। इनका वास्तविक रूपसे निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। ऐसा न हो कि आस्रव और बन्धके कारणोंको संवर और निर्जराका कारण समझ लिया जाय अथवा जीवकी रागादिकपूर्ण अवस्थाको जीवतत्त्व समझ लिया जाय या जीवकी वैभाविक परिणति (रागादिक) को सर्वथा अजीव समझ लिया जाय, क्योंकि ऐसा समझनेसे वस्तुतत्त्वका सही निर्णय नहीं हो पाता और सही निर्णयके अभावमें यह आत्मा मोक्षको प्राप्त नहीं हो पाता। जिन भावोंको यह जीव मोक्षका कारण मानकर करता है वे भाव पुण्यास्रवके कारण होकर इस जीवको देवादिगतियोंमें सागरों पर्यन्तके लिए रोक लेते हैं। सात तत्त्वोंमें जीव और अजीवका जो संयोग है वह संसार है तथा आस्रव और बन्ध उसके कारण हैं। जीव और अजीवका जो वियोग—पृथग्भाव है वह मोक्ष है तथा संवर और निर्जरा उसके कारण हैं। जिस प्रकार रोगी मनुष्यको रोग, इसके कारण, रोगमुक्ति और उसके कारण चारोंका जानना आवश्यक है उसी प्रकार इस जीवको संसार, इसके कारण, उससे मुक्ति और उसके कारण—चारोंका जानना आवश्यक है।

करणानुयोगमें मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होनेवाली श्रद्धागुणकी स्वाभाविक परिणतिको सम्यग्दर्शन कहा है। करणानुयोगके इस सम्यग्दर्शनके होनेपर चरणानुयोग, प्रथमानुयोग और द्रव्यानुयोगमें प्रतिपादित सम्यग्दर्शन नियमसे हो जाता है। परन्तु शेष अनुयोगोंके सम्यग्दर्शन होनेपर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है। मिथ्यात्वप्रकृतिके अवान्तर भेद असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। एक मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें सातवें नरककी आयुका बन्ध होता है और एक मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें नौवें ग्रैवेयककी आयुका बन्ध होता है। एक मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें इस जीवके मुनिहत्याका भाव होता है और एक मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें स्वयं मुनिव्रत धारण कर अट्ठाईस मूलगुणोंका निर्दोष पालन करता है। एक मिथ्यात्वके उदयमें कृष्ण लेश्या होती है और एक मिथ्यात्वके उदयमें

शुक्ललेश्या होती है। जिस समय मिथ्यात्वप्रकृतिका मन्द, मन्दतर उदय चलता है उस समय इस जीवके करणानुयोग और द्रव्यानुयोगके अनुसार सम्यग्दर्शन हो गया है, ऐसा जान पड़ता है परन्तु करणानुयोगके अनुसार वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। एक भी प्रकृतिका उसके संवर नहीं होता है। बन्ध और मोक्षके प्रकरणमें करणानुयोगका सम्यग्दर्शन ही अपेक्षित रहता है, अन्य अनुयोगोंका नहीं। यद्यपि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शनकी महिमा सर्वोपरि है तथापि उसे पुरुषार्थपूर्वक— बुद्धिपूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस जीवका पुरुषार्थ चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगमें प्रतिपादित सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेके लिये ही अग्रसर होता है। अर्थात् यह बुद्धिपूर्वक परमार्थ देव-शास्त्र-गुरुकी शरण लेता है, उनकी श्रद्धा करता है और आगमका अभ्यास कर तत्त्वोंका निर्णय करता है। इन सबके होते हुए अनुकूलता होनेपर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन स्वतः प्राप्त हो जाता है और उसके प्राप्त होते ही यह संवर और निर्जराको प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दर्शनके विविध लक्षणोंका समन्वय—

उपर्युक्त विवेचनसे सम्यग्दर्शनके निम्नलिखित पांच लक्षण सामने आते हैं—

(१) परमार्थ देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीति।

(२) तत्त्वार्थश्रद्धान।

(३) स्वपरका श्रद्धान।

(४) आत्माका श्रद्धान।

(५) सप्त प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे प्राप्त श्रद्धागुणकी निर्मल परिणति।

इन लक्षणोंमें पाँचवां लक्षण साध्य है और शेष चार उसके साधन हैं। जहाँ इन्हें सम्यग्दर्शन कहा है वहाँ कारणमें कार्यका उपचार समझना चाहिये। जैसे अरहंत देव, तत्प्रणीत शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरुकी श्रद्धा होनेसे व कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुकी श्रद्धा दूर होनेसे गृहीत मिथ्यात्वका अभाव होता है, इस अपेक्षासे ही इसे सम्यग्दर्शन कहा है, सर्वथा सम्यग्दर्शनका यह लक्षण नहीं है क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहारधर्मके धारक मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी अरहंतादिकका श्रद्धान होता है। अथवा जिस प्रकार अणुव्रत, महाव्रत धारण करनेपर देशचारित्र, सकलचारित्र होता भी है और नहीं भी होता है। परन्तु अणुव्रत और महाव्रत धारण किये बिना देशचारित्र, सकलचारित्र कदाचित् नहीं होता है, इसलिये अणुव्रत, महाव्रतको अन्वयरूप कारण जान कर कारणमें कार्यका उपचारकर इन्हें देशचारित्र, सकलचारित्र कहा है। इसी प्रकार अरहंतदेवादिकका श्रद्धान होनेपर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है परन्तु अरहंतादिककी

श्रद्धाके बिना सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होता। इसलिये अन्वयव्याप्तिके अनुसार कारणमें कार्यका उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

यही पद्धति तत्त्वार्थश्रद्धानरूप लक्षणमें भी संघटित करना चाहिये, क्योंकि द्रव्यलिंगी अपने क्षयोपशमके अनुसार तत्त्वार्थका ज्ञान प्राप्तकर उसकी श्रद्धा करता है, बुद्धिपूर्वक अश्रद्धाकी किसी बातको आश्रय नहीं देता; तत्त्वार्थका ऐसा विशद व्याख्यान करता है कि उसे सुनकर अन्य मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं, परन्तु परमार्थसे वह स्वयं मिथ्यादृष्टि ही रहता है। उसकी श्रद्धामें कहाँ चूक रहती है, यह प्रत्यक्षज्ञानी जानते हैं। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि करणानुयोगप्रतिपादित सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तत्त्वार्थ-श्रद्धानपूर्वक होगी। अतः कारणमें कार्यका उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

स्थूलरूपसे "शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है" ऐसा स्वपरका भेदविज्ञान द्रव्यलिंगी मुनिको भी होता है। द्रव्यलिंगी मुनि, घानीमें पेल दिये जानेपर भी संक्लेश नहीं करता और शुक्ललेश्याके प्रभावसे नौवें ग्रैवेयक तकमें उत्पन्न होनेकी योग्यता रखता है फिर भी वह मिथ्यादृष्टि रहता है। उसके स्वपरभेद-विज्ञानमें जो सूक्ष्म चूक रहती है उसे जनसाधारण नहीं जान सकता। वह चूक प्रत्यक्षज्ञानका ही विषय है। इस स्थितिमें यह कहा जा सकता है कि करणानु-योग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन इससे भिन्न है परन्तु उसकी प्राप्तिमें स्वपरका भेदविज्ञान कारण पड़ता है। अतः कारणमें कार्यका उपचार कर उसे सम्यग्दर्शन कहा है।

कषायकी मन्दतासे उपयोगकी चञ्चलता दूर होने लगती है, उस स्थितिमें द्रव्यलिंगी मुनिका उपयोग भी परपदार्थसे हट कर स्वमें स्थिर होने लगता है। स्वद्रव्य—आत्मद्रव्यकी वह बड़ी सूक्ष्म चर्चा करता है। आत्माके ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावका ऐसा भावविभोर होकर वर्णन करता है कि अन्य मिथ्यादृष्टि जीवोंको भी आत्मानुभव होने लगता है परन्तु वह स्वयं मिथ्यादृष्टि रहता है। इस स्थितिमें इस आत्मश्रद्धानको करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शनका साधन मान कर सम्यग्दर्शन कहा गया है।

इन सब लक्षणोंमें जो सूक्ष्म चूक रहती है उसे छद्मस्थ जान नहीं सकता, इसलिये व्यवहारसे इन सबको सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इनके होते हुए सम्य-क्त्वका घात करनेवाली सात प्रकृतियोंका उपशमादिक होकर करणानुयोगप्रति-पादित सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीति, तत्त्वार्थश्रद्धान, स्वपरश्रद्धान और आत्मश्रद्धान ये चारों लक्षण एक-दूसरेके बाधक नहीं हैं क्योंकि एकके होनेपर दूसरे लक्षण स्वयं प्रकट हो जाते हैं। पात्रकी योग्यता देखकर

आचार्योंने विभिन्न शैलियोंसे वर्णन मात्र किया है। जैसे आचरणप्रधान शैलीको मुख्यता देनेकी अपेक्षा देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीतिको, ज्ञानप्रधान शैलीको मुख्यता देनेकी अपेक्षा तत्त्वार्थश्रद्धानको और कषायजनित विकल्पोंकी मन्द-मन्दतर अवस्थाको मुख्यता देनेकी अपेक्षा स्वपरश्रद्धान तथा आत्मश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। अपनी योग्यताके अनुसार चारों शैलियोंको अपनाया जा सकता है। इन चारों शैलियोंमें भी यदि मुख्यता और अमुख्यताकी अपेक्षा चर्चा की जावे तो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप ज्ञानप्रधान शैली मुख्य जान पड़ती है क्योंकि उसके होने पर ही शेष तीन शैलियोंको बल मिलता है।

सम्यग्दर्शन किसे प्राप्त होता है?

मिथ्यादृष्टि दो प्रकारके हैं—एक अनादि मिथ्यादृष्टि और दूसरे सादि मिथ्यादृष्टि। जिसे आज तक कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया है वह सादि मिथ्यादृष्टि जीव है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके मोहनीयकर्मकी छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है क्योंकि दर्शनमोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-प्रकृति इन तीन प्रकृतियोंमेंसे एक मिथ्यात्वप्रकृतिका ही बन्ध होता है, शेष दोका नहीं। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभावसे यह जीव मिथ्यात्व-प्रकृतिके मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिके भेदसे तीन खण्ड करता है। इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीवके ही सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिकी सत्ता हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टि जीवोंमें मोहनीयकर्मकी सत्ताके तीन विकल्प बनते हैं—एक अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला, दूसरा सत्ताईस प्रकृतियों की सत्तावाला और तीसरा छब्बीस प्रकृतियोंको सत्तावाला। जिस जीवके दर्शनमोहकी तीनों प्रकृतियाँ विद्यमान हैं वह अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला है। जिस जीवने सम्यक्त्वप्रकृतिकी उद्वेलना कर ली है वह सत्ताईस प्रकृतियोंकी सत्ता वाला है और जिसने सम्यक्‌मिथ्यात्वप्रकृतिकी भी उद्वेलना कर ली है वह छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्तावाला है।

सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन भेद हैं। यहाँ सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार करते हैं, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टिको सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम और द्वितीयोपशमके भेदसे दो प्रकार-का है। यहाँ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनकी चर्चा है। द्वितीयोपशमको चर्चा आगे की जायगी।

इतना निश्चित है कि सम्यग्दर्शन संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्य जीवको ही होता है अन्यको नहीं। भव्योंमें भी उसीको होता है जिसका संसारभ्रमणका

काल अर्धपुद्गल परावर्तनके कालसे अधिक बाकी नहीं है। लेश्याओंके विषयमें यह नियम है कि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके तीन शुभ लेश्याओंमेंसे कोई लेश्या हो और देव तथा नारकियोंके जहां जो लेश्या बतलाई है उसीमें औपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये गोत्रका प्रतिबन्ध नहीं है अर्थात् जहां उच्च-नीच गोत्रोंमेंसे जो भी संभव हो उसी गोत्रमें सम्यग्दर्शन हो सकता है। कर्मस्थितिके विषयमें चर्चा यह है कि जिसके बध्यमान कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण हो तथा सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, इससे अधिक स्थितिबन्ध पड़नेपर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिसके अप्रशस्त-प्रकृतियोंका अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग चतुःस्थानगत होता है वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यहां इतनी विशेषता और भी ध्यानमें रखना चाहिये कि जिस सादि मिथ्यादृष्टिके आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्गकी सत्ता होती है उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन नहीं होता। अनादि मिथ्यादृष्टिके इनकी सत्ता होती ही नहीं है। इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ जीव दूसरी बार प्रथमोपशम सम्यक्त्वको तबतक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह वेदक कालमें रहता है। वेदक कालके भीतर यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आता है तो वह वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है। वेदककालके विषयमें यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ जो मिथ्यादृष्टि जीव, एकेन्द्रिय पर्यायमें भ्रमण करता है वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होकर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनको तभी प्राप्त कर सकता है जब उसके सम्यक्त्व तथा सम्यङ्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियोंकी स्थिति एक सागरसे कम शेष रह जावे। यदि इससे अधिक स्थिति शेष है तो नियमसे उसे वेदक—क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन ही हो सकता है। यदि सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ जीव विकलत्रयमें परिभ्रमण करता है तो उसके सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिकी स्थिति पृथक्त्वसागरप्रमाण शेष रहनेतक उसका वेदककाल कहलाता है। इस कालमें यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आता है तो नियमसे वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको ही प्राप्त होता है। हाँ, सम्यक्त्वप्रकृतिकी अथवा सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति दोनोंकी उद्वेलना हो गई है तो ऐसा जीव पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अनादिमिथ्यादृष्टि जीवके सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादिमिथ्यादृष्टियोंमें २६ या २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाले जीवके दूसरी बार भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है किन्तु २८ प्रकृतिकी सत्तावाले जीवके वेदक कालके भीतर

दूसरी बार सम्यग्दर्शन हो तो वेदक—क्षायोपशमिक ही होता है। हाँ, वेदक कालके निकल जानेपर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी योग्यता रखने वाला संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, विशुद्धियुक्त, जागृत, साकार उपयोगयुक्त, चारों गति वाला भव्य जीव जब सम्यग्दर्शन धारण करनेके सम्मुख होता है तब क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पांच लब्धियोंको प्राप्त होता है।[1] इनमें करण लब्धिको छोड़कर शेष चार लब्धियां सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनोंको प्राप्त होती हैं परन्तु करण लब्धि भव्य जीवको ही प्राप्त होती है। उसके प्राप्त होने-पर सम्यग्दर्शन नियमसे प्रकट होता है। उपर्युक्त लब्धियोंका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **क्षायोपशमिक लब्धि**—पूर्व संचित कर्मपटलके अनुभागस्पर्धकोंका विशुद्धिके द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन होते हुए उदीरणाको प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धिके द्वारा जीवके परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं।

(२) **विशुद्धि लब्धि**—साता वेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियोंके बन्धमें कारण-भूत परिणामोंकी प्राप्तिको विशुद्धि लब्धि कहते हैं।

(३) **देशना लब्धि**—छहों द्रव्य और नौ पदार्थोंके उपदेशको देशना कहते हैं। उक्त देशनाके दाता आचार्य आदिकी लब्धिको और उपदिष्ट अर्थके ग्रहण, धारण तथा विचारणाकी शक्तिकी प्राप्तिको देशना लब्धि कहते हैं।

(४) **प्रायोग्य लब्धि**—आयुकर्मको छोड़कर शेष कर्मोंकी स्थितिको अन्तः-कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कर देना और अशुभकर्मोंमेंसे घातिया कर्मोंके अनुभागको लता और दारु इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मोंके अनुभागको नीम और कांजी इन दो स्थान गत कर देना प्रायोग्य लब्धि है।

(५) **करण लब्धि**—करण भावोंको कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने वाले करणों—भावोंकी प्राप्तिको करण लब्धि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—अथाप्रवृत्त-करण अथवा अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। जो करण—परिणाम इसके पूर्व प्राप्त न हुए हों उन्हें अथाप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसका दूसरा सार्थक

---

१. चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्ममुवगमई॥—जी० का० ६५१।
खयउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते॥—जी० का० ६५०।

नाम अधःकरण है। जिसमें आगामी समयमें रहने वाले जीवोंके परिणाम पिछले समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे मिलते जुलते हों उसे अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसमें समसमयवर्ती तथा विषमसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान और असमान-दोनों प्रकारके होते हैं। जैसे पहले समयमें रहने वाले जीवोंके परिणाम एकसे लेकर दस नम्बर तकके हैं और दूसरे समयमें रहने वाले जीवोंके परिणाम छहसे लेकर पन्द्रह नम्बर तकके हैं। पहले समयमें रहने वाले जीवके छहसे लेकर दश नम्बर तकके परिणाम विभिन्न समयवर्ती होने पर भी परस्पर मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार प्रथम समयवर्ती अनेक जीवोंके एकसे लेकर दस तकके परिणामोंसे समान परिणाम हो सकते हैं अर्थात् किन्हीं दो जीवोंके चौथे नम्बरका परिणाम है और किन्हीं दो जीवोंके पाँच नम्बरका परिणाम है। यह परिणामोंकी समानता और असमानता नाना जीवोंकी अपेक्षा घटित होती हैं। इस करणका काल अन्तर्मुहूर्त है और उसमें उत्तरोत्तर समान वृद्धिको लिए हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।

जिसमें प्रत्येक समय अपूर्व अपूर्व—नये नये परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। जैसे पहले समयमें रहने वाले जीवोंके यदि एकसे लेकर दस नम्बर तकके परिणाम हैं तो दूसरे समयमें रहने वाले जीवके ग्यारहसे बीस नम्बर तकके परिणाम होते हैं। अपूर्वकरणमें समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान और असमान दोनों प्रकारके होते हैं परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान ही होते हैं। जैसे, पहले समयमें रहनेवाले और दूसरे समयमें रहनेवाले जीवोंके परिणाम कभी समान नहीं होते परन्तु पहले अथवा दूसरे समयमें रहनेवाले जीवों के परिणाम समान भी हो सकते हैं और असमान भी। यह चर्चा भी नाना जीवोंकी अपेक्षा है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु यह अन्त-र्मुहूर्त अधःप्रवृत्तकरणके अन्तर्मुहूर्तसे छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालमें भी उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होते हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।

जहाँ एक समयमें एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करणमें समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान ही होते हैं और विषमसमय-वर्ती जीवोंके परिणाम असमान ही होते हैं। इसका कारण है कि यहाँ एक समयमें एक ही परिणाम होता है इसलिये उस समयमें जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम समान ही होंगे और भिन्न समयोंमें जो जीव होंगे उनके परिणाम भिन्न ही होंगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु अपूर्वकरणकी अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है। इसके प्रत्येक समयमें एक ही परिणाम होता है। इन तीनों करणोंमें परिणामोंकी विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

उपर्युक्त तीन करणोंमेंसे पहले अथाप्रवृत्त अथवा अधःकरणमें चार आवश्यक होते हैं—(१) समय समयमें अनन्तगुणी विशुद्धता होती है। (२) प्रत्येक अन्त-र्मुहूर्तमें नवीन बन्धकी स्थिति घटती जाती है। (३) प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तगुण बढ़ता जाता है और (४) प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तवां भाग घटता जाता है। इसके बाद अपूर्वकरण परिणाम होता है। उस अपूर्वकरणमें निम्नलिखित आवश्यक और होते हैं। (१) सत्तामें स्थित पूर्व कर्मोंकी स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें उत्तरोत्तर घटती जाती है अतः स्थितिकाण्डक घात होता है (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें उत्तरोत्तर पूर्व कर्मका अनुभाग घटता जाता है इसलिये अनुभागकाण्डक घात होता है और (३) गुण-श्रेणीके कालमें क्रमसे असंख्यातगुणित कर्म, निर्जराके योग्य होते हैं इसलिए गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस अपूर्वकरणमें गुणसंक्रमण नामका आवश्यक नहीं होता। किन्तु चारित्रमोहका उपशम करनेके लिए जो अपूर्वकरण होता है उसमें होता है। अपूर्वकरणके बाद अनिवृत्तिकरण होता है उसका काल अपूर्वकरणके कालके संख्यातवें भाग होता है। इसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होने पर[1] अन्तरकरण होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरणके कालके पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्मके निषेकोंका अन्तर्मुहूर्तके लिए अभाव होता है। अन्तरकरणके पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरणके द्वारा अभावरूप किये हुए निषेकों-के ऊपर जो मिथ्यात्वके निषेक उदयमें आनेवाले थे उन्हें उदयके अयोग्य किया जाता है। साथ ही अनन्तानुबन्धीचतुष्कको भी उदयके अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदययोग्य प्रकृतियोंका अभाव होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्रथम समयमें मिथ्यात्वप्रकृतिके तीन खण्ड करता है। परन्तु राजवार्तिकमें, अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें तीन खण्ड करता है, ऐसा सूचित किया है।[2] तदनन्तर चरम समयमें मिथ्यादर्शनके तीन भाग करता

---

१. किमन्तरकरणं नाम? विवक्खियकम्माणं हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अंतोमुहुत्तमेत्ताणं ट्ठिदीणं परिणामविसेसेण णिसेगाणमभावीकरणमंतरकरण-मिदि भण्णदे।—जयधवल अ० प्र० ९५३।

अर्थ—अन्तरकरणका क्या स्वरूप है? उत्तर—विवक्षित कर्मोंकी अधस्तन और उपरिम स्थितियोंको छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियोंके निषेकोंका परिणामविशेषके द्वारा अभाव करनेको अन्तरकरण कहते हैं।

२. ततश्चरमसमये मिथ्यादर्शनं त्रिधा विभक्तं करोति—सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं चेति। एतासां तिसृणां प्रकृतीनाम् अनन्तानुबन्धिक्रोधमान-मायालोभानां चोदयाभावेऽन्तर्मुहूर्तकालं प्रथमसम्यक्त्वं भवति।—त० वा० अ० ९, पृष्ठ ५८९।

हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्‌मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियोंका इस प्रकार सात प्रकृतियोंके उदयका अभाव होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यही भाव षट्खण्डागम (धवला पुस्तक ६) के निम्नलिखित दो सूत्रोंमें भी प्रकट किया गया है—

'ओहट्टेदूण मिच्छत्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं ॥७॥

अर्थ—अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्मके तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्‌मिथ्यात्व।

दंसणमोहणीयं कम्मं उवसामेदि ॥८॥

अर्थ—मिथ्यात्वके तीन भाग करनेके पश्चात् दर्शनमोहनीयकर्मको उपशमाता है।

द्वितीयोपशमसम्यग्दर्शन

औपशमिक सम्यग्दर्शनके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम इस प्रकार दो भेद हैं। इनमेंसे प्रथमोपशम किसके और कब होता है। इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। द्वितीयोपशमकी चर्चा इस प्रकार है। प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका अस्तित्व चतुर्थगुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक ही रहता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला कोई जीव जब सातवें गुणस्थानके सातिशय अप्रमत्त भेदमें उपशमश्रेणी माढ़नेके सम्मुख होता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता हैं। इस सम्यग्दर्शनमें अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना और दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम होता है। इस सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला जीव उपशमश्रेणी माढकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहाँसे पतन कर नीचे आता है। पतनकी अपेक्षा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ गुणस्थानमें भी इसका सद्भाव रहता है।

क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमान कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय तथा आगामीकालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाती प्रकृतिका उदय रहनेपर जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यक्त्वमें सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहनेसे चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। छह सर्वघाती प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमको प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है तब इसे क्षायोपशमिक कहते हैं और जब सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयकी अपेक्षा वर्णन होता है तब इसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वैसे ये दोनों हैं पर्यायवाची।

इसकी उत्पत्ति सादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोंके हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टियोंमें जो वेदककालके भीतर रहता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दृष्टियोंमें जो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि है उसे भी वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीवको, चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थानमें इसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियोंमें उत्पन्न हो सकता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।[1] दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका आरम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है और वह भी केवली या श्रुतकेवली के पादमूलमें।[2] परन्तु इसका निष्ठापन चारों गतियोंमें हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन वेदकसम्यक्त्वपूर्वक ही होता है तथा चौथेसे सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थानमें हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन सादि अनन्त है। होकर कभी छूटता नहीं है जब कि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असंख्यात बार होकर छूट सकते हैं। क्षायिकसम्यग्दृष्टि या तो उसी भवसे मोक्ष चला जाता है या तीसरे भवमें, चौथे भवमें, चौथे भवसे अधिक संसारमें नहीं रहता।[3] जो क्षायिकसम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होनेसे नरकमें जाता है अथवा देवगतिमें उत्पन्न होता है वह वहाँसे मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। इस प्रकार तीसरे भवमें मोक्ष जाता है और जो बद्धायुष्क होनेसे भोगभूमिमें मनुष्य या तिर्यंच होता है वह वहाँसे देवगतिमें जाता है। वह वहाँसे आकर मनुष्य हो, मोक्ष जाता है। इस प्रकार चौथे भवमें उसका मोक्ष जाना बनता है।[4] चारों गति-सम्बन्धी आयुका बन्ध होनेपर सम्यक्त्व हो सकता है, इसलिये बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिका चारों गतियोंमें जाना संभव है। परन्तु यह नियम है कि सम्यक्त्वके

---

१. दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
   मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥६४॥—जी. का०।

२. स्वयं श्रुतकेवली हो जाने पर फिर केवली या श्रुतकेवलीके सन्निधानकी आवश्यकता नहीं रहती।

३. दंसणमोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदिय-तुरियभवे।
   णादिक्कदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं वा ॥—क्षे० जी० का० स० मा०

४. चत्तारि वि खेत्ताइं, आउगबंधेण होइ सम्मत्तं।
   अणुवद-महव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥—६५२॥—जी० का०।

कालमें यदि मनुष्य और तिर्यञ्चके आयुबन्ध होता है तो नियमसे देवायुका ही बन्ध होता है और नारकी तथा देवके नियमसे मनुष्यायुका ही बंध होता है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके बहिरङ्ग कारण

कारण दो प्रकारका होता है—एक उपादानकारण और दूसरा निमित्तकारण। जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है वह उपादानकारण कहलाता है। और जो कार्यकी सिद्धिमें सहायक होता है वह निमित्तकारण कहलाता है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके भेदसे निमित्तके दो भेद हैं। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका उपादानकारण[1] आसन्नभव्यता आदि विशेषताओंसे युक्त आत्मा है। अन्तरङ्ग निमित्तकारण सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है और बहिरङ्ग निमित्तकारण सद्‌गुरु आदि हैं। अन्तरङ्ग निमित्तकारणके मिलनेपर सम्यग्दर्शन नियमसे होता है परन्तु बहिरङ्ग निमित्तके मिलनेपर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है। सम्यग्दर्शनके बहिरङ्ग निमित्त चारों गतियोंमें विभिन्न प्रकारके होते हैं। जैसे नरकगतिमें तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और तीव्रवेदनानुभव ये तीन, चौथेसे सातवें तक जातिस्मरण और तीव्रवेदनानुभव ये दो, तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमें जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन ये तीन, देवगतिमें बारहवें स्वर्गतक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनकल्याणकदर्शन और देवर्द्धिदर्शन ये चार, तेरहवेंसे सोलहवें स्वर्गतक देवर्द्धिदर्शनको छोड़कर तीन और उसके आगे नौवें ग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो बहिरङ्ग निमित्त हैं। ग्रैवेयकके ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वहाँ बहिरङ्गनिमित्तकी आवश्यकता नहीं है। इस सन्दर्भमें सर्वार्थसिद्धिका **'निर्देशस्वामित्व'** आदि सूत्र तथा धवला पुस्तक ६ पृ० ४२० आदिका प्रकरण द्रष्टव्य है।

सम्यग्दर्शनके भेद

उत्पत्तिकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो भेद हैं। जो पूर्व संस्कारकी प्रबलतासे परोपदेशके बिना हो जाता है वह **निसर्गज सम्यग्दर्शन** कहलाता है और जो परके उपदेशपूर्वक होता है वह **अधिगमज सम्यग्दर्शन** कहलाता है। इन दोनों भेदोंमें अन्तरङ्ग कारण—सात प्रकृतियोंका उपशमादिक समान होता है, मात्र बाह्यकारणकी अपेक्षा दो भेद होते हैं।

करणानुयोगकी पद्धतिसे सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीन भेद होते हैं। जो सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है वह **औपशमिक**

---

१. आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धिभाक्।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥—सा० ध०।

कहलाता है। इसके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशमकी अपेक्षा दो भेद हैं। जो सात प्रकृतियोंके क्षयसे होता है उसे क्षायिक कहते हैं और जो सर्वघाती छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृतिनामक देशघाती प्रकृतिके उदयसे होता है उसे **क्षायोपशमिक** अथवा वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। कृतकृत्यवेदक सम्यग्दर्शन भी इसी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका अवान्तरभेद है। दर्शनमोहनीयकी क्षपणा करनेवाले जिस क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिके मात्र सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय शेष रह गया है, शेषकी क्षपणा हो चुकी है उसे **कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि** कहते हैं।

चरणानुयोगकी पद्धतिसे सम्यग्दर्शनके निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा दो भेद होते हैं। वहाँ परमार्थ देव-शास्त्र-गुरुकी विपरीताभिनिवेशसे रहित श्रद्धा करनेको **निश्चयसम्यग्दर्शन** कहा जाता है और उस सम्यग्दृष्टिकी पच्चीस दोषोंसे रहित जो प्रवृत्ति है उसे **व्यवहारसम्यग्दर्शन** कहा जाता है। शङ्कादिक आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ताएँ ये व्यवहारसम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहलाते हैं।[1]

द्रव्यानुयोगकी पद्धतिसे भी सम्यग्दर्शनके निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा दो भेद होते हैं। यहाँ जीवाजीवादि सात तत्त्वोंके विकल्पसे रहित शुद्ध आत्माके श्रद्धानको **निश्चयसम्यग्दर्शन** कहते हैं और सात तत्त्वोंके विकल्पसे सहित श्रद्धानको **व्यवहारसम्यग्दर्शन** कहते हैं।[2]

अध्यात्ममें वीतरागसम्यग्दर्शन और सरागसम्यग्दर्शनके भेदसे दो भेद होते हैं। यहाँ आत्माकी विशुद्धि मात्रको **वीतराग सम्यग्दर्शन** कहा है और प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणोंकी अभिव्यक्तिको **सराग सम्यग्दर्शन** कहा है।

आत्मानुशासनमें[3] ज्ञानप्रधान निमित्तादिककी अपेक्षा १. आज्ञासम्यक्त्व, २. मार्ग-सम्यक्त्व, ३. उपदेशसम्यक्त्व, ४. सूत्रसम्यक्त्व, ५. बीजसम्यक्त्व, ६. संक्षेपसम्यक्त्व, ७. विस्तारसम्यक्त्व, ८. अर्थसम्यक्त्व, ९. अवगाढ़ सम्यक्त्व और १०. परमावगाढ़सम्यक्त्व ये दश भेद कहे हैं।

---

१. मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥

२. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥—दर्शनपाहुड।

३. आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमावगाढं च ॥११॥—आत्मानुशासन

मुझे जिन-आज्ञा प्रमाण है, इस प्रकार जिनाज्ञाकी प्रधानतासे जो सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरवर्ती पदार्थोंका श्रद्धान होता है उसे **आज्ञासम्यक्त्व** कहते हैं। निर्ग्रन्थ मार्गके अवलोकनसे जो सम्यग्दर्शन होता है उसे **मार्गसम्यक्त्व** कहते हैं। आगमज्ञ पुरुषोंके उपदेशसे उत्पन्न सम्यग्दर्शन **उपदेशसम्यक्त्व** कहलाता है। मुनि-के आचारका प्रतिपादन करनेवाले आचारसूत्रको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे **सूत्रसम्यक्त्व** कहते हैं। गणितज्ञानके कारण बीजोंके समूहसे जो सम्यक्त्व होता है उसे **बीजसम्यक्त्व** कहते हैं। पदार्थोंके संक्षेपरूप विवेचनको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे **संक्षेपसम्यक्त्व** कहते हैं। विस्ताररूप जिनवाणीको सुननेसे जो श्रद्धान होता है उसे **विस्तारसम्यक्त्व** कहते हैं। जैन शास्त्रके वचन बिना किसी अर्थके निमित्तसे जो श्रद्धा होती है उसे **अर्थसम्यक्त्व** कहते हैं। श्रुत-केवलीके तत्त्वश्रद्धानको **अवगाढ़ सम्यक्त्व** कहते हैं। और केवलीके तत्त्वश्रद्धानको **परमावगाढ़ सम्यक्त्व** कहते हैं। इन दश भेदोंमें प्रारम्भके आठ भेद कारणकी अपेक्षा और अन्तके दो भेद ज्ञानके सहकारीपनाकी अपेक्षा किये गए हैं।

इस प्रकार शब्दोंकी अपेक्षा संख्यात, श्रद्धान करनेवालोंकी अपेक्षा असंख्यात और श्रद्धान करने योग्य पदार्थोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके अनन्त भेद होते हैं।

सम्यग्दर्शनका निर्देश आदिकी अपेक्षा वर्णन

तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीने पदार्थके जाननेके उपायोंका वर्णन करते हुए निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह उपायोंका वर्णन किया है।[1] यहाँ सम्यग्दर्शनके संदर्भमें इन उपायोंका भी विचार करना उचित जान पड़ता है। वस्तुके स्वरूप निर्देशको **निर्देश** कहते हैं। वस्तुके आधि-पत्यको **स्वामित्व** कहते हैं। वस्तुकी उत्पत्तिके निमित्तको **साधन** कहते हैं। वस्तु-के आधारको **अधिकरण** कहते हैं। वस्तुकी कालावधिको **स्थिति** कहते हैं और वस्तुके प्रकारोंको **विधान** कहते हैं। संसारके किसी भी पदार्थके जाननेमें इन छह उपायोंका आलम्बन लिया जाता है।

यहाँ सम्यग्दर्शनका निर्देश—स्वरूप क्या है? इसका उत्तर देनेके लिए कहा गया है कि यथार्थ देव-शास्त्र-गुरुका श्रद्धान करना, अथवा सप्त तत्त्व, नौ पदार्थ-का श्रद्धान करना आदि सम्यग्दर्शनका निर्देश है। **सम्यग्दर्शनका स्वामी कौन है?** इस प्रश्नका विचार सामान्य और विशेषरूपसे किया गया है। सामान्यकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्य जीवके ही होता है अतः

---

१. 'निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः'—त० सू० १-७।

वही इसका स्वामी है। विशेषकी अपेक्षा विचार इस प्रकार है[1]—

गतिकी अपेक्षा नरकगतिमें सभी पृथिवियोंके पर्याप्तक नारकियोंके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। प्रथम पृथिवीमें पर्याप्तकोंके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते हैं तथा अपर्याप्तकोंके क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। द्वितीयादि पृथिवियोंमें अपर्याप्तकोंको एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। तिर्यंचगतिमें औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक तिर्यंचोंके ही होता है और क्षायिक तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनोंके होते हैं। अपर्याप्तक तिर्यंचोंके सम्यग्दर्शन भोगभूमिज तिर्यंचोंकी अपेक्षा होते हैं। तिरश्चियोंके पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों ही अवस्थाओंमें क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्यके ही होता है और क्षपणाके पहले तिर्यञ्च आयुका बन्ध करने वाला मनुष्य, भोगभूमिके पुरुषवेदी तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है स्त्रीवेदी तिर्यंचोंमें नहीं। नवीन उत्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्तक तिरश्चियोंके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। मनुष्यगतिमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्योंके क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्योंके ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्योंके नहीं, क्योंकि प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनमें किसीका मरण होता नहीं है और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शनमें मरा हुआ जीव नियमसे देवगतिमें ही जाता है। मानुषी—स्त्रीवेदी मनुष्योंके पर्याप्तक अवस्थामें तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपर्याप्तक अवस्थामें एक भी नहीं होता। मानुषियोंके जो क्षायिक सम्यग्दर्शन बतलाया है वह भाववेदकी अपेक्षा होता है द्रव्यवेदकी अपेक्षा नहीं। देवगतिमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवोंमें उत्पन्न होते हैं इस अपेक्षा वहाँ अपर्याप्तक अवस्थामें भी औपशमिक सम्यग्दर्शनका सद्भाव रहता है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव, उनकी देवाङ्गनाओं तथा सौधर्मैशानकी देवांगनाओंके अपर्याप्तक अवस्थामें एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु पर्याप्तक अवस्थामें नवीन उत्पत्तिकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। स्वर्गमें देवियोंका सद्भाव यद्यपि सोलहवें स्वर्ग तक रहता है तथापि उनकी उत्पत्ति दूसरे स्वर्ग तक ही होती है इसलिये आगेकी देवियोंका समावेश पहले-दूसरे स्वर्गकी देवियोंमें ही समझना चाहिये।

---

१. विशेषकी अपेक्षा निम्नलिखित चौदह मार्गणाओंमें होता है—
गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे॥—जी० का०।

इन्द्रियोंकी अपेक्षा संज्ञी पञ्चेन्द्रियोंको तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अन्य इन्द्रियवालोंके एक भी नहीं होता। कायकी अपेक्षा त्रसकायिक जीवोंके तीनों होते हैं परन्तु स्थावरकायिक जीवोंके एक भी नहीं होता। त्रियोगियोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अयोगियोंके मात्र क्षायिक ही होता है। वेदकी अपेक्षा तीनों वेदोंमें तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपगतवेद वालोंके औपशमिक और क्षायिक ही होते हैं। यहाँ वेदसे तात्पर्य भाववेदसे है। कषायकी अपेक्षा क्रोधादि चारों कषायोंमें तीनों होते हैं परन्तु अकषाय—कषाय रहित जीवोंके औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं। औपशमिक मात्र ग्यारहवें गुणस्थानमें होता है। ज्ञानकी अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानके धारक जीवोंके तीनों होते हैं परन्तु केवलज्ञानियोंके एक क्षायिक ही होता है। संयमकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयम के धारक जीवोंके तीनों होते हैं, परिहारविशुद्धिवालोंके औपशमिक नहीं होता, शेष दो होते हैं, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातवालोंके औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं और संयतासंयत तथा असंयतोंके तीनों होते हैं। दर्शनकी अपेक्षा चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनके धारक जीवोंके तीनों होते हैं परन्तु केवलदर्शनके धारक जीवोंके एक क्षायिक ही होता है। लेश्याकी अपेक्षा छहों लेश्या वालोंके तीनों होते हैं परन्तु लेश्यारहित जीवोंके एक क्षायिक ही होता है। भव्य जीवोंकी अपेक्षा भव्योंके तीनों होते हैं परन्तु अभव्योंके एक भी नहीं होता। सम्यक्त्वकी अपेक्षा जहाँ जो सम्यग्दर्शन होता है वहाँ उसे ही जानना चाहिये। संज्ञाकी अपेक्षा संज्ञियोंके तीनों होते हैं असंज्ञियोंके एक भी नहीं होता। संज्ञी और असंज्ञीके व्यपदेशसे रहित सयोगकेवली और अयोगकेवलीके एक क्षायिक ही होता है। आहारकी अपेक्षा आहारकोंके तीनों होते हैं, छद्मस्थ अनाहारकोंके भी तीनों होते हैं परन्तु समुद्घातकेवली अनाहारकोंके एक क्षायिक ही होता है।

सम्यग्दर्शनके साधन क्या हैं? इसका उत्तर सम्यग्दर्शनके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोंके संदर्भमें आ चुका है।

सम्यग्दर्शनका अधिकरण क्या है?

अधिकरणके बाह्य और आभ्यन्तरकी अपेक्षा दो भेद हैं। आभ्यन्तर अधिकरण स्वस्वामिसम्बन्धके योग्य आत्मा ही है और बाह्य अधिकरण एक राजू चौड़ी तथा चौदह राजू लम्बी लोकनाड़ी है।

सम्यग्दर्शनकी स्थिति क्या है?

औपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छ्यासठ

सागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता, इसलिये इस अपेक्षा उसकी स्थिति सादि अनन्त है परन्तु संसारमें रहनेकी अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड़ वर्ष पूर्व तथा तेंतीस सागरकी है।

सम्यग्दर्शनका विधान क्या है?

सम्यग्दर्शनके विधान—भेदोंका वर्णन पिछले स्तम्भमें आ चुका है।

सम्यक्त्वमार्गणा और उसका गुणस्थानोंमें अस्तित्व

सम्यक्त्वमार्गणाके औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, सम्यङ्मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्यात्व ये छः भेद है। औपशमिक सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं—प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। इनमें प्रथमोपशम चौथेसे लेकर सातवें तक और द्वितीयोपशम चौथेसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चौथेसे लेकर सातवें तक होता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथेसे लेकर चौदहवें तक तथा सिद्ध अवस्थामें भी रहता है। सम्यङ्मिथ्यात्व मार्गणा तीसरे गुणस्थानमें, सासादनमार्गणा दूसरे गुणस्थानमें और मिथ्यात्वमार्गणा पहले गुणस्थानमें ही होती है। सम्यङ्मिथ्यात्वमार्गणा सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे होती है। इसमें जीवके परिणाम दही और गुड़के मिले हुए स्वादके समान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनोंरूप होते हैं। इस मार्गणामें किसीका मरण नहीं होता और न मारणान्तिक समुद्घात ही होता है। औपशमिक सम्यक्त्वका काल एक समयसे लेकर छह आवली तक शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभमेंसे किसी एक कषायका उदय आनेसे जिसका सम्यक्त्व आसादना—विराधनासे सहित हो गया है वह सासादन कहलाता है। जहाँ मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम होता है वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वके अगृहीत और गृहीतकी अपेक्षा दो भेद, एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनयिककी अपेक्षा पाँच भेद अथवा गृहीत, अगृहीत और सांशयिककी अपेक्षा तीन भेद होते हैं।[1]

सम्यग्दर्शनके आठ अङ्ग

जिन्हें मिला कर अङ्गीकी पूर्णता होती है अथवा अङ्गीको अपना कार्य पूर्ण करनेमें जो सहायक होते हैं उन्हें अङ्ग कहते हैं। मनुष्यके शरीरमें जिसप्रकार हाथ, पैर आदि आठ अङ्ग होते हैं उन आठ अंगोंके मिलनेसे ही मनुष्यके शरीर-

---

१. केषांचिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम्।
मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषाम्॥—सा० ध० १-५

की पूर्णता होती है और वे अंग ही उसे अपना कार्य पूर्ण करनेमें सहायक होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके निःशङ्कित आदि आठ अंग हैं। इन आठ अंगोंके मिलनेसे ही सम्यग्दर्शनकी पूर्णता होती है और सम्यग्दर्शनको अपना कार्य करनेमें उनसे सहायता मिलती है। कुन्दकुन्दस्वामीने अष्टपाहुडके अन्तर्गत चारित्र-पाहुडमें चारित्रके सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण इस तरह दो भेद कर सम्यक्त्वाचरणका निम्नलिखित गाथाओंमें वर्णन किया है—

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससंकाई।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥
णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥७॥
तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥८॥

ऐसा जान कर हे भव्य जीवो! जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए तथा सम्यक्त्वमें मल उत्पन्न करनेवाले शङ्का आदि मिथ्यात्वके दोषोंका तीनों योगोंसे परित्याग करो।

निःशङ्कित, निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्वके गुण हैं।

निःशङ्कितादि गुणोंसे विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिनसम्यक्त्व कहलाता है तथा जिनसम्यक्त्व ही उत्तम मोक्षरूप स्थानकी प्राप्तिके लिये निमित्तभूत है। ज्ञानसहित जिनसम्यक्त्वका जो मुनि आचरण करते हैं वह पहला सम्यक्त्वाचरण नामक चारित्र है।

तात्पर्य यह है कि शङ्कादिक दोषोंको दूर कर निःशङ्कित आदि गुणोंका आचरण करना सम्यक्त्वाचरण कहलाता है, यही दर्शनाचार कहलाता है। स्वरूपाचरण इससे भिन्न है।

अष्टपाहुडके अतिरिक्त समयसारकी गाथाओं (२२९ से लेकर २३६) में भी कुन्दकुन्द स्वामीने सम्यग्दृष्टिके निःशंकित आदि गुणोंका वर्णन किया है। यही आठ गुण आगे चलकर आठ अंगोंके रूपमें प्रचलित हो गये। रत्नकरण्डश्रावका-चारमें समन्तभद्रस्वामीने इन आठ अंगोंका संक्षिप्त किन्तु हृदयग्राही वर्णन किया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अमृतचन्द्रस्वामीने भी इनके लक्षण बतलानेके लिए आठ श्लोक लिखे हैं। यह आठ अंगोंकी मान्यता सम्यग्दर्शनका पूर्ण विकास करनेके लिए आवश्यक है। अंगोंकी आवश्यकता बतलाते हुए समन्तभद्रस्वामीने लिखा

है कि जिस प्रकार कम अक्षरों वाला मन्त्र विष-वेदनाको नष्ट करनेमें असमर्थ रहता है उसी प्रकार कम अङ्गोंवाला सम्यग्दर्शन संसारकी सन्ततिके छेदनेमें असमर्थ रहता है।[1] अंगोंका स्वरूप तथा उनमें प्रसिद्ध पुरुषोंका चरित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारके प्रथम अधिकारसे ज्ञातव्य है।

सम्यग्दर्शनके अन्य गुणोंकी चर्चा

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सम्यग्दर्शनके चार गुण हैं। बाह्य दृष्टिसे ये भी सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं। इनके स्वरूपका विचार पञ्चाध्यायीके उत्तरार्धमें विस्तारसे किया गया है। संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

[2]पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावोंमें स्वभावसे मनका शिथिल होना प्रशम भाव है। अथवा उसी समय अपराध करनेवाले जीवोंके विषयमें कभी भी उनके मारने आदिकी प्रयोजक बुद्धिका न होना प्रशमभाव है।

[3]धर्ममें और धर्मके फलमें आत्माका परम उत्साह होना अथवा समानधर्म-वालोंमें अनुरागका होना या परमेष्ठियोंमें प्रीतिका होना संवेग है।

[4]अनुकम्पाका अर्थ कृपा है या सब जीवोंपर अनुग्रह करना अनुकम्पा है या मैत्री भावका नाम अनुकम्पा है या मध्यस्थभावका रखना अनुकम्पा है या शत्रुताका त्याग कर देनेसे निःशल्य हो जाना अनुकम्पा है।

[5]स्वतः सिद्ध तत्त्वोंके सद्भावमें निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्मके हेतु और धर्मके फलमें आत्माकी अस्ति आदि रूप बुद्धिका होना आस्तिक्य है।

---

१. नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥

२. प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः॥४२६॥
सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः॥४२७॥—पंचाध्यायी।

३. संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मस्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु॥४३१॥

४. अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थ्यं नैःशल्यं वैरवर्जनात्॥४३२॥

५. आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चात्मादिमतिश्चितः॥४५२॥—पंचाध्यायी उ०।

उपर्युक्त प्रशमादिगुणोंसे अतिरिक्त सम्यग्दर्शनके आठ गुण और भी प्रसिद्ध हैं। जैसा कि निम्नलिखित गाथासे स्पष्ट है—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते॥
(वसु० श्रावकाचार)

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्वके आठ गुण हैं।

वास्तवमें ये आठ गुण उपर्युक्त प्रशमादि चार गुणोंके अतिरिक्त नहीं हैं क्योंकि संवेग, उपशम और अनुकंपा ये तीन गुण तो प्रशमादि चार गुणोंमें नामोक्त ही हैं। निर्वेद, संवेगका पर्यायवाची है। तथा भक्ति और वात्सल्य संवेगके अभिव्यंजक होनेसे उसमें गतार्थ हैं तथा निन्दा और गर्हा उपशम (प्रशम) के अभिव्यंजक होनेसे उसमें गतार्थ हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति

सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीयका त्रिक और अनन्तानुबन्धीका चतुष्क इन सात प्रकृतियोंके अभाव (अनुदय) में प्रकट होनेवाला श्रद्धागुणका परिणमन है और स्वानुभूति स्वानुभूत्यावरणनामक मतिज्ञानावरणके अवान्तरभेदके क्षयोपशमसे होनेवाला क्षायोपशमिक ज्ञान है। ये दोनों सहभावी हैं, इसलिए कितने ही लोग स्वानुभूतिको ही सम्यग्दर्शन कहने लगते हैं पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। दोनों ही पृथक्-पृथक् गुण हैं। छद्मस्थका ज्ञान लब्धि और उपयोगरूप होता है अर्थात् उसका ज्ञान कभी तो आत्माके विषयमें ही उपयुक्त होता है और कभी संसारके अन्य घट-पटादि पदार्थोंमें भी उपयुक्त होता है। अतः सम्यग्दर्शन और उपयोगात्मक स्वानुभूतिकी विषम व्याप्ति है। जहाँ स्वानुभूति होती है वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होता है पर जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ स्वानुभूति भी होती है और घट-पटादि अन्य पदार्थोंकी भी अनुभूति होती है। इतना अवश्य है कि लब्धिरूप स्वानुभूति सम्यग्दर्शनके साथ नियमसे रहती है। यहाँ यह भी ध्यानमें रखने योग्य है कि जीवको ज्ञान तो उसके क्षयोपशमके अनुसार स्व और परकी भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी अनेक पर्यायोंका हो सकता है परन्तु उसे अनुभव उसकी वर्तमान पर्यायमात्रका ही होता है। वस्तुतः[1] सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है और वचनोंका अविषय

---

१. सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।
तस्माद् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात्॥४००॥—पंचाध्यायी उ.
सम्यक्त्वं वस्तुतः स्पष्टं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वमनःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः॥३७५॥

हैं। इसलिए कोई भी जीव विधिरूपसे उसके कहने और सुननेका अधिकारी नहीं है अर्थात् यह कहने और सुननेको समर्थ नहीं है कि यह सम्यग्दृष्टि है अथवा इसे सम्यग्दर्शन है। किन्तु ज्ञानके माध्यमसे ही उसकी सिद्धि होती है। यहाँ ज्ञानसे स्वानुभूतिरूप ज्ञान विवक्षित है। जिस जीवके यह स्वानुभूति होती है उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना स्वानुभूति नहीं होती। प्रश्न उठता है कि जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषयभोग या युद्धादि कार्योंमें संलग्न होता है उस समय उसका सम्यग्दर्शन कहाँ रहता है? उत्तर यह है कि उसका सम्यग्दर्शन उसीमें रहता है परन्तु उस कालमें उसका ज्ञानोपयोग स्वात्माके उपयुक्त न होकर अन्य पदार्थोंमें उपयुक्त हो रहा है। इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि इसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है पर वास्तविकता यह है कि उस अवस्था में भी सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। लब्धि और उपयोगरूप परिणमन ज्ञानका है सम्यग्दर्शनका नहीं। सम्यग्दर्शन तो सदा जागरूक ही रहता है।

सम्यग्दर्शनको घातनेवाली प्रकृतियोंकी अन्तर्दशा

मुख्यरूपसे सम्यग्दर्शनको घातने वाली दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियाँ हैं— मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति। इनमें मिथ्यात्वका अनुभाग सबसे अधिक है, उसके अनन्तवें भाग सम्यङ्मिथ्यात्वका है और उसके अनन्तवें भाग सम्यक्त्वप्रकृतिका है। इनमें सम्यक्त्वप्रकृति देशघाती है। इसके उदयसे सम्यग्दर्शनका घात तो नहीं होता, किन्तु चल, मलिन और अगाढ़ दोष लगते हैं। 'यह अरहन्तादिक मेरे हैं यह दूसरेके हैं' इत्यादिक भाव होनेको चल दोष कहते हैं। शंकादिक दोषोंका लगना मल दोष है और शान्तिनाथ शान्तिके कर्ता हैं इत्यादि भावका होना अगाढ़ दोष है। ये उदाहरण व्यवहारमात्र हैं नियमरूप नहीं। परमार्थसे सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयमें क्या दोष लगते हैं, उन दोषोंके समय आत्मामें कैसे भाव होते हैं, यह केवलीके प्रत्यक्षज्ञानका विषय है। इतना नियमरूप जानना चाहिये कि सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयमें सम्यग्दर्शन निर्मल नहीं रहता। क्षायोपशमिक या वेदक सम्यग्दर्शनमें इस प्रकृतिका उदय रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला कर्मभूमिज मनुष्य जब क्षायिक सम्यग्दर्शनके सम्मुख होता है तब वह तीन करण करके सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धीचतुष्कका विसंयोजन—अप्रत्याख्यानावरणादिरूप परिणमन कर अभाव करता है। पश्चात् पुनः तीन करण करके मिथ्यात्वके परमाणुओंको सम्यङ्मिथ्यात्वरूप या सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमाता है उसके बाद सम्यङ्मिथ्यात्वके परमाणुओंको सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमाता है, पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृतिके निषेक उदयमें आकर खिरते हैं। यदि उसकी स्थिति आदि अधिक हों तो उन्हें स्थितिकाण्डकादि घातके

द्वारा घटाता है। जब उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी रह जाती है तब कृतकृत्यवेदक-सम्यग्दृष्टि कहलाता है। पश्चात् क्रमसे इन निषेकोंका नाश कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अनन्तानुबन्धीका प्रदेशक्षय नहीं होता किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादिरूप करके उसकी सत्ताका नाश करता है। इस प्रकार इन सात प्रकृतियोंको सर्वथा नष्ट कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

सम्यक्त्व होते समय अनन्तानुबन्धीकी दो अवस्थाएँ होती हैं—या तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसंयोजन होता है। जो अपूर्वादि करण करनेपर उपशमविधानसे उपशम होता है उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं और जो उदयका अभाव है उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं। इनमें अनन्तानुबन्धीका तो प्रशस्त उपशम होता नहीं है, मोहकी अन्य प्रकृतियोंका होता है। इसका अप्रशस्त उपशम होता है। तीन करण कर अनन्तानुबन्धीके परमाणुओंको जो अन्य चारित्रमोहनीयकी प्रकृतिरूप परिणमाया जाता है उसे विसंयोजन कहते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीका अप्रशस्त उपशम ही होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति में अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना नियमसे होती है ऐसा किन्हीं आचार्योंका मत है और किन्हीं आचार्योंका मत है कि विसंयोजनाका नियम नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्वमें नियमपूर्वक विसंयोजना होती है। जिस उपशम और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिके विसंयोजनाके द्वारा अनन्तानुबन्धीकी सत्ताका नाश होता है वह सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वमें आने पर अनन्तानुबन्धीका जब नवीन बन्ध करता है तभी उसकी सत्ता होती है।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि जब अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकी प्रकृति है तब उसके द्वारा चारित्रका ही घात होना चाहिये, सम्यग्दर्शनका घात उसके द्वारा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि अनन्तानुबन्धीके उदयसे क्रोधादिकरूप परिणाम होते हैं, अतत्त्वश्रद्धान नहीं होता, इसलिये परमार्थसे अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकी ही प्रकृति है परन्तु अनन्तानुबन्धीके उदयमें होने वाले क्रोधादिकके कालमें सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिये उपचारसे उसे भी सम्यग्दर्शनका घातक कहा है। जैसे त्रसपनाका घातक तो स्थावरनामकर्मका उदय है परन्तु जिसके एकेन्द्रियजाति नामकर्मका उदय होता है उसके त्रसपना नहीं हो सकता, इसलिये उपचारसे एकेन्द्रियजाति नामकर्मको भी त्रसपनाका घातक कहा जाता है। इसी दृष्टिसे कहीं अनन्तानुबन्धीमें दो प्रकारकी शक्तियाँ मान ली गई हैं चारित्रको घातनेकी और सम्यग्दर्शनको घातनेकी।

प्रश्न—यदि अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकी प्रकृति है तो उसके उदयका अभाव होने पर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें भी कुछ चारित्र होना चाहिये, उसे असंयत क्यों कहा जाता है?

उत्तर—अनन्तानुबन्धी आदि भेद कषायकी तीव्रता या मन्दताकी अपेक्षा नहीं हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टिके तीव्र या मन्द कषायके होते हुए अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायोंका उदय युगपत् रहता है। मिथ्यादृष्टिके कषायका इतना मन्द उदय हो सकता है कि उस कालमें शुक्ल लेश्या हो जावे और असंयत सम्यग्दृष्टिके इतनी तीव्र कषाय हो सकती है कि उस कालमें कृष्ण लेश्या हो जाय। जिसका अनन्त अर्थात् मिथ्यात्वके साथ अनुबन्ध—गठबन्धन हो वह अनन्तानुबन्धी है। जो एकदेशचारित्रका घात करे वह अप्रत्याख्यानावरण है, जो सकलचारित्रका घात करे वह प्रत्याख्यानावरण है और जो यथाख्यातचारित्रका घात करे वह संज्वलन है। असंयत सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धीका अभाव होनेसे यद्यपि कषायकी मन्दता होती है परन्तु ऐसी मन्दता नहीं होती जिससे चारित्र नाम प्राप्त कर सके। कषायके असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं उनमें सर्वत्र पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर मन्दता पायी जाती है परन्तु उन स्थानोंमें व्यवहारकी अपेक्षा तीन मर्यादाएँ की गई हैं—१. प्रारम्भसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तकके कषायस्थान असंयमके नामसे, २. पञ्चम गुणस्थानके कषायस्थान देशचारित्रके नामसे और ३. षष्ठादि गुणस्थानोंके कषायस्थान सकलचारित्रके नामसे कहे जाते हैं।

सम्यग्दर्शनकी महिमा

सम्यग्दर्शनकी महिमा बतलाते हुए समन्तभद्रस्वामीने कहा है[1]—

'ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन श्रेष्ठताको प्राप्त होता है इसलिये मोक्षमार्गमें उसे कर्णधार—खेवटिया कहते हैं।

जिस प्रकार बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके अभावमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी प्राप्ति नहीं होती।

'निर्मोह—मिथ्यात्वसे रहित—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तो मोक्षमार्गमें स्थित है परन्तु मोहवान्—मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। मोही मुनिकी अपेक्षा मोहरहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।'

'तीनों कालों और तीनों लोकोंमें सम्यग्दर्शनके समान अन्य कोई वस्तु देहधारियोंके लिए कल्याणरूप और मिथ्यात्वके समान अकल्याणरूप नहीं है।

'सम्यग्दर्शनसे शुद्ध मनुष्य व्रतरहित होने पर भी नरक और तिर्यञ्च गति, नपुंसक और स्त्री पर्याय, नीचकुल, विकलाङ्गता, अल्पायु और दरिद्रताको प्राप्त नहीं होते।'

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार ३१–४१ तक।

[1]यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके पहले किसी मनुष्यने नरक आयुका बन्ध कर लिया है तो वह पहले नरकसे नीचे नहीं जाता है। यदि तिर्यञ्च और मनुष्यका बन्ध कर लिया है तो भोगभूमिका तिर्यञ्च और मनुष्य होता है और यदि देवायुका बन्ध किया है तो वैमानिक देव ही होता है, भवनत्रिकोंमें उत्पन्न नहीं होता। सम्यग्दर्शनके कालमें यदि तिर्यञ्च और मनुष्यके आयुबन्ध होता है तो नियमसे देवायुका ही बन्ध होता है और नारकी तथा देवके नियमसे मनुष्यायुका ही बन्ध होता है।[2] सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी गतिकी स्त्रीपर्यायको प्राप्त नहीं होता। मनुष्य और तिर्यञ्च गतिमें नपुंसक भी नहीं होता।

'सम्यग्दर्शनसे पवित्र मनुष्य, ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और वैभवसे सहित उच्च कुलीन, महान् अर्थसे सहित श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं।'

'सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि स्वर्ग जाते हैं तो वहाँ अणिमा आदि आठ गुणोंकी पुष्टिसे संतुष्ट तथा सातिशय शोभासे युक्त होते हुए देवाङ्गनाओंके समूहमें चिर काल तक क्रीड़ा करते हैं।'

'सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्गसे आकर नौ निधि और चौदह रत्नोंके स्वामी समस्त भूमिके अधिपति तथा मुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा वन्दित चरण होते हुए सुदर्शन चक्रको वर्तानेमें समर्थ होते हैं—चक्रवर्ती होते हैं।'

'सम्यग्दर्शनके द्वारा पदार्थोंका ठीक-ठीक निश्चय करने वाले पुरुष अमरेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा मुनीन्द्रोंके द्वारा स्तुतचरण होते हुए लोकके शरण्यभूत तीर्थंकर होते हैं।'

'सम्यग्दृष्टि जीव अन्तमें उस मोक्षको प्राप्त होते हैं जो जरासे रहित है, रोग रहित है, जहाँ सुख और विद्याका वैभव चरम सीमाको प्राप्त है तथा जो कर्ममलसे रहित है।'

'जिनेन्द्र भगवान्में भक्ति रखने वाला—सम्यग्दृष्टि भव्य मनुष्य, अपरिमित महिमासे युक्त इन्द्रसमूहकी महिमाको, राजाओंके मस्तकसे पूजनीय चक्रवर्तीके चक्ररत्नको और समस्त लोकको नीचा करने वाले धर्मेन्द्रचक्र—तीर्थंकरके धर्मचक्रको प्राप्त कर निर्वाणको प्राप्त होता है।

---

१. दुर्गतावायुषो बन्धे सम्यक्त्वं यस्य जायते।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः॥

२. हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे॥१२७॥—जी० का०।

सम्यग्दर्शन और अनेकान्त

पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। अतः उसका निरूपण करनेके लिए आचार्योंने द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय इन दो नयोंको स्वीकृत किया है। द्रव्यार्थिक नय मुख्यरूपसे द्रव्यका निरूपण करता है और पर्यायार्थिक नय मुख्यरूपसे पर्यायको विषय करता है। अध्यात्मप्रधान ग्रंथोंमें निश्चयनय और व्यवहारनयकी चर्चा आती है। निश्चयनय गुण-गुणीके भेदसे रहित तथा परके संयोगसे शून्य शुद्ध वस्तुतत्त्वको ग्रहण करता है और व्यवहारनय, गुण-गुणीके भेदरूप तथा परके संयोगसे उत्पन्न अशुद्धतासे युक्त वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन करता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा निश्चय और व्यवहार नयके विषय परस्परविरोधी हैं। द्रव्यार्थिकनय पदार्थको नित्य तथा एक कहता है तो पर्यायार्थिकनय अनित्य तथा अनेक कहता है। निश्चयनय आत्माको शुद्ध तथा अभेदरूप वर्णन करता है तो व्यवहारनय अशुद्ध तथा भेदरूप बतलाता है। नयोंके इस विरोधको दूर करनेवाला अनेकान्त है। विवक्षावश परस्पर विरोधी धर्मोंको गौणमुख्यरूपसे जो ग्रहण करता है उसे अनेकान्त कहते हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य इसी अनेकान्तका आश्रय लेकर वस्तुस्वरूपको समझता है और पात्रकी योग्यता देखकर दूसरोंको समझाता है। सम्यग्दर्शनके होते ही इस जीवकी एकान्तदृष्टि समाप्त हो जाती है, क्योंकि निश्चय और व्यवहारके वास्तविक स्वरूपको समझकर दोनों नयोंके विषयमें मध्यस्थताको ग्रहण करने वाला मनुष्य ही जिनागममें प्रतिपादित वस्तुस्वरूपको अच्छी तरह समझ सकता है।[1] सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभासको समझकर उन्हें छोड़ता है तथा वास्तविक वस्तुस्वरूपको ग्रहणकर कल्याणपथमें प्रवर्तता है।

सम्यग्दृष्टिकी अन्तर्दृष्टि

श्री अमृतचन्द्र स्वामीने कहा है—**'सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्यशक्तिः'** सम्यग्दृष्टि जीवके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति प्रकट हो जाती है इसलिए वह संसारके कार्य करता हुआ भी अपनी दृष्टिको अन्तर्मुखी रखता है। 'मैं अनन्तज्ञानका पुञ्ज, शुद्ध—रागादिके विकारसे रहित चेतनद्रव्य हूँ, मुझमें अन्य द्रव्य नहीं हैं, मैं अन्य द्रव्यमें नहीं हूँ और आत्माके अस्तित्वमें दिखनेवाले रागादिक भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं।' इस प्रकार स्वरूपकी ओर दृष्टि रखनेसे सम्यग्दृष्टि जीव, अनन्त संसारके कारणभूत बन्धसे बच जाता है। प्रशम-संवेगादि गुणोंके प्रकट हो जानेसे उसको कषायका वेग ईंधन रहित अग्निके समान

---

१. व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥—पुरुषार्थ०।

उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि बुराई होने पर उसकी कषायका संस्कार छह महीनेसे ज्यादा नहीं चलता। यदि छह माहसे अधिक कषायका संस्कार किसी मनुष्यका चलता है तो उसके अनन्तानुबन्धी कषायका उदय है और उसके रहते हुए वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है[1] ऐसा समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी वैराग्यशक्तिके कारण सांसारिक कार्य करता हुआ भी जलमें रहनेवाले कमलपत्रके समान निर्लिप्त रहता है। वह मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्यागी हो जाता है। भय, आशा, स्नेह या लोभके वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंकी उपासना नहीं करता। किसी पर स्वयं आक्रमण नहीं करता। हाँ, किसीके द्वारा अपने ऊपर आक्रमण होने पर आत्मरक्षाके लिए युद्ध आदि भी करता है। मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन नहीं करता। तात्पर्य यह है कि सम्यक् दृष्टिकी चाल-ढाल ही बदल जाती है।[2]

विनीत
पन्नालाल जैन

---

१. अंतोमुहुत्त पक्खो छम्मासं संख संख णंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियेमण ॥—गो०क०का०।

२. रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनाका एक अंश।

विषयानुक्रमणिका

प्रथम मयूख

द्वितीय मयूख

तृतीय मयूख

चतुर्थ मयूख

पञ्चम मयूख

षष्ठ मयूख

सप्तम मयूख

अष्टम मयूख

नवम मयूख

●

सम्यक्त्व-चिन्तामणिमें
प्रयुक्त छन्दोंकी नामावली

१. मालिनी
२. स्वागता
३. उपजाति
४. इन्द्रवज्रा
५. आर्या
६. अनुष्टुप्
७. शार्दूलविक्रीडित
८. वसन्ततिलका
९. उपेन्द्रवज्रा
१०. प्रमदानव
११. भुजङ्गप्रयात
१२. द्रुतविलम्बित
१३. वंशस्थ
१४. स्रग्धरा
१५. शालिनि
१६. मञ्जुभाषिणी
१७. शिखरिणी
१८. रथोद्धता
१९. हिन्दीगीतिका

श्रीवीतरागाय नमः ।

सम्यक्त्व-चिन्तामणिः

प्रथमो मयूखः

निर्विघ्नरूपसे प्रारिप्सित ग्रन्थकी समाप्तिके लिए पांच बालयति तीर्थंकर वासुपूज्य-मल्लिनाथ-नेमिनाथ-पार्श्वनाथ और वर्धमान भगवान्‌का स्तवन करते हुए मङ्गलाचरण करते हैं—

मालिनी छन्द

जयति जनसुवन्द्यश्चिच्चमत्कारनन्द्यः
शमसुखभरकन्दोऽपास्तकर्मारिवृन्दः ।
निखिलमुनिगरिष्ठः कीर्तिसत्तावरिष्ठः
सकलसुरपपूज्यः श्रीजिनो वासुपूज्यः ॥१॥

अर्थ—जो समस्त मनुष्योंके द्वारा वन्दनीय हैं, चैतन्य-चमत्कारसे समृद्धियुक्त हैं, सहज शान्ति और सुखसमूहके कन्द हैं, कर्मरूप शत्रुओंके समूहको नष्ट करनेवाले हैं, अखिल मुनियोंमें श्रेष्ठतम हैं, कीर्तिके सद्भावसे लोकोत्तम हैं तथा समस्त इन्द्रोंके द्वारा पूज्य हैं, वे वासुपूज्य जिनेन्द्र जयवन्त रहें ॥१॥

स्वागता छन्द

मोहमल्लमदभेदनधीरं कीर्तिमानमुखरीकृतवीरम् ।
धैर्यखड्गविनिपातितमारं तं नमामि वरमल्लिकुमारम् ॥२॥

अर्थ—जो मोहरूपी मल्लका मद भेदन करनेमें धीर हैं, जिन्होंने कीर्तिके मानसे वीरोंको मुखरीकृत किया है—समस्त वीर जिनका सुयश गाते हैं और धैर्यरूपी कृपाणके द्वारा जिन्होंने कामको मार गिराया है उन बालयति मल्लिनाथ भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ ॥२॥

उपजाति छन्द

विज्ञातलोकत्रितयं समन्तादनन्तबोधेन बुधाधिनाथम् ।
तं माननीयं मुनिनाथनेमिं नौमीश्वरं धर्मरथस्य नेमिम् ॥३॥

अर्थ—जिन्होंने अनन्तज्ञानके द्वारा तीनों लोकोंको जान लिया है, जो सर्वत्र विद्वानोंके अधिपति हैं, माननीय हैं तथा धर्मरूपी रथके प्रवर्तक हैं उन मुनिराज नेमिनाथ भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ ॥३॥

इन्द्रवज्रा

येनातिमानः कमठस्य मानो ध्वस्तोऽसमस्थैर्यगुणाणुनैव ।
देहप्रभादीपितपार्श्वदेशं तं पार्श्वनाथं सततं नमामः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिन्होंने कमठके बहुत भारी मानको अपने अनुपम धैर्यरूपी गुणके एक अंशमात्रसे नष्ट कर दिया था तथा जिन्होंने अपनी प्रभासे समीपवर्ती प्रदेशको देदीप्यमान कर दिया था, उन पार्श्वनाथ भगवान्‌को हम सदा नमस्कार करते हैं ॥४॥

उपजाति

यं जन्मकल्याणमहोत्सवेषु सुराः समागत्य सुरेशलोकात् ।
क्षीराब्धिनीरैरधिमेरुशृङ्गं समभ्यसिञ्चन् वरभक्तिभावात् ॥५॥
तं वर्धमानं भुवि वर्धमानं श्रेयःश्रिया ध्वस्तसमस्तमानम् ।
भक्त्या भृतः संमुदितश्च नित्यं नमामि वीरं हतकर्मतानम् ॥६॥

अर्थ—जन्मकल्याणकके महोत्सवोंमें देवोंने स्वर्गलोकसे आकर सुमेरु पर्वतके शिखरपर उत्कृष्ट भक्तिभावसे क्षीरसागरके जलसे जिनका अभिषेक किया था, जो पृथ्वीपर कल्याणकारी लक्ष्मीसे बढ़ रहे हैं, जिन्होंने समस्त मानको नष्ट कर दिया है तथा कर्मसमूहको नष्ट कर दिया है ऐसे भगवान् वर्धमान स्वामीको भक्तिसे परिपूर्ण तथा प्रकृष्ट हर्षसे युक्त हो निरन्तर नमस्कार करता हूँ ॥५-६॥

अब पूर्वाचार्यपरम्पराके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं—

आर्या

कुन्दकुसुमसमकीर्तिं मूर्तिं ह्यध्यात्मतत्त्वविधानाम् ।
बुधवृन्दारकवृन्दैर्वन्द्यं वन्दे च कुन्दकुन्दं तम् ॥ ७ ॥

अनुष्टुप्

उमास्वामिगुरुः शास्त्राम्भोधिमन्थनमन्दरः ।
तत्त्वार्थसूत्रकृद् वन्द्यः केषां नाम न भूतले ॥ ८ ॥

उद्दण्डवादिवेतण्ड-गण्डमण्डलदण्डनः ।
जीयात्समन्तभद्रोऽयं वन्दनीयः सतां सदा ॥ ९ ॥

आर्या

येन सर्वार्थसिद्धी रचिता सर्वार्थसिद्धिदा पुंसाम् ।
जीयाज्जगति स पूज्यः आचार्यः पूज्यपादोऽयम् ॥१०॥
व्यपगतकर्मकलङ्कं सकलं विकलं मदेन शास्त्रज्ञम् ।
कोविदकमलदिवाकरमीडे आचार्यमकलङ्कम् ॥११॥
सुपदा शोभनवर्णा विभाति कान्तेव भारती यस्य ।
तमहं जिनसेनगुरुं महाकवीन्द्रं नमामि सद्भक्त्या ॥१२॥
अमृतोपमा यदीया वाचां धारा बुधेन्द्रसंश्लाघ्या ।
प्रवहति लोके सततं वन्देऽमृतचन्द्रसूरिं तम् ॥१३॥
अपहृतबुधजनतन्द्रं व्यपगतनिद्रं परोपहितदक्षम् ।
प्रणमामि नेमिचन्द्रं चन्द्रं शास्त्राम्बुधेः पूर्णम् ॥१४॥

अनुष्टुप्

यस्य लोके लसत्कीर्त्या पूर्णचन्द्रोऽपि लज्जितः ।
जयाताच्छुभचन्द्रोऽयं चिरं चारुगुणालयः ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनकी कीर्ति कुन्दकुसुमके समान उज्ज्वल है, जो अध्यात्मतत्त्व सम्बन्धी विद्याओंकी मूर्ति हैं और बड़े-बड़े विद्वानोंके समूह जिन्हें वन्दना करते हैं उन कुन्दकुन्दाचार्यको मैं नमस्कार करता हूँ ॥७॥ जो शास्त्ररूपी समुद्रका मन्थन करनेके लिये मन्दराचल हैं तथा तत्त्वार्थसूत्रकी जिन्होंने रचना की है ऐसे उमास्वामी गुरु पृथ्वीतलपर किनके वन्दनीय नहीं हैं ॥८॥ जो उद्दण्डवादीरूप हाथियोंके गण्डस्थलको दण्डित करनेवाले हैं तथा सत्पुरुषोंके सदा वन्दना करनेके योग्य हैं वे समन्तभद्राचार्य सदा जयवन्त रहें ॥९॥ जिन्होंने मनुष्योंके समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धि करने वाली सर्वार्थसिद्धि—तत्त्वार्थसूत्रकी टीका रची है तथा जगत्में जो सबके पूज्य हैं वे पूज्यपाद महान् आचार्य जयवन्त रहें ॥१०॥ जिन्होंने कर्मरूपी कलङ्कको दूर किया है, जो अनेक कलाओंसे सहित हैं, गर्वसे रहित हैं। शास्त्रके ज्ञाता हैं तथा विद्वज्जनरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिये सूर्य हैं उन आचार्य अकलङ्कदेवकी मैं स्तुति करता हूँ ॥११॥ जिनकी वाणी कान्ताके समान सुपदा—अच्छे पदोंसे सहित (कान्तापक्षमें सुन्दर चरणोंसे सहित) और सुवर्णा—उत्तम अक्षरोंसे युक्त (कान्ता पक्षमें सुन्दर रूपसे युक्त) सुशोभित है उन महाकवीन्द्र जिनसेन गुरुको मैं उत्तम भक्तिसे

नमस्कार करता हूँ ।।१२।। बड़े-बड़े विद्वानोंके द्वारा प्रशंसनीय जिनकी अमृततुल्य वचनधारा लोकमें निरन्तर बहती रहती है उन अमृतचन्द्र सूरिको मैं नमस्कार करता हूँ ।।१३।। जिन विद्वज्जनोंकी तन्द्राको नष्ट कर दिया है, जिनकी स्वयंकी निद्रा—प्रमाददशा नष्ट हो गई है, जो परोपकार-में निपुण हैं तथा शास्त्ररूपी समुद्रको वृद्धिङ्गत करनेके लिये पूर्ण चन्द्रमा हैं उन नेमिचन्द्र आचार्यको मैं प्रणाम करता हूँ ।।१४।। लोकमें जिनकी शोभायमान कीर्तिसे पूर्ण चन्द्रमा भी लज्जित हो जाता है उत्तम गुणोंके गृहस्वरूप वे शुभचन्द्राचार्य चिरकाल तक जयवन्त रहें ।।१५।।

आगे ग्रन्थकर्ता अपने वर्तमान धर्मविद्यागुरुओंका स्तवन करते हैं—

उपजाति

येषां कृपाकोमलदृष्टिपातैः सुपुष्पिताभून्मम सूक्तिवल्ली ।
तान्प्रार्थये वर्णिगणेशपादान् फलोदयं तत्र नतेन मूर्ध्ना ।।१६।।
यस्यार्जवोऽसौ सततं मनो मे धिनोति शिष्यैरुपसेव्यमानम् ।
नमाम्यहं धर्मगुरुं सुभक्त्या दयासुधाद्रीर्धितमालिनं तम् ।।१७।।

अर्थ—जिनके कृपाकोमलदृष्टिपातसे मेरी सूक्तिरूपी लता सुपुष्पित हुई है उन वर्णी गणेशके चरणोंमें मैं उस लता पर नम्रीभूत मस्तकसे फलोदयकी प्रार्थना करता हूं ।।१६।। जिनकी सरलता सदा मेरे मनको संतुष्ट करती रहती है तथा जो अनेक शिष्योंके द्वारा सेवनीय हैं उन धर्मगुरु श्रीदयाचन्द्रको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं ।।१७।।

आगे ग्रन्थकर्ता ग्रंथ करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

शार्दूल विक्रीडित

पूर्वाचार्यपरम्परामनुगतः सन्मार्गनिर्देशनीं
शास्त्रागारविशत्प्रमुग्धजनतासंक्लेशतापापहम् ।
सम्यक्त्वाभिधरत्नरश्मिविमलालोकेन संशोभितं
वक्ष्ये ग्रन्थमपश्चिमं लघुमिमं सम्यक्त्वचिन्तामणिम् ।।१८।।

वसन्ततिलका

ईशाङ्घ्रिपङ्कजयुगं हतपापपुञ्जं
मञ्जुप्रभं प्रचुरभक्तिभरेण नत्वा ।
अज्ञानगाढतमसा हृतनेत्रजाल—
बालप्रबोधविधये विदधामि यत्नम् ।।१९।।

अर्थ—सन्मार्गका निर्देश करनेवाली पूर्वाचार्योंकी परम्पराका अनुसरण करता हुआ मैं शास्त्ररूपी गृहमें प्रवेश करनेवाली प्रमुग्ध जनताके संक्लेशजन्य तापको हरनेवाले तथा सम्यक्त्व नामक रत्नकी किरणोंके निर्मल प्रकाशसे सुशोभित इस सम्यक्त्वचिन्तामणि नामके लघुकाय किन्तु श्रेष्ठ ग्रन्थको कहूँगा ॥१८॥ पापपुञ्जको नष्ट करनेवाले श्री जिनेन्द्र भगवान्के सुन्दर चरणकमल-युगलको बहुत भारी भक्तिसे नमस्कार कर अज्ञानरूपी गाढ अन्धकारसे दृष्टिहीन बालकोंके प्रबोधके लिये प्रयत्न करता हूँ ॥१९॥

अनुष्टुप्

अथातः संप्रवक्ष्यामि सम्यग्दर्शनमल्पशः ।
संसारसिन्धुमग्नानां पोतपात्रमनुत्तमम् ॥ २० ॥
तत्र सद्दर्शनाभावे भुञ्जानो दुःखसन्ततिम् ।
वर्ण्यते पुरुषः पूर्वं श्लोकैर्भव्यतमाक्षरैः ॥ २१ ॥

अर्थ—अब आगे उस सम्यग्दर्शनका संक्षेपमें कथन करूँगा, जो संसार-सागरमें निमग्न जीवोंके लिये उत्तम जहाजके समान है ॥२०॥ इस संदर्भमें सबसे पहले सम्यग्दर्शनके अभावमे दुःखसमूहको भोगनेवाले पुरुष (आत्मा) का उत्तम अक्षरावलीसे युक्त श्लोकोंके द्वारा निरूपण किया जाता है ॥२१॥

आगे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके पहले इस जीवकी कैसी परिणति होती है, यह कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु और कुधर्मकी सेवा करता है, इसलिये कुदेवादिकका वर्णन भी यहां प्रसङ्गवश किया जाता है—

अनादिबद्धमिथ्यात्वगाढध्वान्तापलोचनः ।
हिताहितानभिज्ञोऽयं शाठ्योपहतमानसः ॥ २२ ॥
रागद्वेषादिदोषाणां संघेन परिसंस्कृतम् ।
गदाद्यायुधशुम्भन्तं मामिनीहृतमानसम् ॥ २३ ॥
अविद्यायाः कुलागारं मायामोहनिकेतनम् ।
कदम्बकं कुदेवानामयमर्चति जातुचित् ॥ २४ ॥
पूर्वापरविरोधेन पूरितोदरसंभृतम् ।
हिंसादिपापपुञ्जानामसाधारणदेशनम् ॥ २५ ॥
अबोधोपहतस्वान्तैर्मोहाद्दूषितमानसैः ।
प्राकृतैर्जातनिर्माणं मिथ्याशास्त्रकदम्बकम् ॥२६ ॥

सादरं वन्दते नित्यं हितलाभमनीषया ।
तदप्राप्त्या भृशं भूयः क्लेशमाप्नोति सन्ततम् ॥२७॥
मिथ्यातपश्चमत्कारैर्मुग्धमर्त्यविमोहितम् ।
हिंसासंकेतसदनं कामकेलिकुलालयम् ॥२८॥
नैकदुःखतरङ्गाणामाश्रये भवसागरे ।
तितीर्षूणां नृणां नूनं पाषाणमयपोतकम् ॥२९॥
अभिमानमहीकान्तं दीर्घसंसारसंसृतिम् ।
संघं तापसधूर्तानां मुक्तिहेतुं च मन्यते ॥३०॥
संसारेऽवारपारेऽस्मिन्मज्जन्त्या जनताततेः ।
दृढं हस्तावलम्बं त सद्धर्मं प्रविहाय हा ॥३१॥
हिंसास्तेयाश्रयं नूनं पातालपुरपद्धतिम् ।
शिवद्वारार्गलं धर्मं दुःखिनां दुःखदायकम् ॥३२॥
श्रद्धधाति सदा कामं कामिताभृतमानसः ।
इष्टानिष्टपदार्थेषु तोषं रोषं च गच्छति ॥३३॥

अर्थ—अनादि कालसे बँधे हुए मिथ्यात्वरूपी सघन अन्धकारसे जो दृष्टिहीन हो रहा है, हित और अहितसे अनभिज्ञ है तथा शठता—अज्ञान दशासे जिसका मन आघातको प्राप्त हो रहा है ऐसा यह मिथ्यादृष्टि जीव कभी उन कुदेवों—मिथ्या देवोंके समूहको पूजता है, जो रागद्वेषादि दोषोंके समूहसे सहित है, गदा आदि शस्त्रोंसे सुशोभित हैं, स्त्रियोंके द्वारा जिनका मन हरा गया है, जो अविद्या—अज्ञानके कुलभवन हैं और माया तथा मोहके घर हैं ॥२२-२४॥

कभी मिथ्याशास्त्रोंके उस समूहकी हितबुद्धिसे बड़े आदरके साथ वन्दना करता है और हितकी प्राप्ति नहीं होनेसे अत्यधिक क्लेशको प्राप्त होता है, जो पूर्वापर विरोधसे भरा हुआ है, हिंसादि पांच पापोंका असाधारण उपदेश देता है, तथा अज्ञानी और मोहसे दूषित हृदयवाले साधारण मनुष्योंके द्वारा जिसकी रचना हुई है ॥२५-२६॥

कभी धूर्त तापसोंके उस समूहको मुक्तिका हेतु मानता है जो मिथ्या तपके चमत्कारोंसे भोले-भाले मनुष्योंको विमोहित करने वाला है, हिंसाका संकेत-गृह है, कामक्रीडाओंका कुलभवन है, अनेक दुःखरूपी तरङ्गोंके

अधारभूत संसार-सागरमें पार होनेके इच्छुक मनुष्योंके लिये जो मानों पत्थरकी नाव है, अभिमानका स्वामी है तथा जिसका संसार-भ्रमण लम्बा है ॥२७-२९॥

कभी इच्छाओंसे परिपूर्ण हृदय होता हुआ इस संसार-सागरमें डूबते हुए जनसमूहको सुदृढ़ हस्तावलम्बन स्वरूप समीचीन धर्मको छोड़कर उस धर्मकी सदा इच्छानुसार श्रद्धा करता है और इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेष करता है, जो हिंसा और चोरीको आश्रय देनेवाला है, मानों पातालपुरी—नरकका मार्ग है, मोक्षके द्वारपर लगा हुआ आगल है और दुःखी मनुष्योंको दुःख देनेवाला है ॥३०-३३॥

आगे मिथ्यादृष्टि जीवकी अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणतिका वर्णन करते हैं—

सचैतन्यचमत्कारं जीवतत्त्वममूर्तिमत् ।
न बुबुध्वा हन्त देहं वै जीवत्वेन प्रमन्यते ॥३४॥
ततश्चेमं कृशं स्थूलं जीर्णं शीर्णं च दुर्बलम् ।
बलाढ्यं च हतं जातं निजं मत्वा तथैव हा ॥३५॥
क्षणमाक्रन्दमाप्नोति क्षणं च हसति क्वचित् ।
क्षणं रोरुद्यमानोऽयं क्षणं किञ्चित्प्रजल्पति ॥३६॥
आत्मानं नित्यमश्रान्तमजीर्णमपुरातनम् ।
अकर्तारमभोक्तारं श्रद्धाति न जातुचित् ॥३७॥
शरीराश्रितसम्बन्धं पुत्रं मित्रं सहोदरम् ।
भगिनीं गेहिनीं किञ्च पितरं मातरं तथा ॥३८॥
पितृव्यं तस्य पुत्रं च मातामहपितामहौ ।
भ्रातृस्त्रीं मातुलानीं च मातुलं भगिनीपतिम् ॥३९॥
भागिनेयं महाभाग्यं भागिनेयीं च सत्कृताम् ।
श्वसुरं च तथा श्वश्रूं श्यालं श्यालस्य मानिनीम् ॥४०॥
श्यालपुत्रं निजं पौत्रं दौहित्रं मित्रमण्डलम् ।
सर्वं स्वात्मभवं हन्त मन्यते हतमानसः ॥४१॥
एतेषां हि कृते नित्यं क्लेशमाप्नोति विस्तृतम् ।
बहुनालं क्वचित्प्राणान् त्यक्तुमिच्छति कामितान् ॥४२॥

एतानात्मानुकूलांस्तान् कर्तुमिच्छुस्तदा तदा ।
तादृशान्न च दृष्ट्वाथो भृशं क्रोधाद् विताम्यति ॥४३॥

अर्थ—खेद है कि मिथ्यादृष्टि जीव चैतन्यचमत्कारसे सहित अमूर्तिक जीवतत्त्वको न जानकर शरीरको ही जीवरूप मानता है ॥३४॥ तदनन्तर इस शरीरको कृश, स्थूल, जीर्ण, शीर्ण, दुर्बल, बलवान्, मृत और उत्पन्न जानकर अपने आपको वैसा ही मानता है ॥३५॥ और उसके फलस्वरूप किसी क्षण रोने लगता है, किसी क्षण हँसने लगता है, किसी क्षण रोता हुआ कुछ प्रलाप करने लगता है ॥३६॥ आत्मा नित्य, भ्रान्तिरहित, अजीर्ण, अपुरातन, अकर्त्ता और अभोक्ता है ऐसी श्रद्धा कभी नहीं करता ॥३७॥ जिनका सम्बन्ध शरीरके आश्रित है ऐसे पुत्र, मित्र, भाई, बहिन, स्त्री, माता, चाचा, चाचाका पुत्र, नाना, बाबा, भाभी, मामी, मामा, बहिनोई, भाग्यशाली भानेज, सुसंस्कृत भानेजन, श्वसुर, सासू, साला, सालेकी स्त्री, सालेका पुत्र, पौत्र, धेवता तथा मित्रसमूह इन सबको अपने आत्मासे उत्पन्न मानता है और निर्विचार होकर दुःखी रहता है ॥३८-४१॥ इन सबके लिये निरन्तर बहुत भारी क्लेशको प्राप्त होता है। अधिक क्या कहा जाय, अपने प्रिय प्राणोंका भी परित्याग करना चाहता है। मिथ्यादृष्टि जीव इन सबको अपने अनुकूल करना चाहता है परन्तु विभिन्न अवसरोंमें जब अपने अनुकूल नहीं देखता है तब क्रोधसे अत्यन्त दुःखी होता है ॥४२-४३॥

आगे मिथ्यादृष्टिकी और भी मान्यताओंका वर्णन करते हैं—

सर्वेषां हि पदार्थानां परिणामो नियतो भवेत् ।
आत्माधीनं न किञ्चित् स्यादिति हन्त न मन्यते ॥४४॥
रागादयो विभावा ये स्वात्मन्येव भवन्ति हि ।
ज्ञात्वा तान् सर्वथा भिन्नान् स्वच्छन्दं विचरत्यसौ ॥४५॥
कदाचिन्नूनमात्मानं मत्वा सिद्धं च निर्मलम् ।
मुक्त्यर्थं न प्रयत्नेन चेष्टतेऽयं व्रतच्युतः ॥४६॥
तपसां संप्रयोगेणानुष्ठानादिविधानतः ।
कदाचित्स्वर्गितां प्राप्य नित्यं तत्रापि ताम्यति ॥४७॥
दुःखरोधस्य निर्दोष-कारणं मोहरोधनम् ।
हन्त हन्त न कुत्रापि श्रद्दधाति कदाचन ॥४८॥

अर्थ—समस्त पदार्थोंका परिणमन उनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार नियत है, अपने अधीन कुछ नहीं है, खेद है कि वह ऐसा नहीं मानता ॥४४॥ जो रागादिक विभाव भाव अपनी आत्मामें ही उत्पन्न होते हैं उन्हें वह सर्वथा आत्मासे भिन्न मानकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है॥४५॥ कभी निश्चयसे अपने आपको सिद्ध परमेष्ठीके समान निर्मल मानकर मुक्तिके लिये पुरुषार्थपूर्वक चेष्टा नहीं करता है, किन्तु व्रतसे च्युत हो जाता है ॥४६॥ तपोंके योगसे और व्रत अनुष्ठान आदिसे यदि कभी देव पर्यायको प्राप्त होता है तो वहाँ भी निरन्तर दुःखी रहता है ॥४७॥ दुःख दूर करनेका निर्दोष कारण मोहका रोकना है परन्तु अत्यन्त खेद है कि मिथ्यादृष्टि इसकी कभी और कहीं भी श्रद्धा नहीं करता है ॥४८॥

आगे अजीवतत्त्वके विषयमें मिथ्यादृष्टिकी कैसी परिणति होती है, इसका वर्णन करते हैं—

चेतनालक्षणाद् भिन्नादजीवाद् गतचेतनात् ।
आत्मानं भिन्नमत्यन्तं मन्यते नैव जातुचित् ॥ ४९ ॥
सर्वेषां खलु चैतेषां परिणामं कर्तुमिच्छति ।
आत्माधीनं न तद् दृष्ट्वा पूत्करोति निरन्तरम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जो चैतन्यलक्षणवाले जीवसे भिन्न है तथा स्वयं अचेतन है ऐसे अजीवसे आत्मा अत्यन्त भिन्न कभी नहीं मानता है ॥४९॥ इन सबके परिणमनको वह अपने अधीन करना चाहता है पर जब अपने अधीन नहीं देखता है तब निरन्तर रोता है—दुःखी होता है ॥५०॥

अब आस्रवतत्त्व विषयक विपरीत मान्यताका कथन करते हैं—

आस्रवसंज्ञितं तत्त्वं काययोगादिभेदितम् ।
उपादेयं विजानाति दीर्घसंसारविभ्रमः ॥ ५१ ॥
हिंसास्तेयमृषावाक्याब्रह्मवित्तादिसंज्ञितम् ।
मोदते सततं मोहात्कुर्वाणः पापपञ्चकम् ॥ ५२ ॥
देवपूजाव्रतादानप्रमुखं शुभसंज्ञितम् ।
आस्रवं सर्वथा ग्राह्यं बुद्ध्वा स्वर्गेषु सीदति ॥ ५३ ॥
कर्मणां दुर्विपाकेन जातं दुःखाग्निकारणम् ।
द्वेष्टि हन्त न तन्मूलमास्रवं बन्धकारणम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिसका संसार-परिभ्रमण दीर्घ है ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव काययोगादिके भेदसे युक्त आस्रवतत्त्वको उपादेय जानता है ॥५१॥ मोह-वश हिंसा, चोरी, असत्य वचन, कुशील तथा परिग्रह इन पाँच पापोंको करता हुआ निरन्तर हर्षको प्राप्त होता है ॥५२॥ देवपूजा तथा व्रतग्रहण आदि शुभास्रवको सर्वथा ग्राह्य मानकर स्वर्गको प्राप्त होता है तथा वहां सांसारिक सुखमें निमग्न हो दुःखी होता है ॥५३॥ कर्मोंके दुर्विपाकसे यदि दुःखरूप अग्निके कारण उपस्थित होते हैं तो यह जीव उनसे द्वेष करता है परन्तु उस दुःखका मूल हेतु बन्धका कारण जो आस्रवभाव है उससे द्वेष नहीं करता ॥५४॥

आगे बन्धतत्त्वका यथार्थ ज्ञान न होनेसे मिथ्यादृष्टि जीव दुःखी होता है, यह कहते हैं—

इष्टानिष्टपदार्थेषु　पुरा　रागादिकल्पनात् ।
आत्मनैव कृतं कर्म दुःखदं यद् बहुविधम् ॥ ५५ ॥
उदये तस्य मोहेनेतरद् दुःखस्य कारणम् ।
ज्ञात्वा तत्प्रतीकाराभावे बह्वथ ताम्यति ॥ ५६ ॥

अर्थ—इष्टानिष्ट पदार्थोंमें रागादि भावोंके करनेसे इस जीवने पहले जो दुःखदायक नाना प्रकारके कर्म किये थे उन्हींका उदय होनेपर दुःखका कारण उपस्थित होता है। परन्तु यह जीव दुःखका मूल कारण न जानकर अज्ञानवश दूसरेको दुःखका कारण मानकर उसका प्रतिकार करता है और जब प्रतीकारमें सफल नहीं होता है तब बहुत दुःखी होता है। तात्पर्य यह है कि दुःखका मूलकारण बन्धतत्त्व है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव अन्य किसी दूसरे पदार्थको दुःखका कारण मानकर उससे द्वेष करता है ॥५५-५६॥

आगे संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वकी भी यथार्थ रुचि न होनेसे मिथ्यादृष्टि जीव दुःखी होता है, यह कहते हैं—

आगच्छत्कर्मदुर्वैरिद्वाररोधविधायकम् ।
संवरं शंकरं नाम मनसापि न बुध्यते ॥ ५७ ॥
कर्मणां निर्जरां नैव कृत्वा सौख्यमभीप्सति ।
अहो वह्निमनाशाम्य शीतत्वमभिकाङ्क्षति ॥ ५८ ॥
भृतं सौख्यसुधासारैर्नित्यं चैतन्यशालिनम् ।
अपवर्गं न विज्ञाय संसारे बहु सीदति ॥ ५९ ॥

अर्थ—आते हुए कर्मरूपी दुष्ट शत्रुओंके द्वारको रोकनेवाले सुखदायक संवर तत्त्वका यह मनसे भी कभी विचार नहीं करता है ॥५७॥ कर्मोंकी निर्जरा किये बिना ही यह जीव सुखकी इच्छा करता है। अहो, आश्चर्य है कि यह अग्निको बुझाये बिना ही शीतलताकी इच्छा करता है ॥५८॥ सुखरूपी अमृतके सारसे निरन्तर भरे हुए, चैतन्यगुणसे सुशोभित मोक्ष तत्त्वको न जानकर यह जीव संसारमें बहुत दुःखी होता है ॥५९॥

आगे मिथ्यात्वके कारण यह जीव नरकादि चारों गतियोंमें दुःख उठाता है, यह कहते हुए सर्वप्रथम नरकगतिके दुःखोंका संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

कदाचिन्नारकागारे ताडनं पीडनं तथा।
तर्जनं भर्त्सनं चैव दात्रवृन्दैश्च कर्तनम् ॥ ६० ॥
विकृतश्वापदादीनां तिग्मदन्तमुखैर्नखैः।
दंशनं स्फोटनं भूयः पुटपाकाग्निपातनम् ॥ ६१ ॥
शाल्मल्यारोहणं तीव्रज्वालाजालाभिदाहनम्।
वैतरणीवगाहं पुत्तलिका प्रतिलिङ्गनम् ॥ ६२ ॥
तप्तायोरसपानं च शैत्यं तीव्रं च निस्तुलम्।
औष्ण्यं वसुन्धराजातमसुरैः कारितं तथा ॥ ६३ ॥
क्षुधाबाधासमुत्पन्नमुदन्याजन्यतापनम् ।
तोमरासिगदाप्रासभिण्डिपालशिलायुधैः ॥ ६४ ॥
मुद्गरैर्भेदनं किञ्च रसपाकं चिरन्तनम्।
दुःखजातमहो भुक्त्वा भृशं हन्त विषीदति ॥ ६५ ॥

अर्थ—कदाचित् यह जीव नरकगतिमें जाता है तो वहाँ ताडन, पीडन, तर्जन, तिरस्कार, शस्त्रोंके द्वारा काटा जाना, विक्रियासे निर्मित हिंसक जीवोंके तीक्ष्ण दांत, मुख और नखोंके द्वारा काटा जाना, फाड़ा जाना, पुटपाक, अग्निमें गिराया जाना, सेमरके वृक्षपर चढ़ाया जाना, ज्वालाओंके समूहमें जलाया जाना, वैतरणीमें प्रवेश कराना, पुतलियोंका आलिङ्गन, संतप्त लोहके रसका पिलाया जाना, बेजोड़ ठण्डका दुःख, गर्मीका दुःख, पृथिवीके स्पर्शसे होनेवाला दुःख, असुरकुमार देवोंके द्वारा कराया हुआ दुःख, भूख और प्याससे उत्पन्न दुःख, तोमर, तलवार, गदा, भाला, भिण्डिपाल नामक तीक्ष्ण शस्त्र तथा मुद्गरोंसे भेदा जाना और

चिरकालतक रसमें पकाया जाना आदिके बहुत भारी दुःखोंको भोगकर दुःखी होता है ॥६०-६५॥

आगे तिर्यञ्चगतिमें भी दुःख उठाता है, यह कहते हैं—

मध्ये जातु निगोदस्योत्पद्यते म्रियते क्षणम् ।
भूजलानलवातद्रुकायिकेषु पुनः पुनः ॥ ६६ ॥
छेदनं भेदनं किञ्च म्रोडनं ताडनं तथा ।
खननं रोधनं हन्त हन्त बाधासहस्रकम् ॥ ६७ ॥
प्रतीकारापरत्वेन विपाकं कर्मणां सदा ।
भुङ्क्ते संसारपाथोधिनिमग्नोऽयं निरन्तरम् ॥ ६८ ॥
ततो भाग्यवशाल्लब्ध्वा विकलेषु समुद्भवम् ।
क्षुत्पिपासाविदीर्णोऽयं नानादुःखमुपाश्नुते ॥ ६९ ॥
काकतालीयवत्प्राप्य सकलेन्द्रियतां ततः ।
उत्पद्य क्रूरजीवेषु हन्ति निर्बलजन्तुकान् ॥ ७० ॥
कदाचिद् भारवाहित्वं ताडनं पीडनं तथा ।
अन्नपाननिरोधं च हिमानीं वर्ष्मशातिनीम् ॥ ७१ ॥
औष्ण्यं वर्षाप्रयोगं च दुष्टदंशाभिदंशनम् ।
अङ्गच्छेदमुपाङ्गानां भेदनं म्रोडनं तथा ॥ ७२ ॥
कामबाधां रुजाबाधां तप्तायःपरितापनम् ।
भुञ्जानोऽयं चिरं नामानारतं हन्त सीदति ॥ ७३ ॥

अर्थ—यदि कभी निगोद पर्यायमें उत्पन्न होता है तो वहाँ क्षण-क्षणमें जन्म-मरण करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिकोंमें उत्पन्न होकर बार-बार छेदा जाना, भेदा जाना, मोड़ा जाना, ताडित होना, खोदा जाना और रोका जाना आदिके हजारों दुःखोंको उठाता है। अत्यन्त खेदकी बात है कि यह जीव कर्मोंका प्रतिकार करनेमें असमर्थ हो निरन्तर उनके विपाकको भोगता है तथा संसाररूपी समुद्रमें निरन्तर निमग्न रहता है। यदि भाग्यवश उस एकेन्द्रिय पर्यायसे निकलकर विकलत्रय जीवोंमें जन्मको प्राप्त होता है तो वहाँ भी भूख-प्यासके दुःखसे विदीर्ण हुआ नाना दुःखोंको प्राप्त होता है। यदि काकतालीय न्यायसे कदाचित् सकलेन्द्रिय—पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें जन्म लेता है तो वहाँ सिंहादिक

क्रूर जीवोंमें उत्पन्न होकर निर्बल जीवोंका घात करता है। उस पञ्चेन्द्रिय पर्यायमें कभी भार ढोना, ताड़ा जाना, पीटा जाना, अन्न-पानका रोका जाना, शरीरको कष्ट पहुंचानेवाली ठण्ड, गर्मी, वर्षा, दुष्ट डांश-मच्छरों के द्वारा काटा जाना, अङ्गच्छेद, उपांगोंका भेदा जाना, मोड़ा जाना, कामबाधा, रोगबाधा और तपाये हुए लोहेके द्वारा तप्त होना आदिके दुःखोंको चिरकालतक भोगता हुआ यह दुःखी होता है ।।६६-७३।।

आगे मनुष्यगतिमें किस प्रकारके दुःख उठाता है, यह कहते हैं—

कदाचिद्भागधेयेन महता केनचित्पुनः ।
मानुष्या उदरे नानामलमूत्रादिसंभृते ।। ७४ ।।
सादृश्यं कृमिजातस्य लब्ध्वायं वसति ध्रुवम् ।
अङ्गरोधं क्षुधाग्याधिमुदन्योपद्रवं च तम् ।। ७५ ।।
जननीभुक्तभक्ष्यस्य भक्षणं च करोत्यसौ ।
ततः प्रसूतिवेलायां दुःखभारैर्निपीड्यते ।। ७६ ।।
हीनशक्तितया बाल्ये पानेऽन्नेऽम्बरधारणे ।
सर्वथा परतन्त्रत्वाद्दुःखभारं भरत्यसौ ।। ७७ ।।
पुराकृताघपाकेन मातापित्रोर्वियोजनात् ।
गतबन्धुजनो भूत्वा भृशं दुःखमुपैत्ययम् ।। ७८ ।।
नीचगोत्राभिजातत्वात्परसेवाविधानतः ।
खिन्नो भ्रमति भूभागे श्रुतमर्मघ्नवाक्ततिः ।। ७९ ।।
जात्वनुत्पन्नपुत्रत्वाज्जातु जातविनाशतः ।
जातु पापप्रवृत्तत्वात्पुत्रस्यातिविषीदति ।। ८० ।।
कदाचिद्धननाशेन कदाचिद्धनरक्षणात् ।
अमन्दं खेदमाप्नोति कदाचिच्च तदर्जनात् ।। ८१ ।।
जातु निर्धनवेलायां बहुसन्ततिजन्मतः ।
तेषां रक्षणसामग्र्यभावतो बहु खिद्यते ।। ८२ ।।
कदाचिद्भामिनीवेषे नूनं नाथवियोगतः ।
शाखिशाखापरिभ्रष्टा यथा वल्ली न शोभते ।। ८३ ।।

जातुचित्क्लीबको भूत्वा सततं कामबाधया ।
अशक्तत्वात्क्रियापूर्तावधिकाधिमुपाश्नुते ॥ ८४ ॥
जराजीर्णशरीरत्वाद् वार्धक्ये ह्यनिवारिते ।
शक्तेर्विरलभावत्वादिच्छायाश्च विवर्धनात् ॥ ८५ ॥
पुत्रपौत्रप्रपौत्राणां स्वाशयाननुवर्तनात् ।
श्रमोपार्जितवित्तस्य व्यर्थव्ययविधानतः ॥ ८६ ॥
किं बहुना ततस्तीव्र-कषायस्य विवर्तनैः ।
नित्यं खेदमवाप्नोति मानवो गतदर्शनः ॥ ८७ ॥

अर्थ—कभी किसी बड़े भाग्यसे नाना प्रकारके मलमूत्रादिसे भरे हुए मानुषीके उदरमें कृमिकुलकी सदृशताको प्राप्तकर निश्चयसे निवास करता है। वहाँ अङ्गोंका संकोच, भूखका दुःख और प्यासका उपद्रव भोगता है। माताके द्वारा खाये हुए भोजनका भक्षण करता है। पश्चात् प्रसूतिके समय दुःखसमूहसे अत्यधिक पीडित होता है ॥७४-७६॥

यह जीव बाल्यावस्थामें हीनशक्ति होनेसे, खाने, पीने तथा वस्त्र धारण करनेमें परतन्त्र होनेसे दुःखके भारको भरता है ॥७७॥ पूर्वकृत पापकर्मके उदयसे यदि माता-पिताका वियोग हो जाता है तो बहुत दुःख-को प्राप्त होता है ॥७८॥ यदि कभी नीचगोत्रमें उत्पन्न हुआ तो दूसरोंकी सेवा करनेसे खिन्न रहता है और मर्मघाती-तिरस्कारके वचन सुनता हुआ पृथ्वीपर भ्रमण करता है ॥७९॥ कभी पुत्रके न होनेसे, कभी पुत्रके मर जानेसे और कभी पुत्रके कुपथगामी होनेसे दुःखी होता है ॥८०॥ कभी धनके नाशसे, कभी धनकी रक्षासे और कभी धनके उपार्जनसे बहुत भारी खेदको प्राप्त होता है ॥८१॥

कभी निर्धन अवस्थामें बहुत सन्तानोंका जन्म हो गया और उनके संरक्षण-संवर्धनके साधन नहीं हुए तो बहुत खिन्न होता है ॥८२॥ कभी स्त्रीपर्यायमें उत्पन्न हुआ और वहाँ पतिका वियोग हो गया तो वृक्षसे गिरी हुई लताके समान सुशोभित नहीं होता है ॥८३॥ कभी नपुंसक हुआ तो क्रियाकी पूर्तिमें अशक्त होनेसे कामबाधाके द्वारा अत्यधिक मानसिक पीड़ाको प्राप्त होता है ॥८४॥ जब अनिवार्य बुढ़ापा आता है तब वृद्धा-वस्थाके कारण शरीर जीर्ण हो जाता है, शक्तिका ह्रास हो जाता है, इच्छाएं बढ़ने लगती हैं, पुत्र पौत्र और प्रपौत्र अपनी इच्छाके अनुसार नहीं चलते हैं, बड़े श्रमसे उपार्जित धनका अपव्यय करते हैं तब अधिक क्या

कहा जाय, तीव्रकषायकी प्रवृत्तिसे यह मिथ्यादृष्टि जीव नित्य ही खेदको प्राप्त होता है ॥८५-८७॥

आगे यह मिथ्यादृष्टि जीव देवगतिमें किस प्रकारके दुःख उठाता है, यह कहते हैं—

अथ मन्दकषायेण कदाचिद् भवनामरे ।
व्यन्तरे ज्योतिषे वापि देवत्वेन विराजते ॥ ८८ ॥
तत्रापि नाम भोगानां मध्ये मग्नतया सदा ।
जातदुष्कर्मबन्धेन सततं हन्त सीदति ॥ ८९ ॥
इच्छाया बहुलीभावादिष्टानाञ्च समासतः ।
चिरं खेदमवाप्नोति दीव्यद्देवीभिरञ्चितः ॥ ९० ॥
ततो निर्गत्य लोकेऽस्मिन् तिर्यक्नामनि सर्वतः ।
चिरं बंभ्रम्यमाणोऽयं दुःखराशिमुपाश्नुते ॥ ९१ ॥
अथापि भागधेयस्य महतः खलु योगतः ।
वैमानिकेषु देवत्वं लब्ध्वा दुःखं व्रजत्यसौ ॥ ९२ ॥
तत्रेतरेषां देवानामतिवृद्धर्द्धिदर्शनात् ।
अभ्यसूयावशान्नित्यं सुदुःखी भवति ध्रुवम् ॥ ९३ ॥
आयुरन्ते च मालाया राजन्त्या धमनीधमे ।
म्लानत्वाद् दुःखजालेन भाविभोगाभिकाङ्क्षया ॥९४॥
आकुलाकुलचित्तत्वाद् बद्धदुष्कर्मसंचयः ।
एकाक्षेषु समुत्पन्नानन्तदुःखमुपाश्नुते ॥ ९५ ॥

अर्थ—यदि कदाचित् मन्दकषायसे भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष्क देवोंमें देवत्व पदसे सुशोभित होता है अर्थात् उत्पन्न होता है तो वहाँ भी निरन्तर भोगोंमें निमग्न रहनेसे सदा दुष्कर्मोंका बन्ध होते रहनेके कारण दुःखी होता है। यद्यपि वहाँ क्रीड़ा करती हुई देवियोंसे सहित होता है तथापि इच्छाओंकी बहुलता और इष्ट पदार्थोंकी अल्पता होनेसे चिरकाल तक खेदको प्राप्त होता रहता है। वहाँसे निकलकर इस मध्यम लोकमें परिभ्रमण करता हुआ दुःखसमूहको प्राप्त होता है ॥८८-९१॥

यदि किसी महान् भाग्यके उदयसे वैमानिक देवोंमें भी उत्पन्न होता है तो वहाँ भी दुःखको प्राप्त होता है। वहाँ दूसरे देवोंकी बड़ी-बड़ी

ऋद्धियों—विभूतियोंको देखकर ईर्ष्यावश निरन्तर दुःखी होता है। आयुके अन्तमें जब कण्ठमें सुशोभित रहनेवाली माला म्लान हो जाती है तब अत्यन्त दुःखी होता है और आगामी भोगोंकी इच्छासे अत्यन्त व्याकुल होकर खोटे कर्मसमूहका बन्ध करता है तथा उसके फलस्वरूप एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होकर अनन्त दुःखको प्राप्त होता है। **भावार्थ**—आर्तध्यानके कारण दूसरे स्वर्ग तकके देव एकेन्द्रियोंमें जन्म ले सकते हैं और बारहवें स्वर्ग तकके देव पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हो सकते हैं ॥९२-९५॥

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवके चतुर्गति सम्बन्धी दुःखोंका वर्णन कर उसकी सामान्य प्रवृत्तिका वर्णन करते हैं—

एव द्रव्यं च क्षेत्रं च कालभावौ भवं तथा ।
आजवंजवमध्येऽस्मिन् परिवर्तनपञ्चकम् ॥ ९६ ॥
कुर्वतोऽनन्तकालेन निजाप्राप्त्या ह्यनारतम् ।
उन्मत्तस्येव मूढस्येवोत्कीर्णस्येव केनचित् ॥ ९७ ॥
आहृतस्येव चौरेणाविष्टस्येव दैत्यतः ।
चित्रितस्येव दीर्णस्येव स्खलितस्येव दैवतः ॥ ९८ ॥
क्रुध्यतो मानयुक्तस्य मायाधारस्य लोभिनः ।
वायुरोगाभिभूतस्य लोकस्येव कदाचन ॥ ९९ ॥
हसतो रोदतश्चापि मूकीभवतः क्वचित् ।
क्वचिच्च जल्पतः किञ्चित् किञ्चिद्धैकुप्यतः क्वचित् ॥१००॥
क्वचिद्रागाभिभूतस्य क्वचिद् द्वेषविधायिनः ।
क्वचिच्छोकभराक्रान्तचेतसा बिभ्यतः क्वचित् ॥१०१॥
पुमांसं रममाणस्य ललनां वाञ्छतः क्वचित् ।
कुत्रचिच्च तयोर्द्वन्द्वमिच्छतो जातुचित्खलु ॥१०२॥
वातव्याधिधरस्येव भिद्यमानाङ्गसंहतेः ।
मिथ्यादृशः परं दुःखं केन व्यावर्ण्यते भुवि ॥१०३॥

अर्थ—इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव निज-शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धि न होनेसे अनन्तकालसे इस संसारमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच परिवर्तनोंको कर रहा है। यह कभी उन्मत्तके समान, कभी किसीके

के द्वारा उकेरे हुएके समान, कभी चोरोंसे लूटे हुए के समान, कभी पिशाचग्रस्तके समान, कभी चित्रलिखितके समान, कभी विदीर्णके समान, कभी भाग्यसे स्खलितके समान, कभी क्रोध करता है, कभी अहंकार करता है, कभी माया करता है, कभी लोभ करता है, कभी वायुरोगसे आक्रान्त मनुष्यके समान हँसता है, कभी रोता है, कभी मौन रहता है, कहीं कुछ निरर्थक बोलता है, कहीं किसीसे कुछ कोप करता है, कहीं रागसे अभिभूत होता है, कहीं द्वेष करता है, कहीं मनको शोकसे आक्रांत करता है, कहीं डरता है, कहीं स्त्रीपर्यायमें पुरुषके साथ रमण करता है, कभी पुरुषपर्यायमें स्त्रीकी इच्छा करता है, कभी नपुंसकपर्यायमें स्त्री-पुरुष दोनोंकी इच्छा करता है। इस तरह जिसका अंग-अंग दुःख रहा है ऐसे वातरोगसे पीड़ित मनुष्यके समान यह मिथ्यादृष्टि निरन्तर दुःखी रहता है। परमार्थसे पृथिवीपर इसके दुःखका वर्णन कौन कर सकता है? ९६-१०३॥

आगे मिथ्यादृष्टि जीव इस लोकभय आदि सात भयोंसे आक्रान्त रहता है, यह दिखाते हैं—

अत्र जन्मनि भोगानामिष्टानां मम जातुचित्।
हानिर्नैव कुतोऽपि स्यादेवं चिन्तयति ध्रुवम्॥ १०४॥
माभून्नाम परत्रापि भोगानां मम लेशतः।
भङ्गो, भीतिमहो नित्यमासाद्येति प्रखिद्यते॥ १०५॥
देहमेव निजं बुद्ध्वा मूर्तिमन्तं जडं तथा।
हन्त ध्यायति लोकोऽयं तद्घात-प्रतिघातनम्॥१०६॥
न भवेद् वेदना काचित्प्राणनाशकरी मम।
इत्थं चिन्तामवाप्नोति बहिरात्मशिरोमणिः॥१०७॥
माता नास्ति पिता नास्ति सैन्यं नास्ति दृढं मम।
कुतो रक्षा प्रजायेत ममेत्येवं विषीदति॥१०८॥
देहनाशेन मे नाशो नियमेन भविष्यति।
इति भ्रान्त्या सदा मृत्योर्बिभेति भवदर्शनः॥१०९॥
अयं प्रासादपृष्ठो वा भित्तीनां च कदम्बकम्।
आश्रितः पादपश्चायं सघनं गगनं नु वा॥११०॥

पतित्वा मम मूर्धानं भिन्द्यान्नाम यदा तदा ।
दुर्भिक्षो वा प्रजायेत सकले च महीतले ॥१११॥
ईतिव्याप्तो नु वा लोको भीत्याक्रान्तो नु वा क्वचित् ।
भवेच्चेत्तत्र किं मे स्यादित्येवं हि विषीदति ॥११२॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव निरन्तर ऐसा विचार करता है कि इस जन्ममें मुझे इष्ट भोगोंकी हानि किसी भी कारण न हो ॥१०४॥ परलोकमें भी मेरे भोगोंका लेशमात्र भी अभाव न हो, इस प्रकार परलोकभयको प्राप्तकर यह जीव खेदको प्राप्त होता है ॥१०५॥ मूर्तिमान् जड शरीरको ही आत्मा मानकर यह जीव ऐसा ध्यान करता है कि कोई इसका घात-प्रतिघात न करे। इस प्रकार अगुप्तिभयसे दुःखी होता है ॥१०६॥ मुझे प्राणोंका नाश करनेवाली कोई वेदना न हो, इस प्रकारकी चिन्ता मिथ्या-दृष्टि जीव निरन्तर करता है ॥१०७॥ मेरी माता नहीं है, पिता नहीं है और बलवती सेना मेरे पास नहीं है, फिर मेरी रक्षा कैसे होगी, इस प्रकार अरक्षक भयका आश्रय लेकर यह जीव विषाद करता है ॥१०८॥ शरीरके नाशसे मेरा नाश नियमसे हो जायगा, इस प्रकारकी भ्रान्ति द्वारा मिथ्यादृष्टि जीव मृत्युसे सदा डरता रहता है ॥१०९॥

यह मकानकी छत, यह दीवालोंका समूह मेरे द्वारा आश्रित यह वृक्ष अथवा मेघ सहित यह आकाश गिरकर मेरा शिर जब तब फोड़ सकता है। समस्त पृथिवीतलपर दुर्भिक्ष पड़ जाय, अथवा यह संसार ईतिभीतिसे व्याप्त हो जाय, तो मेरा क्या होगा? इस प्रकार आकस्मिक भयका विचारकर यह मिथ्यादृष्टि जीव दुःखी होता है ॥११०-११२॥

आगे मिथ्यादृष्टि जीव, संशय, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुप-गूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना इन आठ दोषोंका आश्रय होता है, यह कहते हैं—

दर्शनज्ञानवृत्तानि सम्यक्पदयुतानि वै ।
मोक्षमार्गो भवेद्वाहोस्विन्मुग्धप्रवञ्चनम् ॥११३॥
तपसा क्रियमाणेन कर्मणां निर्जरा ननु ।
जायते वा न वा क्लेशकारणं तपसां चयः ॥११४॥
अस्ति मोक्षोऽपि नाकोऽपि नरकोऽपि भयङ्करः ।
ईश्वरो वा समीचीनो मिथ्या वा तत्प्रपञ्चनम् ॥११५॥

मृतात्पश्चात्पुनर्जातमात्मानं च समेव हि ।
दृष्टवान् कः कदेत्येवं संशेते हतदर्शनः ॥११६॥
तपस्तप्त्वा व्रतं कृत्वानुष्ठानं च विधाय तत् ।
वणिजामिव सार्थोऽयं तत्फलं जातु काङ्क्षति ॥११७॥
जलप्रक्षालनाभावात्कच्चरं बहिरङ्गतः ।
मुनीनां विग्रहं दृष्ट्वा ग्लानिभावं दधात्यसौ ॥११८॥
मिथ्यामतेः कुमन्त्रेषु तन्त्रेषु च वचःसु च ।
दृष्ट्वा हन्त चमत्काराभासं मूढो भवत्यसौ ॥११९॥
अहो मात्सर्यशालित्वादखिलं परदूषणम् ।
ब्रवीत्यसौ सदा स्वस्य गुणाभासं च सर्वतः ॥१२०॥
कुतश्चित्कारणाद् धर्माच्च्युतं चापि निजं परम् ।
व्रणेषु क्षारमाकीर्य भृशं पातयति ध्रुवम् ॥१२१॥
हन्त हन्त कलिं कृत्वा कषायोद्रिक्तचेतसा ।
ध्रुवं धर्मात्मजीवानां कुलं प्रद्वेष्टि सन्ततम् ॥१२२॥
विद्यागारविनाशेन शास्त्रागारस्य रोधतः ।
मिथ्याप्रभावनाभिश्च प्रतिकूलप्रवृत्तिभिः ॥१२३॥
मिथ्यातपो-वचोजाल-वाणिज्यादिविधानकैः ।
विगीतैः सततं सद्भिर्धर्मं दूषयति ध्रुवम् ॥१२४॥

अर्थ—'निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके मार्ग हैं अथवा भोले लोगोंको धोखा देना मात्र है। किये गये तपसे कर्मों-की निर्जरा होती है या तप मात्र क्लेशका कारण है। मोक्ष भी है, स्वर्ग भी है, भयंकर नरक भी है और शुद्धात्मा रूप समीचीन ईश्वर भी है या उनका मिथ्या विस्तार है? मरनेके बाद उत्पन्न हुए आत्माको कब किसने देखा है?' मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार संशय करता रहता है ॥११३-११६॥ जिस प्रकार व्यापारियोंका समूह व्यापारकर तत्काल उसका फल चाहता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव तप तपकर, व्रत धारणकर और अनुष्ठानकर कभी उसका फल चाहता है। तात्पर्य यह है कि भोगोपभोग-की आकाङ्क्षासे यह व्रतादिक करता है ॥११७॥ जल स्नानका अभाव

होनेके कारण बाह्यमें मलिन दिखने वाले मुनियोंके शरीरको देखकर यह ग्लानि करता है ॥११८॥ मिथ्यादृष्टि जीवोंके कुमन्त्रों, तन्त्रों अथवा वचनोंमें चमत्काराभास देखकर यह भ्रान्त हो जाता है ॥११९॥ आश्चर्य है कि यह मात्सर्यसे सहित होनेके कारण दूसरोंके दोष और अपने थोथे गुणोंको सर्वत्र सदा कहता फिरता है ॥१२०॥ यदि कोई व्यक्ति किसी कारण धर्मसे च्युत हो जाता है तो यह घावपर नमक छिड़ककर उसे बिलकुल गिरा देता है ॥१२१॥ बड़े दुःखकी बात है कि यह कषायाकुलित चित्तसे कलह उत्पन्नकर धर्मात्मा जीवोंके समूहके प्रति निरन्तर द्वेष रखता है ॥१२२॥ विद्यालयोंके विनाशसे, सरस्वतीसदनोंको बन्द करनेसे, मिथ्या प्रभावनाओंसे, प्रतिकूल आचरणोंसे, मिथ्यातप, वचनसमूह और व्यापार आदिके द्वारा तथा सत्पुरुषोंकी निन्दा आदिके द्वारा धर्मको दूषित करता है अर्थात् अपनी खोटी प्रवृत्तियोंसे धर्मको कलङ्कित करता है ॥१२३-१२४॥

आगे मिथ्यादृष्टि जीवके ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ वस्तुओंको लेकर सदा मद रहा करता है, यह कहते हैं—

धर्मे व्याकरणे कोशे न्याये साहित्यसंगमे ।
वादे नादे च संग्रामे को वा मे समतामियात् ॥१२५॥
अहं कलाकुलावासः पण्डिताखण्डलोपमः ।
अहं सर्वज्ञकल्पोऽस्मि को वा सर्वज्ञनामभाक् ॥१२६॥
को वा बृहस्पतिश्चापि का वा देवेन्द्रपद्धतिः ।
स देवानां प्रियः कस्मात्कविः पूज्यो मनस्विनाम् ॥१२७॥
इमे वराकाः किं मेऽग्रे जानन्त्यद्यतना इव ।
एवं भङ्गुरमत्यल्पमाकुलत्वविधायकम् ॥१२८॥
क्षायोपशमिकं बोधं लब्ध्वा मानं करोत्यसौ ।
न वयः कृतमज्ञत्वं विज्ञत्वं चापि विद्यते ॥१२९॥
तत्तु कर्मकृतं नूनं नैवं जानाति जातुचित् ।
इत्थं ज्ञानमदं कृत्वा बम्भ्रमीति भवे भवे ॥१३०॥
अहो मदीयपादान्तं राजानोऽपि निरन्तरम् ।
किङ्करा इव सेवन्ते किं मे नाम दुरासदम् ॥१३१॥

पिता मे वर्तते भूपोऽहञ्च तस्य प्रियः सुतः ।
जाते मयापराधानां शते को नु निवारयेत् ॥१३२॥
मातुलो मे महीकान्तः कान्तालापविराजितः ।
भागिनेये महाभाग्ये मयि प्रीतिधरो भुवि ॥१३३॥
कश्चक्री कः सुरो नागो को वा विद्याधरो रविः ।
ममाग्रे नाम सर्वेऽपि स्थातुं नैव भवन्ति हि ॥१३४॥
अहमृद्धीश्वरो जातस्तपसां संविधानतः ।
अयं तपस्यन्नो प्राप्त ऋद्धिमल्पतरामपि ॥१३५॥
अहमातापनं ग्रीष्मे वर्षायोगं च प्रावृषि ।
हेमन्ते हिमयोगञ्च करोम्यत्र न चेतरः ॥१३६॥
रूपेण जितमारोऽहं लावण्यलवणोदधिः ।
इमे मेऽग्रे न शोभन्ते शशिनस्तारका इव ॥१३७॥
एवमुन्नीतनेत्राभ्यामात्मानं प्रोन्नतं परम् ।
अमन्देतरमेवेह भुवने पश्यति ध्रुवम् ॥१३८॥
अन्यान् श्रेष्ठगुणाधारान् तुच्छानेव हि मन्यते ।
मिथ्यात्वाख्यमहानागगरलेनाभिमूर्च्छितः ॥१३९॥

अर्थ—धर्म, व्याकरण, कोश, न्याय, साहित्य, वाद-विवाद, शब्दोच्चारण और संग्राममें कौन मनुष्य मेरी समताको प्राप्त हो सकता है ? मैं समस्त कलाओंका कुलभवन हूँ, पण्डितोंमें इन्द्रके समान हूँ, मैं सर्वज्ञ तुल्य हूँ, अथवा सर्वज्ञ है ही कौन ? बृहस्पति क्या है ? इन्द्रकी पद्धति क्या है ? वह मूर्ख शुक्र मनस्वी मनुष्योंका पूज्य कैसे हो सकता है ? ये बेचारे मेरे सामने जानते ही क्या हैं ? ये मानों आजके बालक हैं। इस प्रकार आकुलताको उत्पन्न करने वाले अत्यन्त अल्प क्षायोपशमिक ज्ञानको प्राप्तकर यह अहंकार करता है। अज्ञानता और विज्ञता अवस्थाकृत नहीं है अर्थात् अल्प अवस्थावाले भी ज्ञानी होते हैं और अधिक अवस्था वाले भी अज्ञानी होते हैं। इस तरह ज्ञानका मद कर यह जीव भव-भवमें भ्रमण करता है ॥१२५-१३०॥

अहो ! राजा लोग भी किङ्करोंके समान मेरे चरणसमीपकी सेवा करते हैं, मुझे दुर्लभ क्या है ? ॥१३१॥ मेरे पिता राजा हैं और मैं उनका

प्रिय पुत्र हूं। अतः सैकड़ों अपराध होनेपर भी कौन रोक सकता है? ॥१३२॥ मेरे मामा मधुर भाषणसे सुशोभित राजा हैं और मुझ भाग्यशाली भानेजपर अत्यधिक प्रीति रखते हैं ॥१३३॥ चक्रवर्ती क्या है? सुर, नाग, विद्याधर अथवा सूर्य कौन है? ये सब मेरे आगे खड़े भी नहीं हो सकते हैं ॥१३४॥ तप करनेसे मैं ऋद्धियोंका स्वामी हो गया और यह तपस्या करता हुआ थोड़ी भी ऋद्धिको प्राप्त नहीं कर सका है ॥१३५॥ मैं ग्रीष्म ऋतुमें आतापनयोग, वर्षा ऋतुमें वर्षायोग और हेमन्त ऋतुमें शीतयोग धारण करता हूँ। मेरे समान अन्य कोई योग धारण नहीं करता है ॥१३६॥ मैं रूपके द्वारा कामको जीतनेवाला हूँ, सौन्दर्यका सागर हूँ, मेरे आगे ये सब चन्द्रमाके आगे नक्षत्रोंके समान शोभित नहीं होते हैं ॥१३७॥ इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, बड़प्पनसे परिपूर्ण नेत्रोंके द्वारा अपने आपको संसारमें बहुत बड़ा मानता है और दूसरे गुणी मनुष्योंको तुच्छ समझता है। क्या करे बेचारा मिथ्यात्वरूपी महाभुजङ्गके विषसे मूर्च्छित जो हो रहा है ॥१३८-१३९॥

आगे मिथ्यादृष्टि जीवके तीन मूढताओंका प्रकोप रहता है, यह कहते हैं—

भागीरथीत्वगाहेन प्रयागे पितृदानतः।
काश्यां मरणकार्येण रेवायामवगाहनात् ॥१४०॥
पत्यौ मृते सतीभावात्पर्वतात्पतनात्तथा।
हतबुद्धितया मुक्तिं मन्यतेऽयं निरन्तरम् ॥१४१॥
पूर्वमुक्तं कुदेवं च कुगुरुं च कुधर्मकम्।
पुत्रादिलाभलोभेन वन्दतेऽसौ निसर्गतः ॥१४२॥

अर्थ—गङ्गामें अवगाहन करनेसे, प्रयागमें पितृदान करनेसे, काशीमें मरण होनेसे, नर्मदामें प्रवेश करनेसे, पतिके मर जानेपर सती होनेसे और पर्वतसे गिरनेसे यह मिथ्यादृष्टि निर्बुद्धि होनेके कारण निरन्तर मुक्ति मानता है। पहले कहे हुए कुदेव, कुगुरु और कुधर्मकी पुत्रादिकी प्राप्तिके लोभसे स्वभावतः वन्दना करता है—उन्हें भक्तिका स्थान समझ उनकी भक्ति आदि करता है। इस प्रकार लोकमूढता, देवमूढता और गुरुमूढतामें फँसा रहता है ॥१४०-१४२॥

आगे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति किसे होती है, यह कहते हैं—

प्रत्यासन्नभवस्याथ भव्यस्यैव विवेकिनः।
पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्त-संज्ञित्वाभ्यां विशुध्यतः ॥१४३॥

कदाचिद् भागधेयेन महतां हि महीयसा ।
प्रतिक्षणं प्रसर्पन्त्या विशुद्धया निजकर्मणाम् ॥१४४॥
बद्धहीनस्थितेः पूर्वस्थितानामपि शुद्धितः ।
कृतमन्दस्थितेस्तस्य भेदविज्ञानशालिनः ॥१४५॥
लब्धिपञ्चकलाभेन सम्यक्त्वमुपजायते ।
मिथ्यात्वादिकसप्तानां कर्मणामुपशान्तितः ॥१४६॥

अर्थ—जिसका संसार अल्प रह गया है, जो स्वपरविवेकसे सहित है, पञ्चेन्द्रिय है, पर्याप्तक और संज्ञीपनेसे सुशोभित है ऐसे किसी भव्य जीवके बहुत भारी पुण्योदयसे कदाचित् प्रतिक्षण बढ़ने वाली विशुद्धिके कारण जब नवीन बध्यमान कर्मोंकी स्थिति हीन अर्थात् अधिकसे अधिक अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण बँधती है और सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति भी इसीके भीतर रह जाती है तब उस भेदविज्ञानीके पाँच लब्धियोंकी प्राप्तिपूर्वक मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियोंके उपशमसे सम्यग्दर्शन होता है ॥१४३-१४६॥

विशेषार्थ—यहाँ सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति कब और किस जीवके होती है इसकी आगमानुसार चर्चा करते हैं—मिथ्यादृष्टि दो प्रकारके हैं—एक अनादि मिथ्यादृष्टि और दूसरे सादि मिथ्यादृष्टि। जिसे आजतक कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जिसे प्राप्त होकर छूट गया है वह सादि मिथ्यादृष्टि है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके मोहनीय कर्मकी छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है क्योंकि दर्शनमोहकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति, इन तीन प्रकृतियोंमेंसे एक मिथ्यात्वप्रकृतिका ही बन्ध होता है, शेष दोका नहीं। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होनेपर उसके प्रभावसे यह जीव मिथ्यात्वप्रकृतिके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिके भेदसे तीन खण्ड करता है। इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीवके ही सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टि जीवोंमें मोहनीय कर्मकी सत्ता के तीन विकल्प बनते हैं—एक अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला, दूसरा सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाला और तीसरा छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्ता वाला। जिस जीवके दर्शनमोहकी तीनों प्रकृतियाँ विद्यमान हैं वह अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्ता वाला है। जिस जीवने सम्यक्त्वप्रकृतिकी उद्वेलना कर ली है वह सत्ताईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला है और जिसने

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी भी उद्वेलना कर ली है वह छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्ता वाला है।

सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन भेद हैं। यहाँ सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार करते हैं, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टिको सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम और द्वितीयोपशमके भेदसे दो प्रकारका है। यहाँ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की चर्चा है। द्वितीयोपशमकी चर्चा आगे की जायगी।

इतना निश्चित है कि सम्यग्दर्शन संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक भव्य जीवको ही होता है अन्यको नहीं। भव्योंमें भी उसीको होता है जिसका संसार भ्रमणका काल अर्धपुद्गलपरावर्तनके कालसे अधिक बाकी नहीं है। लेश्याओंके विषयमें यह नियम है कि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके तीन शुभ लेश्याओंमेंसे कोई लेश्या हो और देव तथा नारकियोंके जहाँ जो लेश्या बतलाई है उसीमें औपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिए गोत्रका प्रतिबन्ध नहीं है अर्थात् जहाँ उच्च नीच गोत्रोंमेंसे जो भी सम्भव हो वहाँ उसी गोत्रमें सम्यग्दर्शन हो सकता है।

कर्मस्थितिके विषयमें चर्चा यह है कि जिसके बध्यमान कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोडाकोड़ी सागर प्रमाण हो तथा सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह गई हो, वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इससे अधिक स्थितिबन्ध पड़नेपर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिसके अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग चतुःस्थानपतित होता है वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यहाँ इतनी विशेषता और भी ध्यानमें रखना चाहिये कि जिस सादि मिथ्यादृष्टिके आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्गकी सत्ता होती है उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन नहीं होता है। अनादि मिथ्यादृष्टिके इनकी सत्ता होती ही नहीं है। इसी प्रकार प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव दूसरे प्रथमोपशम सम्यक्त्वको तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जबतक कि वह वेदककालमें रहता है। वेदककालके भीतर यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आता है तो वह वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है।

वेदककालके विषयमें यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ जो मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रिय पर्यायमें भ्रमण करता है वह संज्ञी पञ्चे-

न्द्रिय पर्याप्तक होकर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनको तभी प्राप्त कर सकता है जब उसके सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियोंकी स्थिति एक सागरसे कम शेष रह जावे। यदि इससे अधिक स्थिति शेष है तो उसे नियमसे वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही हो सकता है। यदि सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ जीव विकलत्रयमें परिभ्रमण करता है तो उसके सम्यक्त्व और सम्यङ्‌मिथ्यात्वकी स्थिति पृथक्त्वसागर शेष रहने तक उसका वेदक काल कहलाता है। इस कालमें यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आता है तो नियमसे वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन-को ही प्राप्त होता है। हाँ, सम्यक्त्व प्रकृतिकी अथवा सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति—दोनोंकी उद्वेलना हो गई है तो ऐसा जीव पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आनेपर प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके सर्वप्रथम प्रथमो-पशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादि मिथ्यादृष्टियोंमें २६ या २७ प्रकृतियोंकी सत्ता वाले जीवके दूसरी बार भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है किन्तु २८ प्रकृतियोंकी सत्ता वाले जीवको वेदक कालके भीतर दूसरी बार सम्यग्दर्शन हो तो वेदक—क्षायोपशमिक ही होता है। हाँ, वेदक कालके निकल जानेपर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी योग्यता रखने वाला संज्ञी पंचे-न्द्रिय पर्याप्तक, विशुद्धियुक्त, जागृत, साकार उपयोगयुक्त चारों गति-वाला भव्य जीव जब सम्यग्दर्शन धारण करनेके सन्मुख होता है तब क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण, इन पांच लब्धियोंको प्राप्त होता है। इनमें करणलब्धिको छोड़कर शेष चार लब्धियां सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनोंको प्राप्त होती हैं परन्तु करणलब्धि भव्य जीवको ही प्राप्त होती है। उसके प्राप्त होनेपर सम्यग्दर्शन नियम से प्रकट होता है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके योग्य भावोंको करण कहते हैं। उनके अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके भेदसे तीन भेद होते हैं।

इन तीन करणोंमेंसे पहले अधःप्रवृत्तकरणमें चार आवश्यक होते हैं—(१) समय-समयमें अनंतगुणी विशुद्धता होती है। (२) प्रत्येक अन्तर्मु-हूर्तमें नवीन बन्धकी स्थिति घटती जाती है। (३) प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तगुणा बढ़ता जाता है और (४) प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तवां घटता जाता है। इसके बाद अपूर्वकरण परिणाम होता है। उस अपूर्वकरणमें निम्नलिखित आवश्यक

और होते हैं—(१) सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें उत्तरोत्तर घटती जाती है अतः स्थितिकाण्डक घात होता है। (२) प्रत्येक अन्तमु हूर्तमें उत्तरोत्तर पूर्व कर्मका अनुभाग घटता जाता है इसलिये अनुभागकाण्डक घात होता है और (३) गुणश्रेणीके कालमें क्रमसे असंख्यात गुणित कर्म निर्जराके योग्य होते हैं इसलिये गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस अपूर्वकरणमें गुणसंक्रमण नामका आवश्यक करण नहीं होता, किन्तु चारित्रमोहका उपशम करनेके लिये जो अपूर्वकरण होता है उसमें होता है। अपूर्वकरणके बाद अनिवृत्तिकरण होता है उसका काल अपूर्वकरणके कालके संख्यातवें भाग होता है। इसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होनेपर अन्तरकरण[1] होता है अर्थात् अनिवृत्ति करणके कालके पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्मके निषेकोंका अन्तर्मुहूर्तके लिये अभाव होता है। अन्तरकरणके पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरणके द्वारा अभावरूप किये हुए निषेकोंके ऊपर मिथ्यात्वके जो निषेक उदयमें आने वाले थे उन्हें उदयके अयोग्य किया जाता है। साथ ही अनन्तानुबन्धीचतुष्कको भी उदयके अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदय योग्य प्रकृतियोंका अभाव होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्रथम समयमें मिथ्यात्वप्रकृतिके तीन खण्ड करता है। परन्तु राजवार्त्तिकमें अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें तीन खण्ड करता है, ऐसा सूचित किया है[2]। तदनन्तर चरम समयमें मिथ्यादर्शनके तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग् मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया,

---

१. किमन्तरकरणं नाम ? विवक्खियकम्माणं हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अंतोमुहुत्तमेत्ताणं ट्ठिदीणं परिणामविसेसेण णिसेगाणामभावीकरणमिदि भण्णदे। जयधवल अ० प्र० ९५३।

अर्थ—अन्तरकरणका क्या स्वरूप है ? उत्तर—विवक्षित कर्मोंकी अधस्तन और उपरिम स्थितियोंको छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थितियोंके निषेकोंका परिणामविशेषके द्वारा अभाव करनेको अन्तरकरण कहते हैं।

२. ततश्चरमसमये मिथ्यादर्शनं त्रिधा विभक्तं करोति—सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं चेति। एतासां तिसृणां प्रकृतीनां अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां चोदयाभावेऽन्तर्मुहूर्तकालं प्रथम सम्यक्त्वं भवति।

—त०वा० ९-१, पृष्ठ ५८९, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण।

लोभ इन चार प्रकृतियोंका, इस प्रकार सात प्रकृतियोंके उदयका अभाव होनेपर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यही भाव षट्खण्डागम (धवला पुस्तक ६) के निम्नलिखित सूत्रोंमें भी प्रकट किया गया है—'ओहट्टेदूण मिच्छत्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं ॥७॥

अर्थ—अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्मके तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व।

दंसणमोहणीयं कम्मं उवसामेदि ॥८॥

अर्थ—मिथ्यात्वके तीन भागकर पश्चात् दर्शनमोहनीय कर्मको उपशमाता है।

आगे सम्यग्दर्शनका माहात्म्य बतलानेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

अस्य भेदादिकं तावद् गदिष्यामः सविस्तरम्।
गदामः साम्प्रतं तस्य किञ्चिन्माहात्म्यमान्तरम् ॥१४७॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनके भेद आदिका आगे विस्तारसे कथन करेंगे। इस समय उसका कुछ आन्तरिक महत्त्व कहते हैं ॥१४७॥

अब सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कहते हैं—

इदं सद्दर्शनं नाम यस्मिन्नासादिते खलु।
संसारसिन्धुमग्नोऽपि निमज्जत्येव नो सुधीः ॥१४८॥
प्रज्वलद्वह्निज्वालासंपरीतोऽपि पण्डितः।
हिमानीकुण्डमध्याप्त इव शीतायते चिरम् ॥१४९॥
दुष्टव्याधिशताकीर्णो जीर्यमाणाङ्गसंहतिः।
मुक्तव्याधिरिव स्वैरं चेष्टतेऽयं जनो मुदा ॥१५०॥
पुत्रमित्रकलत्राणां वियोगेऽपि सुदुर्भरे।
सर्पसिंहसपत्नानां योगे चापि न खिद्यते ॥१५१॥
अलं, पाताललोकेऽपि पातालपुरवासिभिः।
वेलां वेलामहो तीव्रैस्ताड्यमानोऽपि ताडनैः ॥१५२॥
सर्वं कर्मकृतं बोधं बोधं किञ्चिन्न ताम्यति।
नाकेऽपि नाकिनां भोगे रमते नैव जातुचित् ॥१५३॥
असंख्येयविकल्पेषु कषायोद्रेकधामसु।
स्वभावादस्य चेतोऽपि शिथिलं जायतेतराम् ॥१५४॥

नानादुःखसमाकीर्णादनित्यात्परवस्तुनः ।
संसारात्सततं चेतः संविग्नं जायतेऽस्य वै ॥१५५॥
एकेन्द्रियादिजीवानामसातीभवतां चये ।
अनुकम्पासमाकीर्णं स्वान्तमस्याभिजायते ॥१५६॥
आप्ते च परलोके च शास्त्रे च व्रतधारणे ।
आस्तिक्याभियुतः शश्वच्छ्रद्धाधारी विराजते ॥१५७॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन वह वस्तु है कि जिसके प्राप्त होनेपर यह ज्ञानी जीव, संसाररूपी सागरमें मग्न होता हुआ भी निमग्न नहीं होता है। भावार्थ—जिस जीवको एक बार भी सम्यग्दर्शन हो जावे और पश्चात् सम्यग्दर्शनसे च्युत होकर अर्धपुद्गल परावर्तन तक संसारमें भ्रमण करता रहे तो भी वह नियमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥१४८॥ जलती हुई संसार-रूपी अग्निसे व्याप्त होनेपर भी भेदविज्ञानी-सम्यग्दृष्टि जीव बहुत बड़े बर्फके कुण्डके बीच प्राप्त हुए के समान चिरकाल तक शीतलता—शान्तिका अनुभव करता है ॥१४९। सैकड़ों दुष्ट बीमारियोंसे जो जकड़ा हुआ है तथा जिसके अङ्गोंका समूह जीर्ण हो रहा है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव बीमारियोंसे मुक्त हुए के समान हर्षपूर्वक स्वेच्छानुसार चेष्टा करता है ॥१५०॥ पुत्र, मित्र तथा स्त्री आदि इष्टजनोंका बहुत भारी वियोग, तथा सर्प, सिंह और शत्रु आदि अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होनेपर भी यह जीव खेदखिन्न नहीं होता है ॥१५१॥ अधिक क्या कहा जावे, पाताललोक—नरकलोकमें भी नारकियोंके द्वारा प्रतिक्षण तीव्रताडनों—वज्रप्रहारोंके द्वारा ताड़ित होता हुआ भी यह सम्यग्दृष्टि जीव, उस समस्त दुःखको कर्मकृत जानता हुआ दुःखी नहीं होता है। इसी प्रकार स्वर्गमें भी देवोंके भोगोंमें कभी आनन्दित नहीं होता है ॥१५२-१५३॥

असंख्यात विकल्पोंसे युक्त कषायोदयके स्थानोंमें इसका चित्त स्वभावसे अत्यन्त शिथिल हो जाता है अर्थात् वह प्रशमगुणका धारक होता है ॥१५४॥ नानादुःखोंसे व्याप्त, अनित्य तथा परवस्तु स्वरूप संसारसे इसका चित्त निश्चयपूर्वक संविग्न होता है। अर्थात् वह संवेगगुणका धारक होता है ॥१५५॥ निरन्तर दुःखका अनुभव करनेवाले एकेन्द्रियादि जीवोंके समूहपर इसका चित्त अनुकम्पासे युक्त होता है। अर्थात् अनु-कम्पा गुणसे युक्त होता है ॥१५६॥ सम्यग्दृष्टि जीव आप्त, परलोक,

शास्त्र तथा व्रतके धारण करनेमें निरन्तर श्रद्धासे युक्त होता हुआ सुशोभित रहता है अर्थात् आस्तिक्य गुणसे युक्त होता है ॥१५७॥

आगे और भी सम्यग्दर्शनकी महिमा बतलाते हैं—

गृहस्थावासलीनोऽपि चारित्रावरणोदयात् ।
सत्यं तत्र न लीनोऽयं जले पद्मपलाशवत् ॥१५८॥

सम्यग्दृष्टिरयं तावदबद्धायुष्कबन्धनः ।
तिरश्चां नारकाणां च योनिं दुष्कर्मसाधिताम् ॥१५९॥

क्लीबत्वं ललनात्वं वा दुष्कुलत्वं च दुःस्थितिम् ।
अल्पजीवितवत्त्वं च भवनत्रिकवासिताम् ॥१६०॥

दारिद्र्यं विकलाङ्गत्वं कुक्षेत्रं च कुकालकम् ।
प्रतिष्ठाश्रयवत्त्वं च प्राप्नोत्येव न जातुचित् ॥१६१॥

बद्धायुष्कोऽपि नरकं प्रथमं नातिवर्तते ।
भोगभूमिजतिर्यक्त्वं चापि सम्यक्त्वसंयुतः ॥१६२॥

सम्यग्दर्शनयोगेन बोधो वृत्तं च साधुताम् ।
प्राप्नुतस्तद् विना नित्यमाजवंजवकारणे ॥१६३॥

सम्यग्दर्शनमित्येतद् हृदयस्य रसायनम् ।
पुण्यवद्भिः समालभ्यमलभ्यञ्च दुरात्मनाम् ॥१६४॥

आत्मनात्मनि संजातं सम्यग्दर्शनमात्मनः ।
अस्ति धर्मस्ततो नात्र पर्यायादेरपेक्षता ॥१६५॥

सम्यग्दर्शनसंयुक्तास्तिर्यङ्नारकयोनयः ।
मातङ्गास्तरुणा बाला वृद्धा बालाश्च योषितः ॥१६६॥

अव्रतिनोऽपि चारित्रमोहोदयनकारणात् ।
जम्बालाच्छन्नकासारजलसङ्घा इवामलाः ॥१६७॥

सम्यग्दर्शनहीनेन निर्ग्रन्थेनापि योगिना ।
नाप्यते शुद्धसम्यक्त्वसनाथगृहिणस्तुला ॥१६८॥

अपारे भवकूपारे दुःखनक्रसमाश्रिते ।
सम्यग्दर्शनमेवैतत्पोतयानायते चिरम् ॥१६९॥

अर्थ—जिस प्रकार कमलपत्र पानीमें रहता हुआ भी उसमें लीन नहीं होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहके उदयसे गृहस्थावासमें रहता हुआ भी उसमें लीन नहीं होता है ॥१५८॥ जिसने आयुका बन्ध नहीं किया है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, पापकर्मसे प्राप्त होनेवाली तिर्यञ्च और नरकगतिको, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, नीचकुलता, कष्टमय जीवन, अल्पायु, भवनत्रिक देवोंमें उत्पत्ति, दरिद्रता, विकलाङ्गपना, खोटा क्षेत्र, खोटा काल और मानहानिको कभी नहीं प्राप्त होता है ॥१५९-१६१॥ जिस जीवने सम्यक्त्व होनेके पहले नरकायुका बन्ध कर लिया है वह भी प्रथम नरकसे नीचे नहीं जाता। इसी प्रकार जिसने सम्यक्त्वके पहले तिर्यञ्च आयुका बन्ध किया है वह भोगभूमिका ही तिर्यञ्च होता है, अन्यत्रका नहीं। **भावार्थ**—चारों गतियोंकी आयुका बन्ध हो जानेपर सम्यग्दर्शन हो सकता है परन्तु सम्यग्दर्शन हो जानेपर मनुष्य और तिर्यञ्चको नियमसे देवायुका बन्ध होता है और देव तथा नारकीको नियमसे मनुष्यायुका बन्ध होता है। जिस जीवने सम्यक्त्वके पहले नरकायुका बन्ध किया है वह मरकर पहले नरक तक ही जावेगा उससे नीचे नहीं। और जिसने तिर्यञ्च आयुका बन्ध किया है वह भोगभूमिका ही तिर्यञ्च होता है। इसी प्रकार जिस मनुष्य या तिर्यञ्चने मनुष्यायुका बन्ध किया है वह भी भोगभूमिका ही मनुष्य होता है। किन्तु मनुष्यायुका बन्ध करनेवाला देव और नारकी कर्मभूमिका मनुष्य होता है ॥१६२॥ सम्यग्दर्शनके संयोगसे ज्ञान और चारित्र सम्यक् व्यवहारको प्राप्त होते हैं। उसके बिना वे निरन्तर संसारके कारण माने जाते हैं ॥१६३॥ सम्यग्दर्शन, यह हृदयकी वह रसायन है जो पुण्यात्मा जीवोंको प्राप्त होती है तथा पापी जीवोंको दुर्लभ रहती है ॥१६४॥ यतश्च सम्यग्दर्शन अपने आपके द्वारा अपने आपमें उत्पन्न होता है अतः वह आत्माका धर्म है इसमें पर्यायादिक अपेक्षा नहीं है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन नरकादि चारों गतियोंमें हो जाता है। यह जीव, चाहे तिर्यञ्च हो, चाहे नारकी हो, चाहे चाण्डाल, चाहे तरुण हो, चाहे बालक हो, चाहे वृद्ध हो, चाहे लड़की हो, चाहे स्त्री हो—सब सम्यग्दर्शनसे युक्त हो सकते हैं ॥१६५-१६७॥ चारित्रमोह कर्मके उदयसे जो व्रतधारण नहीं कर पा रहे हैं वे भी शेवालसे आच्छादित तालाबके जलसमूहके समान निर्मल हैं। भावार्थ—जिस प्रकार किसी तालाबके जलमें ऊपरसे शेवाल आ जानेके कारण वह हरा-हरा दिखाई देता है परन्तु परमार्थसे हरा नहीं है, स्वच्छ ही है इसी प्रकार यह जीव यद्यपि व्रतधारण नहीं करनेके

कारण ऊपरसे मलिन जान पड़ता है तथापि श्रद्धा ठीक होनेसे निर्मल ही होता है ॥१६७॥ सम्यक्त्वसे रहित मुनि, निर्ग्रन्थ होकर भी शुद्ध-सम्यक्त्वसे सहित गृहस्थकी सदृशता प्राप्त नहीं कर सकता। भावार्थ—करणानुयोगकी अपेक्षा मिथ्यात्वयुक्त द्रव्यलिङ्गी मुनि मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती है और अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य चतुर्थ गुणस्थानवर्ती है। मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती मुनिके एक भी प्रकृतिका संवर नहीं है जबकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती गृहस्थके इकतालीस प्रकृतियोंका संवर हो जाता है ॥१६८॥ दुःखरूपी मगरमच्छोंसे भरे हुए इस अपार संसार-सागरमें यह सम्यग्दर्शन ही चिरकाल तक जहाजके समान आचरण करता है। भावार्थ—यह सम्यग्दर्शन, तेतीस सागरके लम्बे कालतक व्रत रहित होनेपर भी जीवको सदा के लिये संसारमें निमग्न नहीं रखता किन्तु संयम प्राप्त कराकर मोक्ष प्राप्त कराता है। आगममें चतुर्थ गुणस्थानका उत्कृष्ट काल तेतीस सागर और अन्तर्मुहूर्त कम एक करोड़ वर्ष पूर्व बतलाया है। इसके बाद नियमसे संयमकी प्राप्ति कर जीव मोक्षको प्राप्त होता है ॥१६९॥

आगे और भी सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते हैं—

सम्यग्दर्शनसंपन्ना महर्द्धिपरिमण्डिते ।
स्वर्गिणां निचये यान्ति चिरमानन्दसन्ततिम् ॥१७०॥
सम्यग्दर्शनसंभूषासंभूषितकलेवराः ।
देवाङ्गनाकदम्बेषु रमन्ते बहुकालकम् ॥१७१॥
सम्यग्दर्शनसूर्येण भव्यचित्तसरोरुहाम् ।
वृन्दं प्रस्फुटितं नित्यं भवेदेव मनोरमम् ॥१७२॥
सम्यग्दर्शनचन्द्रेण चक्षूंषि भविकात्मनाम् ।
चन्द्रकान्तोपलानीव द्रवन्त्येवाचिरेण वै ॥१७३॥
सम्यग्दर्शनसद्भावे स्वानुभूतिर्हि जायते ।
यस्यां सत्यां समस्तोऽपि विश्वानन्दो न किञ्चन ॥१७४॥
सम्यग्दर्शनमेवेदं चक्रिवर्तिपदं शुभम् ।
निधिरत्नादिसम्पत्तिं भव्येभ्यः प्रददाति च ॥१७५॥
किं बहुना प्रजल्पेन सम्यग्दर्शनमेव तत् ।
मोक्षप्रवेशमार्गस्थाररोद्घाटनतत्परम् ॥१७६॥

इदं सद्दर्शनं येन लब्धं सकृदपि क्वचित् ।
तेनात्र नाम संसारे चिरं बम्भ्रम्यते न हि ॥१७७॥
सर्वथा धन्यमेवेदं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ।
धन्या नरास्तदाधाराः स्वानुभूत्या विराजिताः ॥१७८॥
अतिप्रगाढमिथ्यात्वतमिस्रातामसावृते ।
पञ्चमेऽस्मिन् कलौ काले दुर्लभप्रायमेव तत् ॥१७९॥
लभन्ते केऽपि ये तत्त्वं सद्दर्शनमनुत्तमम् ।
बाधावृन्दपरीभूतास्त्यजन्ति द्रुतमेव तत् ॥१८०॥
अपि बाधासहस्रीं ये समुत्तीर्य धरन्ति तत् ।
साम्प्रतं दर्शनं शुद्धं कथं ते न महस्विनः ॥१८१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे सहित मनुष्य बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंसे सुशोभित देवोंके समूहमें चिरकाल तक आनन्दसमूहको प्राप्त होते हैं ॥१७०॥ जिनका शरीर सम्यग्दर्शनरूपी आभूषणसे विभूषित है ऐसे जीव देवाङ्गनाओंके समूहमें बहुत कालतक क्रीड़ा करते हैं ॥१७१॥ सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यके द्वारा भव्यजीवोंके हृदयरूपी कमलोंका समूह निरन्तर विकसित होता हुआ नियमसे मनोहर होता है ॥१७२॥ सम्यग्दर्शनरूपी चन्द्रमाके द्वारा भव्यजीवोंके नेत्र चन्द्रकान्तमणिके समान नियमसे शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाते हैं ॥१७३॥ सम्यग्दर्शनके सद्भावमें वह अनुभूति होती है कि जिसके रहते हुए समस्त विश्वका आनन्द कुछ नहीं है ॥१७४॥

यह सम्यग्दर्शन ही भव्यजीवोंके लिए चक्रवर्तीका शुभ पद तथा नौ निधियों और चौदह रत्नोंकी सम्पदा प्रदान करता है ॥१७५॥ अधिक कहनेसे क्या लाभ है? वह सम्यग्दर्शन ही मोक्षके द्वारपर लगे हुए किवाड़ोंके खोलनेमें तत्पर है ॥१७६॥ जिस जीवने यह सम्यग्दर्शन कहीं एक बार भी प्राप्त कर लिया है उसे इस संसारमें चिरकाल तक भ्रमण नहीं करना पड़ता है अर्थात् वह अर्धपुद्गल परावर्तनके भीतर नियमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥१७७॥ यह उत्तम सम्यग्दर्शन सब प्रकारसे धन्य है तथा उसके आधार और स्वानुभूतिसे सुशोभित मनुष्य धन्य हैं ॥१७८॥ अत्यन्त सघन मिथ्यात्वरूपी रात्रिके अन्धकारसे आच्छादित इस पञ्चम कलिकालमें वह सम्यग्दर्शन प्रायः दुर्लभ है ॥१७९॥ यदि कोई इस श्रेष्ठतम सम्यग्दर्शनको प्राप्त होते भी हैं तो वे बाधाओंके समूहसे आक्रान्त हो

उसे शीघ्र ही छोड़ देते हैं ॥१८०॥ जो हजारों बाधाओंको पारकर उस शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करते हैं वे महस्वी—तेजस्वी क्यों नहीं हैं अर्थात् अवश्य हैं ॥१८१॥

आगे सम्यग्दृष्टि सात भयोंसे रहित होता है, यह कहते हैं—

सम्यग्दर्शनसंप्राप्त्या प्राप्तस्वात्मबलः पुमान् ।
इह लोके न कस्माच्चित् किञ्चिन्नाम बिभेति च ॥१८२॥
हृषीकसंघसंभूतं सुखमेतन्न तत्त्वतः ।
तृष्णावृद्धिकरत्वेन प्रत्युत दुःखमेव हि ॥१८३॥
अहं चात्मभवं सौख्यं तृष्णानाशकरं शुभम् ।
सर्वथा सततं भुञ्जे सम्यग्दर्शनधारणात् ॥१८४॥
प्रकृष्टवीर्यसंपन्नो मृगेन्द्रो यत्र कानने ।
गच्छति, निर्भयस्तत्र स्वैरं क्राम्यति सन्ततम् ॥१८५॥
अस्ति मे दर्शनं पूर्णमात्मनीनबलं ततः ।
यत्र यत्र गमिष्यामि सुखं यास्यामि तत्र वै ॥१८६॥
इत्थंभूतविचारेण लाञ्छितान्तःप्रवृत्तयः ।
सम्यग्दर्शनसंपन्नाः परलोकान्न बिभ्यति ॥१८७॥
अखण्डमरुजं नित्यममन्दानन्दपुञ्जितम् ।
प्रभवन्ति न मां हन्तुमाधिव्याधिशतान्यपि ॥१८८॥
करवालकलापेन प्रज्वलज्ज्वलनार्चिषा ।
भिद्यते दह्यते नापि यथा ह्याकाशमण्डलम् ॥१८९॥
तथा ममायमात्मापि भिन्द्याज्जातु न केनचित् ।
रक्षितोऽहं स्वतश्चैव निश्चयनयतः सदा ॥१९०॥
अमा ममात्मना बद्धो देहः कैरपि कर्हिचित् ।
रक्षितो नाभवन्नो वा भवति प्रभविष्यति ॥१९१॥
अवश्यं नाशशीलेऽस्मिन् स्वरूपाद्व्यतिरेकिणि ।
आत्मन् हठाग्रहस्तेऽयं राजते न हि जातुचित् ॥१९२॥

एवं विचारयन् सम्यग्दृष्टी रक्षकसंहतेः।
अभावान्नो बिभेतीह न परत्रापि कुत्रचित् ॥१९३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे जिसे आत्मबलकी प्राप्ति हुई है ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुष इस लोकमें किसीसे भयभीत नहीं होता है ॥१८२॥ इन्द्रियोंके समूहसे उत्पन्न हुआ यह वैषयिक सुख वास्तवमें सुख नहीं है किन्तु तृष्णाकी वृद्धि करनेवाला होनेसे दुःख ही है ॥१८३॥ मैं सम्यग्दर्शन धारण करनेसे आत्मोत्थ, शुभ तथा तृष्णाके नाशक सुखका सदा उपभोग करता हूँ ॥१८४॥ प्रकृष्ट बलसे युक्त सिंह वनमें जहाँ जाता है वहाँ निर्भय होकर निरन्तर घूमता है ॥१८५॥ मेरे पास सम्यग्दर्शनरूपी पूर्ण आत्मबल विद्यमान है अतः मैं जहाँ जहाँ जाऊँगा वहाँ वहाँ सुखको प्राप्त होऊँगा ॥१८६॥ इस प्रकारके विचारसे जिनकी अन्तःकरणकी प्रवृत्तियाँ सहित हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव परलोकसे नहीं डरते हैं ॥१८७॥

मैं अखण्ड हूँ, रोगरहित हूँ, नित्य हूँ तथा बहुत भारी—अनन्त सुखसे सम्पन्न हूँ अतः मानसिक और शारीरिक सैकड़ों पीड़ाएँ मुझे नष्ट करनेके लिए समर्थ नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव वेदनाजन्य भयसे निर्मुक्त रहता है ॥१८८॥

जिस प्रकार तलवारोंके समूह और जलती हुई अग्निकी ज्वालासे आकाश न भिदता है न जलता है उसी प्रकार मेरा यह आत्मा भी किसीके द्वारा कभी भेदा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता। मैं तो परमार्थसे सदा अपने आपके द्वारा सुरक्षित हूँ ॥१८९-१९०॥ मेरी आत्माके साथ जो शरीर लगा हुआ है वह कभी किन्हींके द्वारा न तो रक्षित हुआ है, न हो रहा है और न आगे होगा ॥१९१॥ जो अवश्य ही नश्वर है तथा आत्मस्वरूपसे भिन्न है ऐसे इस शरीरमें हे आत्मन्! तेरा यह हठाग्रह कभी शोभा नहीं देता ॥१९२॥ ऐसा विचार करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव रक्षकसमूहका अभाव होनेसे न इस भवमें भयभीत होता है और न कहीं परभवमें भयभीत होता है ॥१९३॥

आगे इसी सन्दर्भमें और भी कहते हैं—

यश्चायं हन्यते विघ्नैः सोऽहं नैव भवाम्यहो।
योऽहं केनाप्यसौ नूनं हन्यते न च जातुचित् ॥१९४॥
इत्येवं भावनादृप्तमानसोऽमितवैभवः।
सम्यग्दर्शनसंयुक्तोऽगुप्तितो न बिभेति वै ॥१९५॥

मरणं नैव मे जातु जनिश्चापि न मे क्वचित् ।
कुतस्तन्मरणाद् भीतिरहो मेऽनुपोऽमृतेः ॥१९६॥
एवं विचारसंपूर्णचेतसोऽमन्दबुद्धयः ।
मृत्योर्बिभ्यति नैवेह संसारे शुद्धदृष्टयः ॥१९७॥
ध्रुवं सत्यभयं नाम नात्मा कैरपि कारणैः ।
हन्यते भिद्यते वापि दह्यते शीर्यते क्वचित् ॥१९८॥
तेन पीनपयोधारासहस्रैश्चापि सन्ततम् ।
मघवा वर्षतु स्वैरमाक्रान्ताखिलभूतलम् ॥१९९॥
दरिद्रजीवसंघात-वैरिणी वनशोषिणी ।
हिमानी विश्वसंसारं नाशयेन्निजशैत्यतः ॥२००॥
ज्वलनो वा ज्वलज्ज्वालाजालकैर्जगतीतलम् ।
ज्वलयेज्जीवजातस्य प्राणघातविधायकः ॥२०१॥
अचलानां च तुङ्गानां शृङ्गोच्चालनतत्परः ।
चलीकृताचलश्चापि पवनः प्रवहेत् सदा ॥२०२॥
अमेघादपि मेघानां मार्गाद् वज्रसहस्रकम् ।
अमोघं निर्गतीभूय समन्ताज्ज्वलयेज्जगत् ॥२०३॥
अन्तर्ज्वालाज्वलद्दुष्टविस्फोटकपदार्थकैः ।
ज्वालामुखनगैः सर्वैररं नश्येदिदं जगत् ॥२०४॥
भूकम्पो भूविदारो वा नाशिताखिलमन्दिरः ।
हतानेकशतप्राणिसंघः संपातयेद् ध्रुवम् ॥२०५॥
अलं बहुप्रजल्पेन प्रलयोऽपि महीतलम् ।
लीनं वा क्षणतः कुर्यादखिलध्वंसनोद्यतः ॥२०६॥
सर्वेऽप्येते न संगत्य ह्यात्मानं घ्नन्ति मे क्वचित् ।
अंशतोऽपि ततश्चाहं न बिभेम्यत्र जातुचित् ॥२०७॥
एवं विचारसारेण निर्मलीकृतमानसाः ।
आकस्मिकभयात् किञ्चित्सन्तो हंत न बिभ्यति ॥२०८॥

एवं सप्तभयातङ्कनिर्मुक्तः शुद्धदृष्टिमान् ।
निःशङ्कश्चेष्टते नूनं सर्वत्रैव च सर्वदा ॥२०९॥

अर्थ—अहो! जो यह विघ्नोंके द्वारा नष्ट होता है वह मैं नहीं हूँ और मैं जो हूँ वह कभी किसीके द्वारा नष्ट नहीं होता। भावार्थ—यह पुद्गल द्रव्यकी पर्यायरूप शरीर ही विघ्नोंके द्वारा नष्ट होता है, वह परमार्थसे मेरा नहीं है। मैं ज्ञायकस्वभाववाला अखण्ड स्वतन्त्र द्रव्य हूँ, शरीरसे भिन्न हूँ। इसे नष्ट करनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है ॥१९४॥ इस प्रकारकी भावनामें जिसका मन लगा हुआ है तथा जो अपरिमित आत्मवैभवका धारक है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अगुप्तिभयसे भयभीत नहीं होता ॥१९५॥

मेरा न कभी मरण होता है और न कहीं मेरा जन्म होता है। जब मैं जन्म और मरण—दोनोंसे रहित हूँ तब मुझे मरणभय कैसे हो सकता है। इस प्रकारके विचारसे जिनके चित्त परिपूर्ण हैं तथा जो प्रबुद्ध वृत्ति वाले हैं—अर्थात् ज्ञानमय प्रवृत्ति रखते हैं ऐसे शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव इस संसारमें मृत्युसे नहीं डरते हैं ॥१९६-१९७॥

यह ध्रुव सत्य है कि मेरा यह आत्मा कहीं किन्हीं कारणोंके द्वारा न नष्ट होता है, न भेदको प्राप्त होता है, न जलता है और न जीर्ण-शीर्ण होता है। इसलिए चाहे मेघ मोटी हजारों जलधाराओंके द्वारा स्वच्छन्दता पूर्वक समस्त पृथिवीतलको व्याप्त करता हुआ निरन्तर वर्षा करे। चाहे दरिद्र जीवोंके समूहको दुःख देनेवाली और वनको सुखा देने वाली हिम-पङ्क्ति अपनी ठण्डसे समस्त संसारको नष्ट कर दे। चाहे जीवसमूहके प्राणोंका घात करने वाली अग्नि, जलती हुई ज्वालाओंकी सन्ततिसे पृथिवीतलको भस्म कर दे। चाहे उन्नत पर्वतोंके शिखरोंको विचलित करनेमें समर्थ तथा पृथ्वीको कम्पित कर देने वाला पवन सदा चले। चाहे व्यर्थ न जाने वाले हजारों वज्र मेघरहित आकाशसे निकलकर सब ओर जगत्को भस्म कर दें। चाहे भीतरकी ज्वालाओंसे जलते हुए दूषित विस्फोटक पदार्थोंसे सहित ज्वालामुखी पर्वतोंके द्वारा यह जगत् शीघ्र ही नष्ट हो जावे। और चाहे समस्त मकानोंको ध्वस्त कर देनेवाला तथा प्राणिसमूहका संहारक भूकम्प या भूस्फोटन—भूमिका फट जाना, पृथ्वीको नष्ट कर दे। अथवा अधिक कहनेसे क्या लाभ है? सबके नष्ट कर देनेमें तत्पर प्रलय भी पृथ्वीतलको क्षणभरमें विलीन कर दे। तो भी ये सब मिलकर मेरी आत्माको कहीं अंशरूपमें भी नष्ट करनेको समर्थ

नहीं हैं इसलिये मैं इस जगत्में कभी भयभीत नहीं होता हूँ। इस प्रकार के श्रेष्ठ विचारोंसे जिनके हृदय निर्मल हैं ऐसे सत्पुरुष हर्ष है कि आकस्मिक भयसे कुछ भी नहीं डरते हैं। इस प्रकार सप्तभयरूपी रोगसे निर्मुक्त सम्यग्दृष्टि जीव, निशङ्क होकर सर्वत्र सर्वदा चेष्टा करता है ॥ १९८-२०९ ॥

अब आगे आठ अङ्गोंके द्वारा सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कहते हुए सर्व प्रथम निःशङ्कित अङ्गका वर्णन करते हैं—

अथाष्टाङ्गतया तस्य किञ्चिन्माहात्म्यमान्तरम् ।
वच्म्याचार्यकृतग्रन्थप्रतिपादितरीतितः ॥२१०॥
अन्यथा कथने नाम वक्तुरज्ञानमोहिते ।
सर्वथा निश्चितौ हेतू लोके सर्वत्र सर्वदा ॥२११॥
प्रमाणैर्निश्चितं, नैतद् द्वयमर्हद्भगवति ।
तेनोक्ते मूलतः शास्त्रसंघे को नाम संशयः ॥२१२॥
इतराण्यपि शास्त्राणि तेषामाम्नायतो बुधैः ।
रचितानि समस्तानि तत्त्रापि न संशयः ॥२१३॥
युक्तिगम्यं ततस्तत्त्वमवधार्यं सुयुक्तिभिः ।
ततोऽन्यच्चाप्तवाक्येभ्यः श्रद्धेयं सततं मया ॥२१४॥
इत्थं युक्तियुते शास्त्रे हिते चाप्तनिबन्धने ।
सुधीः सम्यक्त्वसम्पन्नो निःशङ्को भुवि राजते ॥२१५॥

अर्थ—अब आचार्य प्रणीत ग्रन्थोंमें प्रतिपादित रीतिके अनुसार आठ अङ्गोंके रूपमें उस सम्यग्दर्शनका कुछ अन्तरङ्ग माहात्म्य कहते हैं ॥२१०॥ लोकमें सर्वत्र सब समय असत्य कथन करनेमें दो ही कारण सब प्रकारसे निश्चित हैं—एक वक्ताका अज्ञान और दूसरा वक्ताका मोह अर्थात् सकषाय परिणति ॥२११॥ परन्तु यह प्रमाणों द्वारा निश्चित है कि अरहन्त भगवान्में अज्ञान और मोह—दोनों नहीं हैं इसलिये मूलरूपसे अरहन्तके द्वारा कहे हुए शास्त्रसमूहमें संशयकी क्या बात है? ॥२१२॥ अन्य समस्त शास्त्र भी उन्हीं अरहन्त भगवान्की आम्नायके अनुसार विद्वानोंके द्वारा रचे गये हैं इसलिये उनमें भी संशय नहीं है ॥२१३॥ इसलिये जो तत्त्व युक्तिगम्य है उसका तो उत्तम युक्तियोंके द्वारा निर्धार करना चाहिये और जो युक्तिगम्य नहीं है उसको मुझे आप्तके वचनों

द्वारा श्रद्धा करना चाहिये ॥२१४॥ इस प्रकार युक्तियुक्त, हितकारी, आप्तप्रणीत शास्त्रके विषयमें सम्यक्त्वसे युक्त ज्ञानी पुरुष पृथ्वीपर निःशङ्क रहता है ॥२१५॥

आगे निःकांक्षित अङ्गका निरूपण करते हैं—

अक्षवर्गसमुत्पन्नं सौख्यं नाम न तत्त्वतः ।
तृष्णावृद्धिकरत्वेन प्रत्युत दुःखमेव हि ॥२१६॥
यथा हि क्षारपानीयपानेन न तृषाक्षयः ।
तथा भोगानुभोगेन नैव तृष्णापरिक्षयः ॥२१७॥

इमे भोगा भुजङ्गाश्च समानाः भुवि सन्ति हि ।
हेयोपादेयतत्त्वज्ञैर्नोपादेयाः कदाचन ॥२१८॥
यद्वा भुजङ्गभूपालदष्टो मृत्युं सकृद् व्रजेत् ।
भोगदष्टास्तु बहुशो व्रजन्त्येव न संशयः ॥२१९॥

सबाधं परतन्त्रं च दुःखदं क्षणभङ्गुरम् ।
तृष्णावृद्धिकरं चाल्पं सौख्यं ह्यक्षसमुत्थितम् ॥२२०॥
एतेषां वशितां नाम प्राकृता यान्तु मानवाः ।
अतिप्रगाढमिथ्यात्वतमसाहतचक्षुषः ॥२२१॥

हन्त हन्त सुरेन्द्रोऽपि नागेन्द्रोऽपि हलायुधः ।
अलं तीर्थकरश्चापि विषयैः परिभूयते ॥२२२॥
भोगेच्छाप्रभवं दुःखं सोढुं शक्ता न जन्तवः ।
रमन्ते पुत्रमित्रालीकलत्रेषु पुनः पुनः ॥२२३॥

परन्तु लब्धबोधैस्तैर्ज्ञातास्वादैर्हितेच्छुभिः ।
अन्ततस्त्यज्यते नूनं भोगभोगिकदम्बकम् ॥२२४॥

लब्धसम्यक्त्वदेवद्रोः किं मे भोगानुकाङ्क्षणम् ।
सर्वथा विषयेच्छाभिः परिमुक्तो भवाम्यहम् ॥२२५॥
गृहीत्वानन्तरं तेषां त्यागे का नाम विज्ञता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥२२६॥

एवं विचारितार्थः स सम्यग्दर्शनसंभृतः।
निःकाङ्क्षत्वं प्रयात्येव गतेच्छोऽपि शिवेच्छनः ॥२२७॥

अर्थ—इन्द्रियसमूहके द्वारा उत्पन्न हुआ सुख वास्तवमें सुख नहीं है किन्तु तृष्णावृद्धिका कारण होनेसे दुःख ही है ॥२१६॥ जिस प्रकार खारा पानी पीनेसे तृषाका नाश नहीं होता है उसी प्रकार भोगोंको भोगनेसे तृष्णाका नाश नहीं होता है ॥२१७॥ पृथ्वीपर ये भोग और भुजङ्ग—सर्प एक समान हैं अतः हेय उपादेय तत्त्वोंके ज्ञाता पुरुषोंके द्वारा कभी भी उपादेय नहीं हैं ॥२१८॥ अथवा भुजङ्गसे डसा हुआ मनुष्य तो एक ही बार मृत्युको प्राप्त होता है परन्तु भोगोंके द्वारा डसे हुए मनुष्य बार-बार मृत्युको प्राप्त होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ २१९ ॥ इन्द्रियजन्य सुख बाधा सहित है, परतन्त्र है, दुःखदायक है, क्षणभंगुर है, तृष्णाको बढ़ाने वाला है और अल्प है ॥२२०॥ तीव्र मिथ्यात्वरूपी अन्धकारसे जिनके ज्ञाननेत्र नष्ट हो गये हैं ऐसे साधारण मनुष्य इन भोगोंकी अधीनताको भले ही प्राप्त हो जावें परन्तु अत्यन्त दुःखकी बात है कि इन्द्र, नागेन्द्र, बलभद्र और तीर्थंकर भी विषयोंसे परिभूत हो जाते हैं ॥२२१-२२२॥ भोगोंकी इच्छासे उत्पन्न हुए दुःखोंको सहन करनेके लिये असमर्थ प्राणी बार-बार पुत्र, मित्रसमूह तथा स्त्रियोंमें रमण करते हैं—उनमें ममत्व बुद्धि उत्पन्न करते हैं ॥२२३॥ परन्तु पूर्वोक्त महापुरुषोंको जब आत्मबोध होता है—अपने वीतराग स्वरूपकी ओर जब उनका लक्ष्य जाता है तब वे विषयोंका स्वाद जान कर आत्महितकी इच्छा करते हुए अन्तमें निश्चित ही उन भोगरूपी सर्पोंके समूहका परित्याग कर देते हैं ॥२२४॥ मुझे सम्यक्त्वरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त हुआ है अतः भोगोंकी इच्छा करना क्या है ? मैं विषयोंकी इच्छासे सर्वथा मुक्त होता हूँ ॥२२५॥ पहले ग्रहणकर पीछे विषयोंके त्याग करनेमें क्या चतुराई है ? कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका दूरसे स्पर्श नहीं करना ही अच्छा है ॥२२६॥ इस प्रकार विचार करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव निःकांक्षत्वको ही प्राप्त होता है। सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि निःकांक्ष होता है तथापि मोक्षकी इच्छा रखता है ॥२२७॥

आगे निर्विचिकित्सा अङ्गका निरूपण करते हैं—

पापेऽनास्था हि कर्तव्या नैव पापिनि जातुचित्।
जीवत्वेन समाः सर्वे पापाः पापबहिर्गताः ॥२२८॥

कालद्रव्यसहायेन द्रव्यवृन्दं विवर्तते ।
अशुभैश्च शुभैर्वापि परिणामैर्निरन्तरम् ॥२२९॥
शुभानिष्टकरांस्तत्र रागात्पश्यन्ति जन्तवः ।
अनिष्टानशुभांश्चैव द्वेषान्मूढदृशस्तथा ॥२३०॥
यदा तत्त्वेन पश्यामः पदार्थान् सकलान् वयम् ।
अशुभो न शुभः कश्चिन्मिथ्येयं मे प्रकल्पना ॥२३१॥
तस्य द्रव्यस्य पर्यायस्तथाभूतः प्रजायते ।
प्रीत्याप्रीत्यापि मे किं स्यात्परिणामे तथा दृशे ॥२३२॥
गुणाः पूज्या न वर्ष्माणि महतामपि देहिनाम् ।
अस्त्येतन्निश्चितं यत्र जगत्यामागमेऽपि च ॥२३३॥
गुणैः पवित्रिते तत्र मुनीनां च कलेवरे ।
जुगुप्सा का ममेयं भो हन्त मूढमतेरहो ॥२३४॥
एवं भाविततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिः पुमान् सदा ।
निर्गतो विचिकित्साया अमन्दानन्दमश्नुते ॥२३५॥

अर्थ—पापमें अनास्था करना चाहिये, पापी जीवपर अनास्था नहीं करना चाहिये, क्योंकि पापी और पापसे रहित—सभी जीव, जीवत्व सामान्यकी अपेक्षा समान हैं। भावार्थ—पापी जीवपर जो अनास्था की जाती है वह पापके कारण की जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव, किसी पापीको देख विचार करता है कि देखो, बेचारा कर्मोदयसे ग्रस्त हो अपने हितका विचार न कर अहितमें प्रवृत्त हो रहा है। मैं इसे हितका उपदेश देकर सुमार्गपर लगा सकूँ तो मेरा अनुकम्पा नामका गुण चरितार्थ होगा और इसका कल्याण होगा। समय आनेपर पापी जीव भी पापका परित्यागकर सुमार्गपर आते हैं। इसलिये उन्हें सर्वथा उपेक्षित या अनादृत नहीं करना चाहिये ॥२२८॥ कालद्रव्यके निमित्तसे द्रव्योंका समूह निरन्तर शुभ अथवा अशुभ पर्यायरूप परिणमन करता है। उन शुभ अशुभ पर्यायोंमेंसे मिथ्यादृष्टि जीव शुभ पर्यायोंको रागवश इष्ट और अशुभ पर्यायोंको द्वेषवश अनिष्ट मानते हैं। परन्तु जब परमार्थसे हम समस्त पदार्थोंका विचार करते हैं तब न कोई शुभ–इष्ट है और न कोई अशुभ–अनिष्ट है मेरी यह कल्पना मिथ्या प्रतीत होती है। उस द्रव्यकी वैसी पर्याय हो रही है उस

पर्यायमें मुझे प्रीति और अप्रीतिसे क्या प्रयोजन है ? भावार्थ—चरणानुयोगकी आज्ञानुसार ज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंमें यद्यपि शुद्धि अशुद्धिका पूर्ण विचार रखता है तथापि अपने हृदयमें ग्लानि—जुगुप्साको आश्रय नहीं देता ॥२२९-२३२॥ बड़े-बड़े पुरुषोंके भी गुण पूज्य हैं शरीर नहीं। अर्थात् महापुरुषोंके जो शरीरकी पूजा होती है वह गुणोंके कारण ही होती है, यह लोक तथा आगम—दोनोंमें निश्चित है ॥२३३॥ इसलिये गुणोंसे पवित्र मुनियोंके शरीरमें मुझ अज्ञानीकी जो यह जुगुप्सा होती है वह क्या है? भावार्थ—रत्नत्रयसे पवित्र मुनियोंके शरीरमें अज्ञानी जीव ही ग्लानि करते हैं, आत्मगुणके पारखी नहीं। अब मेरा मिथ्याभाव विलीन हो गया और उसके स्थानपर शुद्धसम्यक्त्वभाव प्रकट हुआ है अतः मुझे मुनियोंके मलिन शरीरमें ग्लानि करना उचित नहीं है ॥२३४॥ इस प्रकार पदार्थके यथार्थ स्वरूपका विचार करनेवाला सम्यग्दृष्टि पुरुष विचिकित्सा—ग्लानिसे रहित होता हुआ सदा बहुत भारी आनन्दको प्राप्त होता है ॥२३५॥

आगे अमूढदृष्टि अङ्गका वर्णन करते हैं—

देवः स एव पूज्यः स्याद्यः स्याद् रागविवर्जितः ।
सर्वज्ञो हितदर्शी च भव्यानां हितकामिनाम् ॥२३६॥
तथाभूतो महेशो वा ब्रह्मा विष्णुश्च मारजित् ।
कपिलो वा जिनो वापि रामो वातसुतो[1]ऽपि च ॥२३७॥
नाम्ना नामाथ केनापि मण्डितो नु भवेदसौ ।
पण्डितानां समाराध्यो हितप्राप्त्यै निरन्तरम् ॥२३८॥
यः स्वयं रागरोगेण दिव्य[2]चक्षुर्भवेदसौ ।
इतरान् स कथं ब्रूयान्मोक्षपत्तनपद्धतिम् ॥२३९॥
स[3] देवानां प्रियो वापि तत्त्वातत्त्वविचारणे ।
कथं स्याद्धितकामानां हितोपदेशनतत्परः ॥२४०॥
अर्हतोक्तं विनिर्मुक्तं बाधाभिर्वादिदुर्जयम् ।
शास्त्रं प्रमाणतोपेतं मान्यं मान्यगुणं मम ॥२४१॥

---

१. हनूमान् । २. अन्धः 'दिव्यचक्षुः सुनयने कृष्णेऽन्धे सिंहकेऽपि च, इति विश्वलोचनः । ३. मूर्खः 'देवानां प्रियः इति च मूर्खे' इति सिद्धान्तकौमुदी ।

यस्य वक्ता न सर्वज्ञो वीतरागो महामुनिः ।
प्रामाण्यं तत् कथं गच्छेद् रथ्यामानववागिव ॥२४२॥
विषयाशावहिर्भूतस्त्यक्तारम्भचयोऽपि च ।
ग्रन्थातीतो गुरुः पूज्यः शश्वन्मम न चेतरः ॥२४३॥
ये संयमभरं प्राप्य प्रमाद्यन्ति मुनीश्वराः ।
अक्षपाटच्चरैर्नूनं ह्रियन्ते ते कथं न हि ॥२४४॥
प्रत्यक्षादेव ये ग्रन्थभारं हन्त भरन्ति वै ।
यतयस्ते ब्रुडन्त्येव चिरं संसारसागरे ॥२४५॥
एतेषां भक्तिसम्पन्ना नरा नाम भवोदधौ ।
पाषाणपोतमध्यस्था इव मज्जन्ति हा चिरम् ॥२४६॥
चिरं मिथ्यात्वचूर्णेन विमुग्धीकृतलोचनः ।
अभजं हन्त तानेतान् केवलं भवसंचरान् ॥२४७॥
मिथ्यातपश्चमत्कारैरेतेषां च चमत्कृतः ।
अथतो न भविष्यामि शुद्धदर्शनवानहम् ॥२४८॥
सम्यग्दृष्टिरयं हीदृग्भावनोपेतमानसः ।
नो कदापि निजां दृष्टिं मूढां वै कुरुते क्वचित् ॥२४९॥

अर्थ—वही देव पूज्य है जो रागसे रहित हो, सर्वज्ञ हो और हिताभिलाषी भव्योंको हितका उपदेश देनेवाला हो ॥२३६॥ उपर्युक्त तीन गुणोंसे सहित चाहे महेश हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो, बुद्ध हो, कपिल हो, जिन हो, राम हो, हनूमान् हो अथवा किसी अन्य नामसे सुशोभित हो, हितकी प्राप्तिके लिये ज्ञानी जनोंका निरन्तर आराधनीय—सेवा करने योग्य है ॥२३७–२३८॥ जो स्वयं रागरूपी रोगके द्वारा अन्धा हो वह दूसरे जीवोंको मोक्षरूपी नगरका मार्ग कैसे बता सकता है ? ॥२३९॥ जो तत्त्व और अतत्त्वका विचार करनेमें स्वयं अज्ञानी है वह दूसरे हिताभिलाषी जनोंको हितका उपदेश देनेमें समर्थ कैसे हो सकता है ? ॥२४०॥

जो अरहन्तके द्वारा कहा गया हो, बाधाओंसे रहित हो, वादियोंके द्वारा दुर्जेय हो, प्रमाणतासे सहित हो तथा मान्यगुणोंसे सहित हो; ऐसा शास्त्र ही मुझे मान्य है ॥२४१॥ जिस शास्त्रका मूल वक्ता वीतराग सर्वज्ञ

महामुनि नहीं है वह सड़कपर चलने वाले मनुष्यके वचनके समान प्रमाणताको कैसे प्राप्त हो सकता है ॥२४२॥

जो विषयोंकी आशासे दूर है, जिसने सब प्रकारका आरम्भ छोड़ दिया है तथा जो परिग्रहसे रहित है ऐसा गुरु ही मुझे निरन्तर पूज्य है अन्य नहीं ॥२४३॥ जो मुनिराज संयमका भार धारणकर प्रमाद करते हैं वे निश्चित ही इन्द्रियरूपी चोरोंके द्वारा कैसे नहीं लुटते हैं अर्थात् अवश्य लुटते हैं ॥२४४॥ खेद है कि जो प्रत्यक्ष ही परिग्रहका भार धारण करते हैं वे मुनि चिरकालके लिये संसाररूपी सागरमें नियमसे डूबते हैं ॥२४५॥ इन परिग्रही मुनियोंके जो भक्त हैं वे पत्थरके नावके मध्यमें बैठे हुए मनुष्योंके समान संसाररूपी सागरमें चिरकालके लिये डूबते हैं ॥२४६॥ बड़े दुःखकी बात है कि मिथ्यात्वरूपी चूर्णके द्वारा जिसके नेत्र मोहको प्राप्त हो रहे हैं ऐसे मैंने मात्र संसारमें परिभ्रमण करनेवाले इन कुगुरुओंकी चिरकाल तक भक्ति की है ॥२४७॥ अब मैं शुद्ध—सम्यग्दर्शनसे सहित हुआ हूँ अतः इन कुगुरुओंके मिथ्यातप सम्बन्धी चमत्कारोंके द्वारा आजसे चमत्कृत नहीं होऊँगा ॥२४८॥ इस प्रकारकी भावनासे जिसका चित्त सहित है ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयसे कभी भी और कहीं भी अपनी दृष्टि—श्रद्धाको मूढ नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि वह अमूढदृष्टि अङ्गका धारक होता है ॥२४९॥

आगे उपगूहन अङ्गकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनकी महिमा कहते हैं—

जनन्या इव जातानां परेषां दूषणोच्चयम् ।
लोकानां पुरतो नूनमनुद्भावयतः सदा ॥२५०॥
तद्दूषणापसारेच्छावशतोऽपि क्वचित् क्वचित् ।
कदाचित्सभ्यगोष्ठीषु प्रकटीकुर्वतोऽपि तत् ॥२५१॥
कृपणस्येव वित्तं स्वं सुगुणानां कदम्बकम् ।
पुरतः परलोकानां न ह्युद्भावयतः क्वचित् ॥२५२॥
सम्यग्दर्शनसंभूषासंभूषिततनोर्मम ।
वर्द्धते परमं शश्वदुपगूहनमङ्गकम् ॥२५३॥

अर्थ—जिस प्रकार माता दूसरोंके सामने अपने पुत्रोंके दोषसमूहको प्रकट नहीं करती इसी प्रकार जो दूसरोंके दोषसमूहको कभी लोगोंके सामने प्रकट नहीं करता, परन्तु कभी कहीं-कहीं उनके दोष दूर करनेकी

इच्छासे उस समूहको सम्यजनोंकी गोष्ठीमें प्रकट भी करता है। साथ ही जिस प्रकार कंजूस मनुष्य अपने धनको दूसरोंके सामने प्रकट नहीं करता इसी प्रकार जो अपने उत्तम गुणोंके समूहको कहीं दूसरोंके समक्ष प्रकट नहीं करता। तथा सम्यग्दर्शनसे जिसका शरीर विभूषित है ऐसे मेरा उपगूहन अङ्ग निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होता है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव कभी किसीके दोषोंको नहीं कहता है किन्तु उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करता है। जब कभी ऐसी स्थिति दिखती है कि उसके कहने तथा समझनेसे भी किसीका दोष छूटता नही है तब उस दोषको दूर करनेकी इच्छासे दूसरे प्रभावशाली सभ्य मनुष्योंके सामने प्रकट भी करता है। और उनके प्रभावसे उस दोषको छुड़ानेका प्रयत्न करता है। इस उपगूहन अङ्गका दूसरा नाम उपबृंहण अङ्ग भी है जिसका अर्थ होता है अपने गुणोंकी वृद्धि करना। जिस प्रकार व्यापारी मनुष्य निरन्तर अपनी पूँजी को बढ़ानेका प्रयत्न करता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी आत्मगुणोंको बढ़ानेका प्रयत्न करता है। २५०-२५३॥

आगे स्थितिकरण अङ्गके द्वारा सम्यग्दर्शनकी चर्चा करते हैं—

कुतोऽपि कारणात्स्वं वा परं चापि सधर्मणम्।
सश्रद्धाबोधचारित्राच्च्यवन्तं धर्मतः क्वचित् ॥२५४॥
तथोपदेशतो धैर्यदानादात्मसमर्पणात्।
वृत्तिव्रातविधानेन व्याधिविध्वंसनात्तथा ॥२५५॥
अन्येनापि प्रकारेण भूयः श्रद्धानशालिनः।
सुस्थिरं विदधत्येव चिरं सद्धर्मधारणे ॥२५६॥

अर्थ—किसी कारण कहीं सम्यग्दर्शन ज्ञान, और चारित्ररूप धर्मसे च्युत होते हुए अपने आपको तथा अन्य सहधर्मा बन्धुको उस प्रकारका उपदेश देनेसे, धैर्य प्रदान करनेसे, अपने आपके समर्पणसे, आजीविकाओं-का समूह लगानेसे, बीमारी दूर करनेसे तथा अन्य प्रकारसे सम्यग्दृष्टि मनुष्य समीचीन धर्मके धारण करनेमें चिरकालके लिये अत्यन्त स्थिर कर देते हैं। भावार्थ—यदि किसी परिस्थितिवश अपना चित्त समीचीन धर्मसे विचलित हो रहा हो तो पूज्य पुरुषोंके गुणस्मरणके द्वारा उसे धर्म-में स्थिर करना चाहिये। इसी प्रकार यदि कोई अन्य सहधर्मी भाई बीमारी, आजीविका नाश या अन्य किन्हीं कारणोंके द्वारा धर्मसे च्युत

हो रहा हो तो उसे सब प्रकारकी सहायता देकर धर्ममें स्थिर करना चाहिये, यही स्थितिकरण अङ्ग है ॥२५४–२५६॥

आगे वात्सल्य अङ्गके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीवोंकी चर्चा करते हैं—

श्रद्धाबोधसुवृत्तादिस्वगुणानां कदम्बके ।
सततं प्रीतिसम्पन्ना नरा भव्या भवन्ति हि ॥२५७॥
गोगणा इव वत्सानां सम्यग्धर्मविशोभिनाम् ।
उपरि प्रेमवन्तोऽपि श्रद्धावन्तो भवन्ति च ॥२५८॥

अर्थ—भव्य मनुष्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि आत्मगुणोंके समूहपर निरन्तर प्रीतिसे युक्त होते हैं ॥२५७॥ जिस प्रकार गायोंके समूह अपने बछड़ोंपर प्रीतिसे युक्त होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मनुष्य समीचीन धर्मसे युक्त मनुष्योंपर प्रीतिसे युक्त होते हैं ॥२५८॥

आगे प्रभावना अङ्गका वर्णन करते हैं—

पुस्तकानां प्रदानेन विद्यालयविधानतः ।
व्याख्यानात्तत्त्वजातस्य शास्त्रवाचनतस्तथा ॥२५९॥
पठतां पाठकानां च योग्यवृत्तिव्यवस्थया ।
देशकालोचितैरन्यैरप्युपायैर्निरन्तरम् ॥२६०॥
आत्मनश्च परेषां चाबोधध्वान्तततिं तथा ।
हत्वा जिनेन्द्रमाहात्म्यप्रभावः क्रियते बुधैः ॥२६१॥
अष्टावपि गुणानेतानात्मगान्परगानपि ।
सम्यग्दर्शनसंपन्ना धरन्त्येव न संशयः ॥२६२॥

अर्थ—पुस्तकोंके दानसे, विद्यालय बनानेसे, तत्त्वसमूहके व्याख्यानसे, शास्त्रप्रवचनसे, पढ़नेवाले छात्रों और पढ़ानेवाले अध्यापकोंकी योग्य जीविकाकी व्यवस्था करनेसे तथा देश और कालके योग्य अन्य उपायोंसे विद्वज्जन अपने तथा दूसरोंके अज्ञानान्धकारके समूहको नष्ट कर निरन्तर जिनेन्द्रदेवके माहात्म्यकी प्रभावना करते हैं। भावार्थ—लोगोंके हृदयमें जो धर्म विषयक अज्ञान फैला हुआ है उसे नष्ट कर जिनधर्मका प्रभाव फैलाना प्रभावना अङ्ग है ॥२५९–२६१॥ सम्यग्दृष्टि जीव स्व-परसे सम्बन्ध रखनेवाले इन आठ गुणोंको नियमसे धारण करते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥२६२॥

आगे सम्यग्दृष्टिके आठ भेदोंका अभाव बतलानेके लिये कहते हैं—

नाशशीलं पराधीनमल्पमल्पार्थबोधकम् ।
क्षायोपशमिकं ज्ञानं लब्ध्वा का नाम मानिता ॥२६३॥
महतामपि लोकानां प्रतिष्ठा महती पुरा ।
पश्यतो जगतो नष्टा का नु तत्राभिमानिता ॥२६४॥
उच्चैःकुलसमुत्पन्ना अपि पापप्रवृत्तितः ।
परत्राधमगोत्रत्वं यान्ति का मेऽत्र मानिता ॥२६५॥
कामं मे मातुलो नाम भवेत्संपदधीश्वरः ।
मम किं तेन मान्यत्वं वृथा हा मानितेह मे ॥२६६॥
स्वस्मादूर्ध्वप्रदानेन दृष्टेः सर्वेऽपि जन्तवः ।
निर्बलाः सन्ति सर्वत्र नोचिता मम मानिता ॥२६७॥
ऋद्धिबुद्धिधरा देवा अपि नश्यन्ति यत्र भोः ।
अल्पर्द्धाविह किं तत्र मम स्यान्मानितोचिता ॥२६८॥
मानाहिराजसंदष्टा महान्तोऽपि तपस्विनः ।
श्वभ्रावासमहो यान्ति यत्तत्का मेऽभिमानिता ॥२६९॥
वपुषा कामदेवा ये जाता भुवि महीश्वराः ।
तेऽपि नाशं गता यस्माद् वृथा तन्मेऽभिमानिता ॥२७०॥
स्वस्मादूर्ध्वप्रदानेन दृष्टेरल्पतरोऽखिलः ।
मेरुदर्शनतो विन्ध्य-पर्वतः कीटकायते ॥२७१॥
एवं सम्यक्त्वसम्पन्ना महाभागजनेश्वराः ।
मदेनाष्टविधेनेह नैव माद्यन्ति जातुचित् ॥२७२॥

अर्थ— नश्वर, पराधीन, अल्प और अल्प पदार्थोंका बोध करानेवाले क्षायोपशमिक ज्ञानको प्राप्त कर अहंकार करना क्या है ? ॥२६३॥ पहले इस संसारमें देखते-देखते जगत्‌के महापुरुषोंकी भी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा नष्ट हो चुकी है तब वहाँ मेरा अहंकार करना क्या है ॥२६४॥ उच्च कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य भी पापप्रवृत्तिके कारण परलोकमें नीचगोत्रको प्राप्त हो जाते हैं तब इस विषयमें मेरा अभिमान करना क्या है ? ॥२६५॥

भले ही मेरे मामा सम्पत्तिके अधीश्वर हों, पर उससे मेरी कौन-सी मान्यता हो जाती है ? अर्थात् कुछ भी नहीं, इसलिए इस विषयमें मेरा अहंकार करना व्यर्थ है ॥२६६॥ यदि अपनी दृष्टि अपनेसे ऊपरकी ओर दी जावे अर्थात् अपनेसे अधिक बलवान्की ओर देखा जावे तो सर्वत्र सभी प्राणी निर्बल हैं अतः मेरा बलका अभिमान करना उचित नहीं है ॥२६७॥ ऋद्धि और बुद्धिको धारण करनेवाले देव भी जहाँ नष्ट हो जाते हैं वहाँ अल्प ऋद्धिमें मेरा अहंकार करना क्या उचित है ? अर्थात् नहीं ॥२६८॥ मान-रूपी नागराजके द्वारा डशे हुए बड़े-बड़े तपस्वी भी, आश्चर्य है कि, नरक वासको प्राप्त होते हैं अतः मेरा तपका अभिमान करना क्या है ? ॥२६९॥ पृथिवीपर जो राजा शरीरसे कामदेव थे वे भी जब नष्ट हो गये तब मेरा रूपका अभिमान करना व्यर्थ है ॥२७०॥ यदि अपनी दृष्टि अपनेसे बड़े लोगोंपर दी जावे तो सब अत्यन्त लघु हो जावें जैसे मेरु पर्वतके देखनेसे विन्ध्याचल कीटके समान जान पड़ने लगता है ॥२७१॥ ऐसा विचारकर महाभाग्यशाली सम्यग्दृष्टि जीव आठ प्रकारके मदसे कभी भी उन्मत्त नहीं होते हैं। भावार्थ—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ बातोंको लेकर मिथ्यादृष्टि मानव अहंकार करते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि जीवोंका निश्चय होता है कि ये क्षायोपशमिक ज्ञान आदि आठ वस्तुएँ आत्माकी निज परिणति नहीं हैं किन्तु परनिमित्त-से होनेवाले वैभाविक गुण अथवा पर्याय हैं। परनिमित्तजन्य पदार्थ, परके रहते हुए ही होते हैं परका नाश होनेपर नहीं। और परका परिणमन उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावपर अवलम्बित है अतः पराश्रित वस्तुका अहंकार करना उचित नहीं है। इसी विचारसे सम्यग्दृष्टि जीव आठ मदोंसे रहित होवे हैं ॥२७२॥

आगे सम्यग्दृष्टि जीवके छह अनायतन नहीं होते हैं, इसका वर्णन करते हैं—

देवं दोषालयं मिथ्या-बोधमण्डनमण्डितम् ।
खण्डितं महिलालास्यैः पण्डया च बहिष्कृतम् ॥२७३॥
विषयाशावशं नित्यमारम्भोच्चयमन्दिरम् ।
परिग्रहैः परिग्रस्तं कुगुरुं कुगुणालयम् ॥२७४॥
संसारभूजसंबीजं रागद्वेषप्रवर्तनम् ।
मोक्षप्रवेशमार्गस्थकपाटं कपटोत्कटम् ॥२७५॥

अहिंसाकल्पवल्लीनां दावपावकमुत्कटम् ।
भव्यचित्तपयोजालीनक्तंनाथमधर्मकम् ॥२७६॥
एतेषां सेवकानां च संहतिं शुद्धदृष्टयः ।
धर्मबुद्धिभृतः सन्तो न नमन्तीह जातुचित् ॥२७७॥

अर्थ—दोषोंके स्थान, मिथ्याज्ञानसे सहित, स्त्रियोंके विलासोंसे खण्डित तथा भेदज्ञानसे रहित देवको, निरन्तर विषयोंकी आशाके वशीभूत, आरम्भसमूहके स्थान, परिग्रहोंसे ग्रस्त और कुत्सित गुणोंके घर कुगुरुको, एवं संसाररूपी वृक्षके बीज, रागद्वेषको प्रवर्ताने वाले, मोक्षद्वारपर लगे हुए कपाट, कपटसे युक्त, अहिंसारूपी कल्पनाओंको भस्म करनेके लिए प्रचण्ड दावानल तथा भव्यजीवोंके हृदयरूपी कमल-समूहको संकुचित करनेके लिए चन्द्रमास्वरूप अधर्मको और इन तीनोंके सेवकोंके समूहको धर्मबुद्धिके धारक सम्यग्दृष्टि जीव इस जगत्में कभी भी नमस्कार नहीं करते हैं। भावार्थ—आयतन स्थानको कहते हैं और अनायतन अस्थानको कहते हैं। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और इनके सेवक इस प्रकार सब मिल कर छह अनायतन कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इन छह अनायतनोंको कभी नमस्कार नहीं करता है ॥२७३-२७७॥

अब सम्यग्दृष्टिके तीन मूढ़ताओंका अभाव होता है, यह कहते हैं—

न चापि लोकपाषण्डि देवानामपि मूढताम् ।
कदाचिच्छुद्धसम्यक्त्वसंभृता विदधत्यमी ॥२७८॥

अर्थ—शुद्ध सम्यक्त्वसे सहित जीव लोकमूढता, गुरुमूढता और देव-मूढता इन तीन मूढताओंको कभी नहीं करते हैं। भावार्थ—मूढताका अर्थ मूर्खता है। मोक्षाभिलाषी सम्यग्दृष्टि जीव उपर्युक्त तीन मूर्खताओं को कभी नहीं करता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहारनयकी अपेक्षा शङ्कादिक आठ दोष, ज्ञानादि आठ मद, छह अनायतन और उपर्युक्त तीन मूढ़ताओं रूप पच्चीस दोषोंको कभी नहीं करता है ॥२७८॥

आगे सम्यक्त्वकी महिमा बतलाते हुए प्रथम मयूखका उपसंहार करते हैं—

मालिनी

अलमलमतिजल्पैः सर्वथा स्वस्ति तस्यै
सकलविधिविलासोच्छेदनोद्दीक्षितायै ।
विततभवजतीव्रोत्तापतप्यज्जनानां
तुहिनकरविभूत्यै शुद्धसम्यक्त्वभूत्यै ॥२७९॥

स जयति जिनमान्यः शुद्धसम्यक्त्वभावो
विततभववनालीप्रोज्ज्वलत्पावकाभः ।
सकलसुखनिधानः सर्वभावप्रधानो
निखिलदुरितजालक्षालनः क्षान्तिरूपः ॥२८०॥

उपजातिः

काले कलौ येऽत्र प्रशान्तरूपं
सुखस्वभावं मुनिमाननीयम् ।
सम्यक्त्वभावं दधति स्वरूपं
नमामि तान् भक्तियुतः समस्तान् ॥२८१॥

इति सम्यक्त्व चिन्तामणौ सम्यग्दर्शनोत्पत्तिमाहात्म्यवर्णनो नाम
प्रथमो मयूखः समाप्तः ।

अर्थ—अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? उस शुद्ध सम्यक्त्वरूपी विभूतिकी सब प्रकारसे स्वस्ति कामना करता हूँ कि जो समस्त कर्म-विलासोंके उच्छेद करनेमें तैयार है, और विस्तृत संसाररूपी तीव्रतापसे दुःखी मनुष्योंके लिए चन्द्रमाके समान है ॥२७९॥ जो अतिशय विस्तृत संसाररूपी वनसमूहको भस्म करनेके लिये प्रचण्ड अग्निस्वरूप है, समस्त सुखोंका भाण्डार है, सब भावोंमें प्रधान है, समस्त पापसमूहको धोनेवाला है तथा क्षमारूप है वह जिनेन्द्रमान्य शुद्ध सम्यक्त्व भाव जयवंत प्रवर्तता है—सर्वोत्कृष्ट है ॥२८०॥ इस कलिकालमें जो प्रशान्त-रूप, सुखस्वभाव, मुनियोंके द्वारा माननीय तथा आत्मरूप सम्यक्त्व-भावको धारण करते हैं मैं उन सबको भक्ति सहित नमस्कार करता हूँ ॥२८१॥

इस प्रकार सम्यक्त्व-चिन्तामणिमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति और माहात्म्यका वर्णन करने वाला प्रथम मयूख समाप्त हुआ ॥१॥

द्वितीयो मयूखः

अब द्वितीय मयूखके प्रारम्भमें मंगलाचरण करते हुए भगवान् महावीर स्वामीका जयघोष करते हैं—

आर्या

स जयति जिनपतिवीरो वीरः कर्मारिसैन्यसंदलने ।
हीरो निखिलजनानां धीरो वरमोक्षलाभाय ॥ १ ॥

अर्थ—जो कर्मरूपी शत्रुओंकी सेनाके खण्ड-खण्ड करनेमें वीर थे, समस्त मनुष्योंमें हीराके समान श्रेष्ठ थे और उत्तम मोक्षकी प्राप्तिके लिए धीर थे; वे वीर जिनेन्द्र जयवन्त प्रवर्तें ॥१॥

आगे सम्यग्दर्शनके भेद और उनके लक्षण कहते हैं—

अथेदं भव्यजीवानमद्भुतं हि रसायनम् ।
भिद्यते दर्शनं द्वेधा निश्चयव्यवहारतः ॥ २ ॥
मिथ्यात्वादिकमोहानां शमनात्क्षपणात्तथा ।
उभयाद्वा निजे शुद्धे रतिश्चात्मनि या भवेत् ॥ ३ ॥
सानुभूतिर्महामान्या माननीयगुणाश्रिता ।
शुद्धसम्यक्त्वसंज्ञाभिसंज्ञिता परमेश्वरैः ॥ ४ ॥

अर्थ—भव्य जीवोंके लिए अद्भुत रसायन स्वरूप यह सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा दो प्रकारका है ॥२॥ मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमसे स्वकीय शुद्ध आत्मामें जो अभिरुचि होती है, महामान्य और माननीय गुणोंसे युक्त वह आत्मानुभूति जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा शुद्ध सम्यक्त्व—निश्चयसम्यक्त्व इस नामसे कही गई है ॥३-४॥

अब व्यवहार सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं—

यत्तु जीवादितत्त्वानां याथार्थ्येन विजृम्भताम् ।
मुक्तिलाभोपयुक्तानां श्रद्धानं परमार्थतः ॥ ५ ॥
देवशास्त्रगुरूणां वा समीचां शुभचेतसा ।
श्रद्धानं वा प्रतीतिर्वा श्रद्धा प्रीती रुचिस्तथा ॥ ६ ॥

निश्चयस्य निदानं तन्महर्षीणां महीश्वरैः ।
व्यवहाराह्वितं ह्हो सम्यग्दर्शनमुच्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—अपने-अपने यथार्थ स्वरूपसे सहित तथा मोक्षप्राप्तिमें प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्वोंका जो वास्तविक श्रद्धान है अथवा समीचीन देव, शास्त्र और गुरुकी शुद्ध हृदयसे जो श्रद्धा, रुचि या प्रतीति होती है उसे उत्तमोत्तम महर्षियोंने व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा है। यह व्यवहार-सम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण होता है ॥५-७॥

आगे प्रकारान्तरसे सम्यग्दर्शनके और भी भेदोंकी चर्चा करते हैं—

निसर्गाज्जनितं तत्र तन्निसर्गजमुच्यते ।
जातं परोपदेशाद्यैर्देशनाजश्च कथ्यते ॥ ८ ॥

अथवा

आधारभेदतश्चापि तद्दर्शनमनुत्तमम् ।
वीतरागसरागेतिभेदाभ्यां खलु भिद्यते ॥ ९ ॥
यद्वा चारित्रमोहेन भाजनस्य भिदा कृता ।
ततः सम्यक्त्वरूपेऽस्मिन्नलं भेदस्य वार्तया ॥१०॥

अर्थ—निसर्गज और अधिगमजके भेदसे सम्यग्दर्शन दो प्रकारका होता है। जो पूर्वभवके संस्कार वश अपने आप होता है वह निसर्गज कहलाता है और जो परोपदेश आदिसे होता है वह देशनाज या अधिगमज कहलाता है। भावार्थ—इन दोनों सम्यग्दर्शनोंमें मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूप अन्तरङ्ग निमित्त एक समान होता है। मात्र बहिरङ्ग निमित्तकी अपेक्षा भेद है ॥८॥ अथवा आधारके भेदसे वह सम्यग्दर्शन वीतराग और सरागके भेदसे दो प्रकारका होता है। आत्माकी विशुद्धिमात्रको वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं और प्रशम, संवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य भावसे प्रकट होने वाला सराग सम्यग्दर्शन कहलाता है। अथवा चारित्रमोहके द्वारा पात्र—सम्यक्त्वके धारक जीवके दो भेद किये गये हैं इसलिए श्रद्धारूप सम्यग्दर्शनके विषयमें पात्रभेदकी अपेक्षा भेद करना व्यर्थ है। श्रेणी मांडने के पूर्व जीवकी संज्ञा सरागसंज्ञा है और श्रेणीमें आरूढ जीवकी वीतरागसंज्ञा है। परमार्थसे वीतरागसंज्ञा दशम गुणस्थानके बाद प्राप्त होती है,

क्योंकि वहाँ रागका उदय नहीं रहता। परन्तु श्रेणीमें आरूढ जीवोंके बुद्धिपूर्वक कषायका कार्य नहीं रहता, इसलिये उन्हें भी वीतराग कहा जाता है। सराग जीवोंका सम्यग्दर्शन सराग कहलाता है और वीतराग जीवोंका वीतराग ॥९-१०॥

विशेषार्थ—करणानुयोगकी पद्धतिसे सम्यग्दर्शनके तीन भेद हैं— १. औपशमिक २. क्षायोपशमिक और ३. क्षायिक। मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियोंके उपशमसे जो होता है उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम, इसप्रकार दो भेद हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व कब और किसके होता है, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। द्वितीयोपशमकी चर्चा इस प्रकार है। प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका अस्तित्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक ही रहता है।

द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन—

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वको धारण करनेवाला कोई जीव जब सातवें गुणस्थानके सातिशय अप्रमत्त भेदमें उपशम श्रेणी मांढनेके सन्मुख होता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शनमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कको विसंयोजना और दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम होता है। इस सम्यग्दर्शनको धारण करने वाला जीव उपशम श्रेणी मांढ़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहाँसे पतनकर नीचे आता है। पतनकी अपेक्षा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ गुणस्थानमें भी इसको सत्ता रहती है। यदि कोई दीर्घ संसारी जीव होता है तो इस सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें भी आ जाता है और वहाँ एकेन्द्रियादि पर्यायोंमें किञ्चिदून अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण काल तक परिभ्रमण करता रहता है।

क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन—

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमान कालमें उदय आने वाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमें उदय आने वाले निषेकोंका सदवस्था रूप उपशम और सम्यक्त्वप्रकृति नामक देशघती प्रकृतिका उदय रहनेपर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शनमें सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहनेसे चल, मल और अगाढ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। उपर्युक्त छह सर्वघाती प्रकृतियोंके क्षय और सदवस्था रूप उपशमको प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है तब इसे

क्षायोपशमिक कहते हैं और जब सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयकी अपेक्षा वर्णन होता है तब इसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वैसे ये दोनों हैं पर्यायवाची।

इसकी उत्पत्ति सादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोंके हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टियोंमें जो वेदककालके भीतर रहता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दृष्टियोंमें जो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि है उसे भी वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीवको चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में इसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियोंमें हो सकता है और इससे पतित हुआ जीव किञ्चिदून अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक मिथ्यात्वमें परिभ्रमण कर सकता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन—

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे जो उत्पन्न होता है वह क्षायिक सम्यग्दर्शन कहलाता है। दर्शन मोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है और वह भी केवली या श्रुतकेवली के पादमूलमें। परन्तु इसका निष्ठापन चारों गतियोंमें हो सकता है। उपर्युक्त सात प्रकृतियोंके क्षयका क्रम इस प्रकार है—

सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धीका अप्रत्याख्यानावरणादिरूप विसंयोजन होता है। यही इसका क्षय कहलाता है पश्चात् मिथ्यात्वप्रकृतिका सम्यङ्मिथ्यात्वरूप परिणमन होता है और उसके अनन्तर सम्यङ्मिथ्यात्वका सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमन होता है। जिस मनुष्यके मात्र सम्यक्त्वप्रकृतिकी सत्ता रह गई है उसका कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि नाम है। पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृतिका प्रदेशक्षय होकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि नाम प्राप्त करता है। यह क्षायिक सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होता है तथा चौथेसे सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थानमें हो सकता है। यह सम्यक्त्व सादि अनन्त हैं अर्थात् होकर कभी छूटता नहीं है जब कि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असंख्यात वार होकर छूट सकते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि, या तो उसी भवसे मोक्ष चला जाता है या तीसरे अथवा चौथे भवमें मोक्ष जाता है। चौथे भवसे अधिक संसारमें नहीं रहता है। जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होनेके कारण नरकमें जाता है अथवा देवगतिमें उत्पन्न होता है वह वहाँसे आकर

नियमसे मनुष्य होकर मोक्ष जाता है और जो भोगभूमिमें मनुष्य अथवा तिर्यञ्च होता है वह वहाँसे देवगतिमें जाता है और उसके पश्चात् मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार चौथे भवमें उनका मोक्ष जाना बनता है। चारों गति सम्बन्धी आयुका बन्ध होनेपर सम्यक्त्व हो सकता है इसलिए बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिका चारों गतियोंमें जाना संभव है। परन्तु यह नियम है कि सम्यक्त्वके कालमें यदि मनुष्य और तिर्यञ्चके आयु बँधती है तो नियमसे देवायु बँधेगी और देव तथा नारकीके नियमसे मनुष्यायु बँधती है।

आगे सम्यग्दर्शनके विषयभूत सात तत्त्वोंके नाम कहते हैं—

जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरौ निर्जरा तथा।
मोक्षश्चेत्येव सप्तानां तत्त्वानां निकुरम्बकम् ॥११॥

अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्त्वोंका समूह है।

विशेषार्थ—वस्तुके यथार्थ स्वरूपको तत्त्व कहते हैं। तत्त्व, यह भाववाचक संज्ञा है। जब भाव और भाववान् अर्थात् पदार्थमें अभेद विवक्षा होती है तब तत्त्वसे भाववान् जीवादि पदार्थोंका बोध होता है। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्रमें तत्त्वार्थका समास है—'तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थस्तस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् तत्त्वरूप अर्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा 'तत्त्वेन स्वकीययथार्थस्वरूपेण सहिता अर्थास्तत्त्वार्थास्तेषां श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् अपने अपने वास्तविक स्वरूपसे सहित जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। मूलमें तत्त्व दो हैं—एक जीव और दूसरा अजीव। इन दोनोंके संयोगका जो कारण है वह आस्रव है, आस्रवका रुक जाना संवर है, संचित कर्मरूप अजीवतत्त्वका क्रम क्रमसे पृथक् होना निर्जरा है और संपूर्ण रूपसे कर्मरूप अजीवका संयोग आत्मासे सदाके लिए छूट जाना मोक्ष है। कुन्दकुन्द स्वामीने इन्हीं सात तत्त्वोंमें पुण्य और पापका समावेश कर नौ पदार्थोंका वर्णन किया है। उनके द्वारा निश्चित किया हुआ क्रम इस प्रकार है—१ जीव, २ अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आस्रव, ६ संवर, ७ निर्जरा, ८ बन्ध और ९ मोक्ष। अन्य आचार्योंने पुण्य और पापका आस्रवमें समावेश कर सात तत्त्वोंका वर्णन किया है। आगे इन्हीं सात तत्त्वोंका क्रमसे वर्णन किया जाता है॥११॥

जीव तत्त्व

तत्र स्याच्चेतनालक्ष्मा जीवस्तत्त्वमहीश्वरः ।
ज्ञानदर्शनभेदेन सापि द्वेधा विभिद्यते ॥१२॥

अर्थ—जिसका चेतना लक्षण है उसे जीव कहते हैं । यह जीव स्वपर-प्रकाशक होनेसे सब तत्त्वोंका राजा है । ज्ञान और दर्शनके भेदसे चेतना दो भेद वाली है । पदार्थके सामान्य प्रतिभासको दर्शनचेतना कहते हैं और विशेष प्रतिभासको ज्ञानचेतना कहते हैं ॥१२॥

अत्राह प्रतिवादी

अत्राह केवलज्ञानं स्याज्जीवस्य सुलक्षणम् ।
तत्रैव वर्तनात्तस्यान्यत्राभावाच्च किं न हि ॥१३॥

अर्थ—यहाँ कोई कहता है कि केवलज्ञानको जीवका लक्षण क्यों नहीं मान लिया जाय, क्योंकि जीवको छोड़ कर अन्य द्रव्योंमें उसका अभाव है ॥१३॥

तस्य बाधा

न स्यात्सर्वत्र जीवेषु लक्ष्मणोऽनुपपत्तितः ।
अव्याप्तत्वं स्वतः सिद्धं को नु धीमान् निवारयेत् ॥१४॥
केवलोत्पत्तितः पूर्वं जीवानां चापि मादृशाम् ।
अजीवत्वं हि सम्प्राप्तं सस्वरं क्रन्दतामपि ॥१५॥

अर्थ—केवलज्ञान जीवका लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सब जीवोंमें नहीं पाया जाता । अतः स्वयं प्राप्त हुए अव्याप्तत्व दोषका निवारण कौन बुद्धिमान् करेगा ? अर्थात् कोई नहीं । केवलज्ञानकी उत्पत्तिके पहले हमारे जैसे जीवोंके भले ही वे स्वर सहित क्रन्दन करें, अजीवपना प्राप्त हो जायगा । तात्पर्य यह है कि जो लक्षण सम्पूर्ण लक्ष्यमें न पाया जाकर उसके एक देशमें रहता है उसे अव्याप्तत्व दोष कहते हैं । केवलज्ञान यद्यपि जीवके सिवाय अन्य द्रव्योंमें नहीं रहता तथापि वह समस्त जीवोंमें भी नहीं रहता, मात्र अरहन्त और सिद्ध पर्यायमें रहता है अतः उसके सिवाय अन्य जीव, अजीव कहलाने लगेंगे ॥१४-१५॥

पुनः प्रतिवादी

अथामूर्तत्वमेतस्य लक्षणं सर्वलक्ष्यगम् ।
किं न जीवस्य कल्प्येत बाधाचक्रविनिर्गतम् ॥१६॥

अर्थ—प्रतिवादी कहता है कि यदि केवलज्ञान जीवका लक्षण नहीं है तो न सही किन्तु अमूर्तपना जीवका लक्षण क्यों नहीं मान लिया जाता, क्योंकि वह समस्त जीवोंमें रहनेसे बाधासमूहसे रहित है ॥१६॥

तस्य बाधा

तदेतच्चापि नो चारु भवन्निर्दिष्टलक्षणः ।
धर्माधर्मनभःकालद्रव्येष्वपि विवर्तनात् ॥१७॥
गवां शृङ्गविशिष्टत्वलक्षणस्येव संसृतौ ।
अतिव्याप्त्याख्यदोषेण दुष्टत्वाद्धि चिरेण वः ॥१८॥

अर्थ—जीवका अमूर्तत्व लक्षण भी सुन्दर नहीं है क्योंकि आपका यह लक्षण धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यमें भी पाये जानेसे गायोंके सींग सहित लक्षणके समान संसारमें अतिव्याप्ति नामक दोषसे दूषित है। तात्पर्य यह है कि जो लक्षण, लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें रहता है वह अतिव्याप्ति दोषसे दूषित होता है। जैसे कि गायोंका लक्षण सींग सहित होना लक्ष्य और अलक्ष्यमें रहनेके कारण अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है उसी प्रकार जीवका अमूर्तत्व लक्षण भी लक्ष्य तथा अलक्ष्यमें रहनेके कारण अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है ॥१७-१८॥

असंभवदोषका परिहार

यस्य च ज्ञानशून्यत्वं जीवानां लक्षणं भवेत् ।
कथं न तन्मते हि स्याच्छीतत्वं वह्निलक्षणम् ॥१९॥
कथं न वै मनुष्यस्य शृङ्गशालित्वलक्षणम् ।
नभसो वा समूर्तित्वं लक्षणं न भवेत्कथम् ॥२०॥

अर्थ—जिसके मतमें ज्ञानशून्यता जीवोंका लक्षण है उसके मतमें शीतलता अग्निका लक्षण क्यों नहीं माना जाता? अथवा मनुष्यका लक्षण सींगोंसे सुशोभित होना क्यों नहीं कहा जाता? अथवा मूर्ति सहित होना आकाशका लक्षण क्यों नहीं होता?

तात्पर्य यह है कि जो लक्षण, लक्ष्यमें सर्वथा न पाया जावे उसे असंभव दोषसे दूषित कहते हैं। इसलिए 'ज्ञानका अभाव जीवका लक्षण है' ऐसा कहना असंभव दोषसे दूषित है। जिस प्रकार अग्निका लक्षण

शीतलता, मनुष्यका लक्षण सींगोंसे सहित होना और आकाशका लक्षण समूर्तिक मानना असंभव दोषसे दूषित है उसी प्रकार ज्ञान रहित होना जीवका लक्षण कहना, असंभव दोषसे दूषित है ॥१९-२०॥

लक्षणकी निर्दोषता

तदेव लक्षणं यत्स्याद् दोषत्रयबहिर्गतम् ।
एकेनापि हि दोषेण दुष्टत्वे का नु लक्ष्मता ॥२१॥
ततो दोषत्रयातीतं चैतन्यं जीवलक्षणम् ।
सुखं स्वीकृत्य भूयांसं प्रमोदं लभतां चिरम् ॥२२॥

अर्थ—लक्षण वही हो सकता है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन तीनों दोषोंसे रहित हो। एक ही दोषसे दूषित होनेपर लक्षणका लक्षणपना क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। इसलिए 'तीनों दोषोंसे रहित चैतन्य ही जीवका लक्षण है' यह सुखसे स्वीकृत कर चिर-काल तक महान् आनन्दको प्राप्त होओ ॥२१-२२॥

आगे जीवके असाधारण भावोंका वर्णन करते हैं—

शमात्क्षयात्तथा मिश्रादुदयात्कर्मणां तथा ।
परिणामाच्च संजाता जीवभावा भवन्ति वै ॥२३॥
तत्रौपशमिको द्वेधा क्षायिको नवभेदभाक् ।
द्व्यूनविंशतिभिन्नश्च मिश्रः प्रोक्तो मुनीश्वरैः ॥२४॥
एकविंशतिभेदैस्तु भिन्न औदयिको मतः ।
त्रिधा भिन्नोऽन्तिमो भावश्चोक्तश्चारुगुणालयैः ॥२५॥

अर्थ—कर्मोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदयसे तथा कर्मनिरपेक्ष-स्वतःसिद्ध परिणामसे होनेके कारण जीवके भाव पाँच प्रकारके होते हैं—१ औपशमिक, २ क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४ औदयिक और ५ पारिणामिक। ये भाव जीवमें ही होते हैं अतः जीवके असाधारण भाव कहलाते हैं। उन भावोंमें औपशमिक भाव दो प्रकारका, क्षायिकभाव नौ प्रकारका, क्षायोपशमिक भाव अठारह प्रकारका, औदयिक भाव इक्कीस प्रकारका और पारिणामिक भाव तीन प्रकार का कहा गया है।

विशेषार्थ—सामान्य रूपसे कर्मोंकी चार अवस्थाएँ होती हैं, १ उपशम, २ क्षय, ३ क्षयोपशम और ४ उदय। इनमेंसे उदय और क्षय

अवस्था सभी कर्मोंकी होती है। उपशम अवस्था मात्र मोहकर्मकी होती है और क्षयोपशम अवस्था घातिया कर्मोंकी होती है। मोहनीयकर्मके दो भेद हैं—१. दर्शनमोहनीय और २. चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके उपशमसे औपशमिक सम्यग्दर्शन और चारित्रमोहनीयके उपशमसे औपशमिक चारित्र प्रकट होता है। इस प्रकार औपशमिक भावके दो भेद हैं-१. औपशमिक सम्यक्त्व और २. औपशमिक चारित्र। ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे केवलज्ञान, दर्शनावरणके क्षयसे केवलदर्शन, दर्शनमोहके क्षयसे क्षायिकसम्यक्त्व, चारित्रमोहके क्षयसे क्षायिकचारित्र और दानान्तराय आदि पञ्चविध अन्तरायके क्षयसे क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग तथा क्षायिक वीर्य प्रकट होते हैं। इस प्रकार क्षायिक भावके नो भेद हैं। मतिज्ञानावरणादि चार देशघाति प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञान ये चार ज्ञान प्रकट होते हैं। साथमें मिथ्यात्वका उदय रहनेसे मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञानरूप परिणमन करनेसे कुमति, कुश्रुत और कुअवधि कहलाते हैं। चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरणका क्षयोपशम होनेसे चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन प्रकट होते हैं। दर्शनमोहके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तथा चारित्रमोहके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक चारित्र, और चारित्रमोहके अन्तर्गत अप्रत्याख्यानावरणके क्षयोपशमसे देशचारित्र-संयमासंयम होता है। इसी प्रकार पञ्चविध अन्तरायके क्षयोपशमसे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धियां प्रकट होती हैं। सब मिलाकर क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद होते हैं। गतिनामकर्मके उदयसे नरकादि चार गतियाँ, क्रोधादि चार कषायोंके उदयसे क्रोधादि चार कषाय, स्त्रीवेदादि नोकषायके उदयसे स्त्री आदि तीन लिङ्ग, दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यात्व, चारित्रमोहके उदयसे असंयतत्व, आठों कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व, केवलज्ञानावरणादिके उदयसे अज्ञान और क्रोधादि कषाय तथा भोग प्रवृत्तिके निमित्तसे कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह लेश्याएँ प्रकट होती हैं। इसप्रकार सब मिलाकर औदयिक भावके इक्कीस भेद होते हैं। पारिणामिक भावमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं रहती। इसके तीन भेद हैं—१. जीवत्व, २. भव्यत्व और अभव्यत्व। ये त्रेपन भाव जीवके असाधारण भाव कहलाते हैं परन्तु सब भाव सब जीवोंमें पाये जावें यह संभव नहीं है। नाना जीवोंकी अपेक्षा ही भावोंकी त्रेपन संख्या संघटित होती है ॥२३—२५॥

आगे जीवके भेदोंका वर्णन करते हैं—

संसारिमुक्तभेदेन जीवो द्वेधा विभिद्यते ।
तत्र कर्मचयातीतः सिद्धो नित्यो निरञ्जनः ॥२६॥

कृतकृत्यकलापोऽष्टगुणो लोकाग्रशेखरः ।
सच्चिदानन्दकन्देन संयुतः परमेश्वरः ॥२७॥

अनभ्राभ्रसमाकारो निर्मलस्फटिकोपमः ।
उद्भूतज्ञानमार्तण्डसहस्रीकश्चिरन्तनः ॥२८॥

निरंशः शुष्करागाब्धिः शान्तश्चामयनिर्गतः ।
निर्भयो निर्मलो हंसः सुधामा बोधमन्दिरम् ॥२९॥

विशुद्धो हतसंसारो निरङ्गः साम्यपूरितः ।
विपङ्को बन्धहीनश्च कषायै रहितः शिवः ॥३०॥

विध्वस्तकर्मसंपाशोऽमलकेवलकेलिभाक् ।
संसारसिन्धुसंतीर्णोऽमोहोऽनन्तसुखोदधिः ॥३१॥

कलङ्करेणुवातश्च सुधीरो हतमन्मथः ।
रामातीतो विकारेभ्यो वर्जितः शोकतर्जनः ॥३२॥

विज्ञानलोचनद्वन्द्वलोकिताखिललोककः ।
विहारो रावशून्यश्च रङ्गमोहविनिर्गतः ॥३३॥

रजोमलच्युतो गात्रहीनोऽन्तरबहिःस्थितः ।
सौख्यपीयूषकासारः सम्यग्दर्शनराजितः ॥३४॥

नरामरेन्द्रवन्द्याङ्घ्रिर्निरन्तमुनिपूजितः ।
विहावोऽमलभावश्च नित्योदयविजृम्भितः ॥३५॥

महेशो दम्भतृष्णाभ्यां रहितोऽदोषसंचयः ।
परात्परो वितन्द्रश्च सारः शंकरनामभाक् ॥३६॥

विकोप रूपशङ्कान्तो जन्ममृत्युपराङ्मुखः ।
दूरीकृतविहारश्चाचिन्तितो निर्मलोऽमदः ॥३७॥

छद्मस्थाचिन्त्यचारित्रो विदर्पोऽवर्णगन्धनः ।
विमानोऽलोभमायश्च विकायोऽशब्दशोभनः ।३८॥
अनाकुलोऽसहायश्च चारुचैतन्यलक्षणः ।
गुणालयः स्वरूपेण युक्तो जगदधीश्वरः ॥३९॥
किञ्चिदूनोऽन्तिमाद्देहाद् भेदवार्ताबहिर्गतः ।
अनन्तकल्पकालेऽपि गते न प्राप्तनाशनः ॥४०॥
शुद्धो जीवो महामान्यैरुक्तो मुक्तो मुनीश्वरैः ।
अतः संसारिणं वक्ष्ये प्रपञ्चै रञ्चितं परैः ॥४१॥

अर्थ—संसारी और मुक्तके भेदसे जीवके दो भेद हैं। उनमें जो कर्म-समूहसे रहित हैं वे मुक्त कहलाते हैं। इन्हें सिद्ध, नित्य और निरञ्जन भी कहते हैं ॥२६॥ सिद्ध भगवान् समस्त कार्य-कलापको कर चुके हैं अतः कृतकृत्य हैं, सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे युक्त हैं, तीनलोकके ऊपर चूड़ा-मणिके समान स्थित हैं, सच्चिदानन्दकन्दसे सहित हैं, सर्वोत्कृष्ट ईश्वर हैं ॥२७॥ मेघ रहित आकाशके समान स्वच्छ आकार वाले हैं, निर्मल स्फटिकके तुल्य हैं, उत्पन्न हुए केवल-ज्ञानरूपी हजारों सूर्योंसे सहित हैं, चिरन्तन—सदाकाल विद्यमान रहने वाले हैं ॥२८॥ अंशरहित—अखण्ड हैं, रागरूपी समुद्रको सुखाने वाले है, शान्त हैं, रोगोंसे रहित हैं, निर्भय हैं, निर्मल हैं, आत्मस्वरूप हैं, उत्तम धाम—तेजसे सहित हैं, ज्ञान-के मन्दिर हैं ॥२९॥ विशुद्ध हैं, पञ्चपरावर्तनरूप संसारको नष्ट करने वाले हैं, शरीर रहित हैं, साम्यभावसे परिपूर्ण हैं, आसक्तिसे रहित हैं, बन्धहीन हैं, कषायसे शून्य हैं, आनन्दरूप हैं ॥३०॥ कर्मरूपी पाशको नष्ट करने वाले हैं, निर्मल केवलज्ञानकी क्रीडासे सहित हैं, संसार-सागरसे पार हो चुके हैं, मोहरहित हैं, अनन्तसुखके सागर हैं ॥३१॥ कलंकरूपी धूलिको उड़ानेके लिये प्रचण्ड वायु हैं, सुधीर हैं, कामको नष्ट करनेवाले हैं, रामासे रहित हैं, विकारोंसे दूर हैं, शोकको नष्ट करने वाले हैं ॥३२॥ केवलज्ञानरूपी लोचनयुगलके द्वारा समस्त लोकको देखनेवाले हैं, हरणसे रहित हैं, शब्दसे शून्य हैं, रङ्ग तथा मोहसे दूर हैं ॥३३॥ पापरूपी मलसे रहित हैं, शरीर रहित हैं, निरन्तर हैं, सुखरूप अमृतके सरोवर हैं, सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं ॥३४॥ नरेन्द्रों और देवेन्द्रोंके द्वारा पूजित चरणोंसे युक्त हैं, अनन्त मुनियोंसे पूजित हैं, हावसे रहित हैं, निर्मल भावसे सहित हैं, नित्योदयसे सुशोभित हैं ॥३५॥ महेश

हैं, दम्भ और तृष्णासे रहित हैं, दोषसमूहसे शून्य हैं, श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ हैं, तन्द्रासे रहित हैं, सारभूत हैं, शंकर नामसे सहित हैं ॥३६॥ क्रोध रहित हैं, रूप तथा शङ्कासे दूर हैं, जन्म-मरणसे विमुख हैं, विहार—परिभ्रमणसे रहित हैं, अचिन्तित हैं, निर्मल हैं, निर्मद हैं ॥३७॥ अज्ञानी-जनोंके द्वारा अचिन्तनीय चारित्रसे सहित हैं, दर्परहित हैं, वर्ण और गन्धसे शून्य हैं, मानरहित हैं, लोभ तथा मायासे दूर हैं, कायरहित हैं, शब्दोंकी शोभासे परे हैं ॥३८॥ आकुलता रहित हैं, परकी सहायतासे निरपेक्ष हैं, सुन्दर चैतन्यरूप लक्षणसे सहित हैं, गुणोंके घर हैं, स्वरूपसे युक्त हैं, जगत्के स्वामी हैं ॥३९॥ अन्तिम शरीरसे कुछ कम अवगाहना वाले हैं, भेदकी वार्तासे बहिर्भूत हैं और अनन्त कल्पकाल बीत जानेपर भी कभी नाशको प्राप्त नहीं होते हैं ॥४०॥ ऐसे शुद्ध जीव महामान्य मुनिराजोंके द्वारा मुक्त कहे गये हैं। अब बहुत भारी प्रपञ्चोंसे युक्त संसारी जीवका कथन करते हैं ॥४१॥

संसारी जीव—

द्रव्ये क्षेत्रे तथा काले भवे भावे च ये पुनः ।
पञ्चधाभिन्नसंसारे चिरं सीदन्ति जन्तवः ॥४२॥
धृतकर्मकलापास्ते जन्ममृत्युवशंगताः ।
संसारिणः समुच्यन्ते योगिभिः सुचिरन्तनैः ॥४३॥

अर्थ—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पांच प्रकारके संसारमें चिरकालसे भ्रमण कर रहे हैं, कर्मसमूहको धारण करनेवाले हैं, तथा जन्म मरणके वशीभूत हैं वे चिरन्तन मुनियोंके द्वारा संसारी जीव कहे जाते हैं ॥४२-४३॥

द्रव्य परिवर्तन—

यादृशैर्हि निजैर्भावैः प्रचण्डावरमध्यमैः ।
यादृशाः पुद्गलस्कन्धा गृहीता येन जन्तुना ॥४४॥
स्वस्थितेरनुरूपं च स्थित्वा तेषु गतेष्वपि ।
अन्तःकाले गृहीता याश्चागृहीतादिवर्गणाः ॥४५॥
तासु चापि यथाकालं निर्जीर्णासु सतीषु च ।
तेनैव तादृशैर्भावैस्तादृशाः कर्मणां चयाः ॥४६॥

भविष्यन्ति गृहीतांश्चेद् यावता तावता खलु।
कालेन द्रव्यसंसारो भवेन्मिथ्यात्वमूलकः ॥४७॥
कर्म-नोकर्मभेदेन सोऽपि द्वेधा मतोऽर्हता।

अर्थ—जिस जीवने जैसे तीव्र, मन्द अथवा मध्यम भावोंसे जैसे पुद्गल स्कन्धोंको ग्रहण किया है, वे अपनी स्थितिके अनुरूप रहकर निर्जीर्ण हो गये। पश्चात् बीचमें गृहीत तथा अगृहीत आदि वर्गणाओंको ग्रहण किया गया। पश्चात् वे वर्गणाएँ भी यथाकाल निर्जीर्ण हो चुकीं। तदनन्तर उसी जीवके द्वारा वैसे ही भावोंसे वैसे ही कर्मोंके समूह ग्रहण किये जावें। इसमें जितना काल लगता है उतने कालको द्रव्यसंसार—द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। इसका मूल कारण मिथ्यात्व है। कर्म परिवर्तन तथा नोकर्म परिवर्तनके भेदसे द्रव्य परिवर्तनके दो भेद अर्हन्त भगवान्ने कहे हैं।

विशेषार्थ—द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद होते हैं—१-नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और २-कर्मद्रव्यपरिवर्तन। इनका स्वरूप इस प्रकार है—(१) किसी जीवने स्निग्ध रूक्ष वर्ण गन्धादिके तीव्र मन्द अथवा मध्यमभावोंमेंसे यथा-सम्भव भावोंसे युक्त औदारिक तथा वैक्रियिक शरीरोंमेंसे किसी शरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तिरूप परिणमने योग्य पुद्गलोंका एक समयमें ग्रहण किया। पीछे द्वितीयादि समयमें उस द्रव्यकी निर्जरा कर दी। पश्चात् अनन्त बार अगृहीत पुद्गलोंको; अनन्त बार मिश्र पुद्गलोंको, और अनन्त बार गृहीत पुद्गलोंको ग्रहणकर छोड़ दिया। तदनन्तर वही जीव उन ही स्निग्ध रूक्षादि भावोंसे युक्त उन ही पुद्गलोंको जितने समय बाद ग्रहण करे उतने कालसमूहको **नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन** कहते हैं। (२) इसी प्रकार किसी जीवने ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणमनोंवाले पुद्गल परमाणुओंको ग्रहण किया और आबाधाके अनुसार उस द्रव्यकी निर्जरा कर दी। पश्चात् अगृहीत, मिश्र और गृहीत वर्गणाओंको अनन्त बार ग्रहण कर छोड़ दिया। तदनन्तर वही कर्मपरमाणु उसी जीवके उसी प्रकार ग्रहणमें आवे। इसमें जितना समय लगता है उतने समयको कर्म-द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं।

इस परिवर्तनके (१) अगृहीत, मिश्र, गृहीत (२) मिश्र, अगृहीत, गृहीत, (३) मिश्र, गृहीत, अगृहीत और (४) गृहीत, मिश्र, अगृहीत-वर्ग-णाओंको मध्यमें ग्रहण करनेकी अपेक्षा चार पाये होते हैं। नोकर्मपरि-वर्तन और कर्मपरिवर्तन, इनमेंसे किसी एक परिवर्तनके कालको अर्ध-

पुद्‌गलपरिवर्तन कहते हैं। द्रव्यपरिवर्तनका ही दूसरा नाम पुद्‌गल परिवर्तन है। ॥४४-४७॥

क्षेत्रपरिवर्तन—

> यावता कालमानेनोत्पद्येतायमहो जनः ॥४८॥
> अखिलस्यापि लोकस्य प्रदेशेषु निरन्तरम्।
> तावता क्षेत्रसंसारो दुःखसारो भवेदसौ ॥४९॥

अर्थ—यह जीव जितने समयमें समस्त लोकके प्रदेशोंमें निरन्तर उत्पन्न हो ले, इसमें जितना काल लगे उतना क्षेत्रपरिवर्तन होता है। यह परिवर्तन दुःखोंसे परिपूर्ण है।

विशेषार्थ—क्षेत्रपरिवर्तनके दो भेद हैं—१ स्वक्षेत्रपरिवर्तन और २ परक्षेत्रपरिवर्तन। इनका स्वरूप इस प्रकार है—(१) जघन्य अवगाहनासे लेकर उत्कृष्ट अवगाहना तक एक-एक प्रदेश वृद्धिके क्रमसे समस्त अवगाहनाके विकल्पोंको धारण करनेमें जितना समय लगता है उसे **स्वक्षेत्रपरिवर्तन** कहते हैं। जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है और उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यके एक हजार योजन प्रमाण होती है। इन दोनों अवगाहनाओंके बीच मध्यम अवगाहनाके अनेक विकल्प हैं। (२) मेरु पर्वतके नीचे लोकके आठ मध्य प्रदेश हैं, उन्हें आत्माके आठ मध्य प्रदेशोंसे व्याप्त कर कोई जीव उत्पन्न हुआ। पुनः मरकर उसी स्थानपर असंख्यात बार उत्पन्न हुआ। तदनन्तर एक-एक प्रदेशको बढ़ाता हुआ क्रमसे समस्त लोकाकाशमें उत्पन्न हुआ और मरा। इसमें जितना समय लगता है उतने समयको **परक्षेत्रपरिवर्तन** कहते हैं ॥४८-४९॥

कालपरिवर्तन—

> उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः समये समयेऽपि च।
> नैरन्तर्येण जातस्य जन्तोरस्य मृतस्य च ॥५०॥
> यावान्कालो भवेन्नूनं भवे पर्यटतश्चिरम्।
> सर्वज्ञेन पुनस्तावान् कालसंसार उच्यते ॥५१॥

अर्थ—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके प्रत्येक समयमें लगातार उत्पन्न हुए और मरे हुए जीवको जितना काल लगता है, सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा उतना काल, कालपरिवर्तन कहा जाता है।

विशेषार्थ—कोई जीव उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ

और अपनी आयु प्रमाण जीवित रहकर मर गया। पुनः बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण एक कल्पकालके बीत जानेपर वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी-के द्वितीय समयमें उत्पन्न हुआ। इस प्रकार प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके प्रत्येक समयमें क्रमानुसार उत्पन्न होने और मरनेमें जितना समय लगता है उतने समयको कालपरिवर्तन कहते हैं ॥५०-५१॥

भवपरिवर्तन—

> नारकप्रभृतौ योनौ बहुकृत्वोऽधमस्थितिम् ।
> गृहीत्वोत्पद्यमानस्य मध्यमाश्च ततः स्थितीः ॥५२॥
> सर्वाः क्रमेण संगृह्योद्भवतः पुनरुत्तमाम् ।
> आदायोज्जायमानस्य जीवस्यास्य निरन्तरम् ॥५३॥
> यावन्मानो भवेत्कालो विलीनो भ्रमतो भवे ।
> तावन्मानो भवेन्नूनं संसारो भवसंज्ञकः ॥५४॥

अर्थ—कोई जीव नारकादि योनियोंमें अनेकबार जघन्य स्थितिको लेकर उत्पन्न हुआ, पश्चात् समस्त मध्यम स्थितियोंको निरन्तर लेकर उत्पन्न हुआ, तदनन्तर उत्तम स्थितिको ग्रहण कर उत्पन्न हुआ, इस प्रकार चारों गतियोंमें भ्रमण करनेवाले इस जीवका जितना काल व्यतीत होता है उतना काल भवपरिवर्तन कहलाता है।

विशेषार्थ—कोई जीव प्रथम नरककी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण होनेपर मरकर मनुष्य या तिर्यञ्च हुआ। पुनः उसी नरकमें दश हजार वर्षकी स्थिति लेकर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दश हजार वर्षोंमें जितने समय होते हैं उतनी बार दश हजार वर्षकी स्थितिको लेकर उत्पन्न हुआ। पश्चात् एक-एक समय बढ़ाते हुए नरक गतिकी तेतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति लेकर उत्पन्न होता है। पश्चात् तिर्यञ्च आयुकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्य तक-की उत्कृष्ट स्थितिको पूरा करता है। फिर मनुष्य आयुकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्य तककी उत्कृष्ट स्थितिको पूर्ण करता है। तदनन्तर देवायुकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षसे लेकर इकतीस सागर तककी आयुको क्रमसे पूरा करता है। इनमें जितना काल लगता है उतने कालको कालपरिवर्तन कहते हैं। यद्यपि देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी होती है तथापि परिवर्तनमें इकतीस सागर तकको ही आयु सम्मिलित की गई है क्योंकि इससे अधिक स्थिति सम्यग्दृष्टिको ही

प्राप्त होती है और सम्यग्दृष्टि जीवको परिवर्तनसे परे माना गया है ॥५२-५४॥

भावपरिवर्तन—

कश्चित्पर्याप्तकः संज्ञी पर्याप्तो ह्यतदर्शनः ।
जघन्यां सर्वतो योग्यां प्रकृतेर्बोधरोधिनः ॥५५॥
आपद्यते स्थितिं ह्यन्तःकोटीकोटीप्रमाणिकाम् ।
तदीयं च कषायाध्यवसायस्थानजालकम् ॥५६॥
असंख्यलोकसंमानं स्थानषट्कप्रवर्तितम् ।
स्थितियोग्यं भवेदेव, तावन्मानाथ तत्र च ॥५७॥
सर्वाधमकषायाध्यवसायस्थानहेतुका ।
भवेदेवानुभागाध्यवसायस्थानसंहतिः ॥५८॥
तदेवं सर्वतो हीनां स्थितिं सर्वजघन्यकम् ।
कषायाध्यवसायस्थानञ्च तादृक्षमेव हि ॥५९॥
आस्कन्दतोऽनुभागाख्यबन्धस्थानं हि देहिनः ।
योगस्थानं भवेदेकं जघन्यं सर्वतोऽपि च ॥६०॥
अथ स्थितिकषायानुभागस्थानसुसंहतेः ।
असंख्यभागसंवृद्धं योगस्थानं द्वितीयकम् ॥६१॥
भवेदेवं तृतीयादियोगस्थानानि तानि च ।
चतुःस्थानप्रपन्नानि श्रेण्यसंख्येयभागतः ॥६२॥
मितान्येव भवन्त्येव तथा तामेव च स्थितिम् ।
तदेव च कषायाध्यवसायस्थानमायतः ॥६३॥
द्वितीयमनुभागाध्यवसायस्थानकं भवेत् ।
पूर्ववद् वेदितव्यानि योगस्थानानि तस्य च ॥६४॥
इत्थमुत्तरभेदेष्वसंख्यलोकसमाप्तितः ।
यावत्संवेदितव्यानि तानि चापि यथागमम् ॥६५॥
एवं ह्यापद्यमानस्य स्थितिं तामेव कर्मणः ।
अप्रथमं कषायाध्यवसायस्थानकं भवेत् ॥६६॥

एतस्याप्यनुभागाध्यकषायस्थानमण्डलम् ।
योगस्थानकलापस्च पूर्वतुल्यं भवेत्पुनः ॥६७॥
इत्थमेवाग्रभेदेषु ज्ञेयमेतत्प्रपञ्चनम् ।
समयेनाधिकायाश्च जघन्यायाः स्थितेः पुनः ॥६८॥
बन्धनं पूर्ववज्ज्ञेयं सम्यग्दर्शनशालिभिः ।
अयमेव क्रमो बोध्यो बोधरोधककर्मणः ॥६९॥
आ उत्कृष्टस्थितेर्बन्धे त्रिंशत्सागरसंमितेः ।
भेदप्रभेदभिन्नानामखिलानाञ्च कर्मणाम् ॥७०॥
अखण्डोऽयं क्रमः प्रोक्तः पण्डामण्डितपण्डितैः ।
तदेतन्मिलितं सर्वं भावाख्यं परिवर्तनम् ॥७१॥

अर्थ—कोई संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव, ज्ञानावरण कर्मकी अपने योग्य सबसे जघन्य स्थिति अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण बाँध रहा है। उस जीवके उस स्थितिके योग्य, अनन्तभागवृद्धि आदि षट्स्थानोंमें प्रवर्तमान असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंका समूह होता है। और उसीके सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्त असंख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोंका समूह होता है। इस प्रकार सर्वजघन्यस्थिति, सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थान और सर्वजघन्य अनुभागाध्यवसायस्थानको प्राप्त होनेवाले उस जीवके सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है। तदनन्तर उन्हीं स्थिति, कषायाध्यवसायस्थान और अनुभागाध्यवसायस्थानोंका असंख्यातभागवृद्धिसे युक्त द्वितीय योगस्थान होता है। इस प्रकार असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि और असंख्यातगुणवृद्धि इन चार स्थानोंमें प्रवर्तमान जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण तृतीयादि योगस्थान होते हैं। तत्पश्चात् उसी स्थिति और उसी कषायाध्यवसायस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके द्वितीय अनुभागाध्यवसायस्थान होता है। उस अनुभागाध्यवसायस्थानके योगस्थान भी पहलेकी तरह जानना चाहिये। इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण जो तृतीयादि अनुभागाध्यवसायस्थान हैं उनके भी योगस्थान आगमानुसार जानना चाहिये। इस तरह उसी ज्ञानावरणकर्मकी सर्व जघन्य अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिको बाँधनेवाले उस जीवके दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है। इस कषायाध्यवसायस्थानके

अनुभागाध्यवसायस्थानोंका समूह तथा योगस्थानोंका समूह पहलेके समान होता है। इसी प्रकार आगेके भेदों—तृतीयादि कषायस्थानोंमें भी यह सब विस्तार लगाना चाहिये। तत्पश्चात् समयाधिक जघन्य-स्थितिका बन्ध भी पूर्ववत् जाननेके योग्य है। एक-एक समयकी वृद्धि करते-करते ज्ञानावरणकर्मकी जो तीस कोड़ाकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है उसके बन्धका भी यही क्रम सम्यग्दर्शनसे सुशोभित जीवोंको जानना चाहिये। भेद-प्रभेदोंके द्वारा अनेकरूपताको प्राप्त समस्त कर्मोंका यह अखण्ड क्रम बुद्धिविभूषित विद्वानोंके द्वारा कहा गया है। यही सब मिलकर भावपरिवर्तन कहा जाता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरणादि समस्त कर्मोंकी जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तकके बन्धमें कारणभूत योगस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, कषायाध्यवसायस्थान और स्थितिस्थानोंके परिर्तनमें जो समय लगता है वह भावपरिवर्तन कहलाता है। योगस्थान आदिके परिवर्तनका क्रम इस प्रकार है—जगत् श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके होने पर एक अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होता है। असंख्यातलोकप्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर एक कषायाध्यवसायस्थान होता है और असंख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर एक स्थितिस्थान होता है। इस क्रमसे ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियों तथा उत्तर प्रकृतियोंके समस्त स्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है ॥५५-७१॥

आगे गुणस्थानादि बीस प्ररूपणाओंके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

संसारगर्तमध्यस्थास्त इमे प्राणिनोऽधुना ।
गुणस्थानादिभेदेन वर्ण्यन्तेऽत्र यथागमम् ॥७२॥

अर्थ—संसाररूपी गर्तके मध्यमें स्थित इन जीवोंका अब गुणस्थान आदिके भेदसे आगमानुसार वर्णन किया जाता है ॥७२॥

आगे गुणस्थानका लक्षण और भेद कहते हैं—

मोहयोगनिमित्तेन जीवभावा भवन्ति ये ।
गुणस्थानाख्यया ज्ञेयास्ते चतुर्दशसंख्यकाः ॥७३॥
मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतादिः सुदर्शनः ।
देशव्रती प्रमत्तश्चाप्रमत्तोऽपूर्वसंज्ञकः ॥७४॥

अनिवृत्तिसमाख्यातः सूक्ष्मलोभेन संयुतः।
शान्तमोहः क्षीणमोहः सयोगो जिनसंज्ञकः ॥७५॥
अयोगो जिन इत्येवं ज्ञातव्यानि चतुर्दश।
गुणस्थानानि वर्ण्यन्ते यथाशास्त्रं स्वरूपतः ॥७६॥

अर्थ—मोह और योगके निमित्तसे जीवके जो भाव होते हैं उन्हें गुणस्थान कहते हैं वे चौदह होते हैं ॥७३॥ १ मिथ्यादृष्टि २ सासन ३ मिश्र ४ असंयत सम्यग्दृष्टि ५ देशव्रती ६ प्रमत्तविरत ७ अप्रमत्तविरत ८ अपूर्वकरण ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मलोभ ११ शान्तमोह १२ क्षीण-मोह १३ सयोगजिन और १४ अयोगजिन। ये चौदह गुणस्थान जानना चाहिये। अब इनका शास्त्रानुसार स्वरूपसे वर्णन किया जाता है। ॥७३-७६॥

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—

तीव्रमोहोदयोत्पन्नमिथ्यादर्शनलाञ्छितः।
आप्तागमपदार्थेषु श्रद्धानेन बहिर्गतः ॥७७॥
लौकिकालौकिकान् लोकान् हितोद्देशनतत्परान्।
अन्यथा मन्यमानोऽन्तर्गतमिथ्यात्वभावतः ॥७८॥
पूज्यानामपि पूज्यानां तथ्यं पथ्यं च देशनम्।
श्रद्धानोऽन्यथा पित्तज्वरी दुग्धं जनो यथा ॥७९॥
मिथ्यादृष्टिगुणस्थानस्थितो मिथ्यात्वमण्डनः।
हंहो ! हन्त भवेन्मूढो लोको बाह्यविलोचनः ॥८०॥

अर्थ—जो तीव्रमोहके उदयसे उत्पन्न मिथ्यादर्शनसे सहित है, आप्त, आगम और पदार्थविषयक श्रद्धासे रहित है, हितका उपदेश देनेमें तत्पर विद्यागुरु आदि लौकिक तथा मुनि आदि अलौकिक जनोंको अन्यथा मानता है। जिस प्रकार पित्तज्वरवाला मनुष्य दूधको अन्यथा मानता है उसी प्रकार जो अन्तर्गत मिथ्यात्वरूप भावसे पूज्योंके भी पूज्यजनोंके वास्तविक तथा हितकारी उपदेशको अन्यथा समझता है तथा मिथ्यात्वसे युक्त है वह मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें स्थित कहलाता है। अहो! बड़े खेदकी बात है कि वह अज्ञानी शरीरादि बाह्य पदार्थोंको ही देखता है अर्थात् उन्हें ही आत्मा जानता है ॥७७-८०॥

(क) स्वस्थान मिथ्यादृष्टि—

योऽयं सम्यक्त्वलाभाय चेष्टते न हि जातुचित् ।
अत्यन्तदीर्घसंसारः स स्वस्थानसुसंज्ञकः ॥८१॥

अर्थ—जो सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये कभी उद्यम नहीं करता है वह अत्यन्त दीर्घसंसारी स्वस्थानमिथ्यादृष्टि है ॥८१॥

(ख) सातिशय मिथ्यादृष्टि—

यश्च सम्यक्त्वसंप्राप्त्यै चेष्टते मन्दमोहवान् ।
तं हि सातिशयाख्यानं विद्धि मिथ्यादृशं जनम् ॥८२॥

अर्थ—जो मन्दमोहवाला जीव, सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये उद्यम करता है—अधःकरण आदि परिणामोंको करता है उसे सातिशय मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥८२॥

(२) सासन (सासादन) गुणस्थान—

सम्यग्दर्शनवेलायां यदैकः समयोऽवरात् ।
आवलीनां षडुत्कृष्टात् सम्यग्दृष्टेश्च शिष्यते ॥८३॥
तदानन्तानुबन्ध्याख्यचतुष्कान्यतमोदये ।
आसादनाभिसंयुक्तः सम्यग्दर्शनशोभनः ॥८४॥
सम्यक्त्वभूभृच्छृङ्गाग्रान्मिथ्यात्वाख्यवसुन्धराम् ।
अभ्यागच्छन् जनो मध्यस्थितः सासादनो भवेत् ॥८५॥
प्रथमान्यगुणस्थाने वर्तमानो जनः पुनः ।
नीचैरेव पतत्येव नात्र कश्चन संशयः ॥८६॥

अर्थ—जब सम्यग्दर्शनके कालमें कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक छह आवलीका काल शेष रह जाता है तब सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभमेंसे किसी एकका उदय आने पर जो विराधनासे युक्त हो गया है तथा जो सम्यक्त्वरूपी पर्वतके शिखरके अग्रभागसे गिरकर मिथ्यात्वरूपी भूमिके सन्मुख आ रहा है वह मध्यमें स्थित जीव सासादन सम्यग्दृष्टि होता है। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वका काल रहनेसे यह यद्यपि सम्यग्दृष्टि कहलाता है तथापि अनन्तानुबन्धीका उदय आ जानेके कारण आसादना—विराधनासे

सहित होता है। द्वितीय गुणस्थानमें रहने वाला जीव नियमसे नीचे ही गिरता है इसमें कोई संशय नहीं है ॥८३-८६॥

(३) मिश्रगुणस्थान—

सम्यग्दर्शनवेलायां मिश्रमोहोदयादयम् ।
जीवो मिश्ररुचिर्नूनं भवेन्मिश्राभिधानकः ॥८७॥
अत्र स्थितस्य जीवस्य संपृक्तैक्षवतक्रवत् ।
परिणामो भवेन्नाम पृथक्कर्तुमनीश्वरः ॥८८॥
नात्र स्थितो जनः कोऽपि पञ्चतामश्नुते क्वचित् ।
पूर्वत्रापि परत्रापि गत्वा मृत्युमुखं व्रजेत् ॥८९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके कालमें सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय आ जानेसे जिसकी श्रद्धा मिश्ररूप—सम्यङ्मिथ्यात्वरूप हो गई है वह निश्चयसे मिश्र—सम्यङ्मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती कहलाता है। इस गुणस्थानमें स्थित जीवका परिणाम मिले हुए गुड़ और छाछके समान पृथक् पृथक् नहीं किया जा सकता। इस गुणस्थानमें स्थित कोई भी जीव न मृत्युको प्राप्त होता है (और न मारणान्तिक समुद्घात करता है) यदि मरणका काल आ गया है तो पहले या चौथे गुणस्थानमें जाकर मरणको प्राप्त होता है। (यह गुणस्थान चतुर्थ गुणस्थानसे पतित होने पर प्राप्त होता है और किन्हीं किन्हीं सादि मिथ्यादृष्टि जीवको पहलेसे चढ़ने पर भी प्राप्त होता है) ॥८७-८९॥

(४) अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान—

मोहनीयस्य सप्तानां भेदानामुपशान्तितः ।
उभयाद्वा क्षयाद्वापि प्राप्तसम्यक्त्वसन्निधिः ॥९०॥
चारित्रावरणोदीतेरनासादितसंयमः ।
अन्तरात्माल्पसंसारो जिनपादाब्जषट्पदः ॥९१॥
श्रद्दधानः सदा तत्त्वकलापं जिनदेशितम् ।
गुरूणां तु नियोगेनासन्तं चापि कदाचन ॥९२॥
भूयः सत्योपदेशेन त्यजन् तां भाववासनाम् ।
असंयतो भवन् सम्यग्दृष्टिः समभिधीयते ॥९३॥

अर्थ—मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमसे जिसे सम्यक्त्वरूपी उत्तम निधिकी प्राप्ति हुई है परन्तु चारित्रमोहनीयके उदयसे जिसे संयम प्राप्त नहीं हुआ है, जो अन्तरात्मा है अर्थात् शरीरसे भिन्न आत्माके अस्तित्वको स्वीकृत करता है, अल्पसंसारी है, जिनेन्द्र भगवान्के चरणकमलोंका भ्रमर है और सदा जिननिरूपित तत्त्वसमूहकी श्रद्धा करता है। कदाचित् गुरुओंके नियोगसे अर्थात् अज्ञानी गुरुओंके उपदेशसे असद्भूत तत्त्वकी भी श्रद्धा करता है परन्तु पश्चात् सत्य उपदेशके द्वारा उस मिथ्या वासनाको छोड़ देता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

विशेषार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि चारित्रमोहनीयका उदय रहनेसे व्रत धारण नहीं करता है तथापि मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्यागी होता है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणका धारक होता है। यह जिननिरूपित तत्त्वकी ही श्रद्धा करता है। कदाचित् किसी अज्ञानी गुरुके उपदेशसे विपरीत तत्त्वकी भी श्रद्धा करता है परन्तु जब किसी अन्य ज्ञानवान् गुरुओंके द्वारा उसकी भूल बताई जाती है तब वह उस विपरीत श्रद्धाको छोड़ देता है। यदि बताये जाने पर भी दुराग्रहवश उस विपरीत श्रद्धाको नहीं छोड़ता है तो फिर उस समयसे मिथ्यादृष्टि हो जाता है। प्रारम्भके चार गुणस्थान चारों गतियोंमें होते हैं ॥९०–९३॥

(५) देशव्रतगुणस्थान—

> अप्रत्याख्यानकारातिक्षयोपशमतः पुनः।
> त्रसहिंसानिवृत्तोऽप्यनिवृत्तोऽत्रसहिंसनात् ॥९४॥
> एकादशसु भेदेषु विभक्तो देशतो व्रती।
> संयतासंयतः प्रोक्तः संयतानां महीश्वरैः ॥९५॥
> श्रावकाणां व्रतं वक्ष्ये सूक्तियुक्तिपुरस्सरम्।
> यथागमं यथाप्रज्ञं सम्यक्चारित्रवर्णने ॥९६॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो त्रसहिंसासे निवृत्त होने पर भी स्थावरहिंसासे निवृत्त नहीं हुआ है तथा जो ग्यारह भेदोंमें विभक्त है, वह संयमी जीवोंके सम्राट् जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा देशविरत अथवा संयतासंयत कहा गया है। श्रावकोंके व्रतोंका वर्णन सम्यक्चारित्रका वर्णन करते समय आगम और अपनी बुद्धिके अनुसार सूक्ति तथा युक्ति सहित करूँगा ॥९४–९६॥

विशेषार्थ—जिस सम्यग्दृष्टि जीवके अप्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशम तथा प्रत्याख्यानावरणादिकर्मोंका उदय रहता है वह हिंसादि पांच पापोंका एकदेश परित्याग करता है अर्थात् त्रसजीवोंकी संकल्पी हिंसाका त्याग करता है परन्तु प्रारम्भमें आरम्भी, विरोधी और उद्यमी त्रसहिंसा और स्थावरहिंसाका त्याग नहीं करता है वह देशविरत कहलाता है। त्रसहिंसाका त्यागी होनेसे संयत और स्थावरहिंसाका त्यागी नहीं होनेसे असंयत इस प्रकार एक ही कालमें संयतासंयत कहलाता है। यह गुणस्थान तिर्यञ्च और मनुष्य गतिमें ही होता है ॥९४--९६॥

(६) प्रमत्तविरत गुणस्थान—

प्रत्याख्यानावृतेर्नूनं क्षयोपशमतस्ततः ।
संभूताखिलवृत्तोऽपि प्रमादोपहतस्तु यः ॥९७॥
प्रमत्तविरतः सोऽयं विरतैरुच्यते मतिः ।
अस्यापि पूर्णचारित्रमग्रे वक्ष्याम्यशेषतः ॥९८॥

अर्थ—जो प्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम हो जानेसे यद्यपि सकलचारित्रको धारण कर रहा है तथापि (संज्वलनका तीव्रोदय होनेसे) प्रमादसे उपहत हो रहा है वह मुनि ऋषियोंके द्वारा प्रमत्तविरत कहा जाता है। इसका भी पूर्ण चारित्र आगे विस्तारसे कहूँगा ॥९७–९८॥

(७) अप्रमत्तविरत—

प्रमादप्रसरं त्यक्त्वा यो ध्याने समवस्थित. ।
अप्रमत्तयतिः सोऽयं प्रोच्यते पूर्वसूरिभिः ॥९९॥
अयमस्ति विशेषोऽत्र यः श्रेण्योः किल संमुखः ।
पूर्वोत्तरत्रभावानां समयेष्वपि साम्यतः ॥१००॥
अधःकरणनामा स सूक्तः संयमिभिर्यमी ।
यश्च श्रेणिबहिर्भूतः स्वस्थानस्थित एव सः ॥१०१॥

अर्थ—जो प्रमादके प्रसारको छोड़कर ध्यानमें अवस्थित है वह पूर्वाचार्योंके द्वारा अप्रमत्तविरत कहा जाता है। इस गुणस्थानमें यह विशेषता है कि जो मुनि उपशम अथवा क्षपकश्रेणीके सन्मुख होता है वह पूर्व तथा आगामी समयोंमें परिणामोंकी समानता होनेके कारण मुनियोंके द्वारा अधःकरण नाम वाला कहा गया है और जो श्रेणीसे बहिर्भूत है अर्थात् श्रेणी मांडनेके संमुख नहीं है वह स्वस्थान अप्रमत्तविरत कहलाता है।

विशेषार्थ—छठवें गुणस्थानमें संज्वलनका अपेक्षाकृत तीव्र उदय रहनेसे प्रमादकी सत्ता रहती है, परन्तु सप्तम गुणस्थानमें संज्वलनका उदय अपेक्षाकृत मन्द हो जाता है अतः प्रमादका अभाव हो जाता है। चार विकथा, चार कषाय, पञ्चेन्द्रियोंके पांच विषय, निद्रा और स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद कहलाते हैं। सप्तम गुणस्थान ध्यानकी अवस्थामें होता है अतः वहां प्रमादका अभाव माना गया है। सप्तम गुणस्थानके दो भेद हैं—१. सातिशय अप्रमत्तविरत और २. स्वस्थान अप्रमत्तविरत। जो उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी चढ़नेके सम्मुख है वह सातिशय अप्रमत्तविरत कहलाता है। इसका दूसरा नाम अधःकरण भी है क्योंकि इसमें मुनिके करण—परिणाम पिछले समयके परिणामोंसे मिलते-जुलते होते हैं। और जो मुनि श्रेणी चढ़नेके सन्मुख नहीं है किन्तु अन्तर्मुहूर्तके भीतर गिरकर छठवें गुणस्थानमें आ जाने वाला है वह स्वस्थान अप्रमत्तविरत कहलाता है। स्वस्थान अप्रमत्तविरत हजारों बार छठवें गुणस्थानमें गिरता है और फिर सातवेंमें पहुँचता है ॥९९-१०१॥

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान—

ततोऽधिकविशुद्धया यो वर्धमानो विराजते।
अपूर्वान् करणान्प्राप्तः समयं समयं प्रति ॥१०२॥
अपूर्वाः करणा यस्य सन्ति संयतभूपतेः।
सोऽपूर्वकरणाभिख्यो ज्ञेयो मान्यगुणाश्रयः ॥१०३॥

अर्थ—सप्तमगुणस्थानकी अपेक्षा जो अधिक विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होता हुआ शोभायमान है तथा समय-समयके प्रति जिस मुनिराजके अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण नामवाला जानना चाहिये। यह मुनि उत्तम गुणोंका आधार होता है ॥१०२-१०३॥

(९) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—

निवृत्त्या यत्र जीवानां करणाः समकालिनाम्।
विभिन्ना नो भवन्त्येव निखिलेऽपि महीतले ॥१०४॥
भवेत्तद्धि गुणस्थानमनिवृत्त्यभिधानकम्।
तत्रस्थः संयतैश्चोक्तोऽनिवृत्तिकरणो यतिः ॥१०५॥

अर्थ—जिस गुणस्थानमें समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सम्पूर्ण महीतलमें विभिन्नतासे विभिन्न नहीं होते किन्तु समान ही होते हैं वह

अनिवृत्तिकरण नामका गुणस्थान है और उसमें स्थित मुनि ऋषियोंके द्वारा अनिवृत्तिकरण कहा गया है ॥१०४-१०५॥

(१०) सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान—

सूक्ष्मरागोदयेनेषद् रञ्जितः खलु यो भवेत् ।
किञ्चिदूनो यथाख्यातचारित्रात्संयतेन्द्रियः ॥१०६॥
वर्धमानविशुद्धयाभिमण्डितोऽखण्डितात्मवान् ।
साम्परायः स सूक्ष्मादिः प्रोच्यते मुनिसत्तमैः ॥१०७॥

अर्थ—संज्वलनलोभ सम्बन्धी सूक्ष्मरागसे जो किञ्चित् रागभावको प्राप्त हो रहा है, जो यथाख्यात चारित्रसे कुछ ही न्यून है, जिसने इन्द्रियों-को अच्छी तरह वश कर लिया है, जो बढ़ती हुई विशुद्धिसे सुशोभित है तथा रागादि विकारी भावोंसे अखण्डित आत्मासे युक्त है उसे उत्तम मुनिराज सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती कहते हैं ॥१०६-१०७॥

(११) उपशान्तमोह गुणस्थान—

यथा शारदकासारो निर्मलात्मा भवेत्तु यः ।
सर्वथा शान्तमोहाख्यकर्दमो वरवृत्तभाक् ॥१०८॥
निर्वातनिस्तरङ्गाब्धिरिव निश्चलमानसः ।
विगताखिलसंकल्पो निवृत्ताखिलवाञ्छनः ॥१०९॥
आत्मनात्मनि संलीनः शुद्धभावविभूषितः ।
शान्तमोहः स संप्रोक्तो मुनिर्मान्यगुणालयः ॥११०॥
इदमीयः प्रसादोऽयं किन्तु नैव स्थिरो भवेत् ।
दुर्जनान्तःप्रसादो व झगित्येव विनश्यति ॥१११॥

अर्थ—जो शरद् ऋतुके तालाबके समान निर्मलात्मा होता है, जिसका मोहरूपी पङ्क सर्वथा शान्त हो गया है, जो उत्कृष्ट चारित्र अर्थात् यथाख्यात चारित्रसे सहित है, वायुके अभावमें निस्तरङ्ग समुद्रके समान जिसका मन निश्चल है, जिसके समस्त संकल्प नष्ट हो चुके हैं, जिनकी सब इच्छाएँ समाप्त हो गई हैं, जो अपने आपके द्वारा अपने आपमें लीन हैं, शुद्ध—वीतरागभावसे विभूषित है, तथा उत्तम गुणोंका आलय है वह मुनि उपशान्तमोह गुणस्थानवर्ती कहा गया है। यह सब है किन्तु इस गुणस्थानवर्ती मुनिकी निर्मलता स्थिर नहीं रहती वह दुर्जन-के मनकी प्रसन्नताके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१०८-१११॥

(१२) क्षीणमोह गुणस्थान—

येन ध्यानकृपाणेन मोहः संशायितः सुखम् ।
दीर्घनिद्रां त्रिकालेऽपि न मोक्ष्यत्येव कुत्रचित् ॥११२॥
शुद्धस्फटिकपात्रस्थनिर्मलोदकवृन्दवत् ।
निर्मलात्मा सदा यः स्यात् क्षीणमोहः स उच्यते ॥११३॥

अर्थ—जिनके द्वारा ध्यानरूपी तलवारसे सुखपूर्वक सुलाया हुआ मोह तीनकालमें भी कहीं दीर्घ निद्राको नहीं छोड़ेगा और जो शुद्ध स्फटिकके पात्रमें रखे हुए निर्मल जलसमूहके समान सदा निर्मलात्मा रहता है वह क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती कहा जाता है ॥११२-११३॥

(१३) सयोगजिन—

शुक्लध्यानोग्रहव्याशहुतघातिविधीन्धनः ।
मेघमालाविनिर्मुक्तो रश्मिमालीव राजितः ॥११४॥
सज्ज्ञानदिव्यसूर्येण प्रकटीकृतदिक्चयः ।
अनन्तं शर्म बोधं च वीर्यं चापि सुदर्शनम् ॥११५॥
अनश्वरं सदा बिभ्रत्प्रसादपरमेश्वरः ।
वातवेगोद्भ्रमच्छुद्धस्फटिकस्थिततोयवत् ॥११६॥
योगजातपरिष्पन्दसहितात्मा मुनीश्वरः ।
यो भवेत् स भवेद्योगी केवली च जिनोऽपि च ॥११७॥

अर्थ—शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड अग्निमें जिन्होंने घातियाकर्मरूपी ईंधनको होम दिया है, जो मेघमालासे रहित सूर्यके समान सुशोभित हैं, जिन्होंने सम्यग्ज्ञानरूपी दिव्यसूर्यके द्वारा दिशाओंके समूहको प्रकट किया है, जो अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त दर्शनको सदा धारण कर रहे हैं, जो निर्मलताके परमेश्वर हैं और जिनकी आत्मा वायुवेगसे हिलते हुए शुद्ध स्फटिक पात्र स्थित जलके समान योगोंसे उत्पन्न परिष्पन्दसे सहित है, वे मुनिराज सयोगकेवली जिन हैं। ॥११४-११७॥

(१४) अयोगजिन—

अपि योगो न यत्रास्त्यघातिकर्महतौ च यः ।
कृतोद्यमो महामान्यो ह्यचलेन्द्र इवाचलः ॥११८॥

क्षणं निहत्य सर्वाणि कर्माणि किल यः पुनः।
मुक्तिकान्तासमाश्लेषजनितानन्दमाप्स्यति ॥११९॥
सोऽयोगी केवली चासौ जिनश्चापि समुच्यते।
यश्चातीतगुणस्थानो मुक्तिकान्तं नमामि तम् ॥१२०॥

अर्थ—जिनमें योग नहीं है, जो अघातिया कर्मोंका क्षय करनेमें तत्पर हैं, महामान्य हैं, सुमेरुपर्वतके समान निश्चल हैं, और जो क्षणभरमें समस्त कर्मोंको नष्टकर मुक्तिकान्ताके आलिङ्गनसे उत्पन्न आनन्दको प्राप्त होंगे वे अयोगकेवली जिन कहलाते हैं। जो गुणस्थानोंसे परे हैं उन सिद्ध भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ॥११८-१२०॥

आगे जीवसमासप्ररूपणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

सामान्येनैकधा जीवः संसारस्थो भवेत्पुनः।
त्रसस्थावरभेदेन द्वेधा नाम स भिद्यते ॥१२१॥
एकेन्द्रियश्च सकलो विकलश्चेति स त्रिधा।
एकाक्षो विकलाक्षश्च संज्ञ्यसंज्ञी चतुर्विधः ॥१२२॥
एकेन्द्रियादिभेदेन पञ्चधापि भवेदसौ।
पृथिव्यब्वायुतेजोद्रुत्रसाः षोढेति भिद्यते ॥१२३॥
स्थावराः पञ्च सकलो विकलश्चेति सप्तधा।
पञ्चैकाक्षाश्च विकलः संज्ञ्यसंज्ञीति चाष्टधा ॥१२४॥
चतुर्भिर्जङ्गमैः सार्धं पञ्चस्थावरयोजने।
नवधा स विभिद्येत, स्थावरैः पञ्चभिः पुनः ॥१२५॥
द्व्यक्षत्र्यक्षचतुःस्रोतःसंज्ञ्यसंज्ञीति संगतौ।
दशधासौ भवेज्जीवो भववैभवमोहितः ॥१२६॥
सूक्ष्मबादरभेदेन दशधाः स्थावरा मताः।
तत्र त्रसेति योगेनैकादशधा भवेत्पुनः ॥१२७॥
सकलैर्विकलैश्चापि दशभिः स्थावरैः पुनः।
द्वादशत्वं व्रजेत् किञ्च विकलैः संज्ञ्यसंज्ञिभिः ॥१२८॥
त्रयोदशत्वमायाति दशस्थावरयोजने।
चतुस्त्रसैर्दशस्थावरैश्चतुर्दशतां व्रजेत् ॥१२९॥

द्वित्रस्थावरभेदेषु त्रसपञ्चकमेलनात् ।
पञ्चदशप्रकाराः स्युर्जीवाः संसारमध्यगाः ॥१३०॥
चतुर्दशस्थावरेषु त्रसद्वयस्य मेलनात् ।
षोडशधा भवेयुर्वै जीवा भवपयोधिगाः ॥१३१॥
चतुर्दशस्थावरेषु त्रसत्रिकसुयोजनात् ।
जीवाः सप्तदश प्रोक्ताः आजवंजवमध्यगाः ॥१३२॥
चतुर्दशस्थावरेषु चतुस्त्रसविमेलनात् ।
अष्टादशविधाः प्रोक्ता जीवाः संसारिणो ध्रुवम् ॥१३३॥
चतुर्दश स्थावरेषु त्रसपञ्चकमेलनात् ।
भवन्ति जीवा एकोनविंशतिसंख्यका भवे ॥१३४॥
एषां पूर्णादियोगेन भेदाः सप्ताधिका मताः ।
पञ्चाशन्मुनिभिर्मान्यैः श्रुतसागरपारगैः ॥१३५॥

अर्थ—संसारी जीव सामान्यसे एक प्रकारका है। फिर त्रसस्थावरके भेदसे दो प्रकारका है। एकेन्द्रिय तथा विकल और सकलके भेदसे तीन प्रकार है। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तथा संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे चार प्रकारका है। एकेन्द्रियादिके भेदसे पाँच प्रकारका है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये पाँच स्थावर तथा एक त्रसके भेदसे छह् प्रकारका है। पाँच स्थावर और त्रसके सकल विकल दो भेद, इस प्रकार सात भेद-वाला है। पाँच स्थावर विकल तथा संज्ञी और असंज्ञी इस प्रकार आठ भेदवाला है। द्वीन्द्रियादि चार त्रसोंके साथ स्थावरोंके पाँच भेद मिलानेसे नौ प्रकारका है। पांच स्थावरोंके साथ त्रसोंके द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरि-न्द्रिय और संज्ञी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय ये पाँच भेद मिलानेसे दश प्रकारका है। पांच स्थावरोंके सूक्ष्म और बादरकी अपेक्षा दश भेद हैं उनमें त्रस-का एक भेद मिलानेसे ग्यारह् प्रकारका है। पूर्वोक्त दश स्थावरोंमें त्रस-के सकल विकल भेद मिलानेसे बारह् प्रकारका है। दश स्थावरोंमें विकल तथा सकलके संज्ञी असंज्ञी भेद मिलानेसे तेरह् प्रकारका है। दश स्था-वरोंमें त्रसोंके द्वीन्द्रियादि भेद मिलानेसे चौदह् प्रकारका है। स्थावरोंके दश भेदोंमें द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और संज्ञी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, त्रसके ये पाँच भेद मिलानेसे पन्द्रह् प्रकारका है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्य निगोद और इतर निगोद, इन छहके सूक्ष्म बादरकी अपेक्षा

बारह भेद तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक दो भेद मिलाकर स्थावर जीवोंके चौदह भेद हैं उनमें त्रसोंके सकल और विकल ये दो भेद मिलानेसे सोलह प्रकारका है। स्थावरोंके पूर्वोक्त चौदह भेदोंमें त्रसोंके विकल और संज्ञी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय ये तीन भेद मिलानेसे सत्तरह प्रकार का है। स्थावरोंके उपर्युक्त चौदह भेदोंमें त्रसोंके द्वीन्द्रियादि चार भेद मिलानेसे अठारह प्रकारका है और स्थावरोंके उन्हीं चौदह भेदोंमें द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रीय चतुरिन्द्रिय संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय त्रसके ये पाँच भेद मिलानेसे उन्नीस प्रकारका है। इन उन्नीस भेदोंका पर्याप्तक निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक इन तीनके साथ योग करनेसे संसारी जीवोंके सत्तावन भेद शास्त्ररूपी सागरके पारगामी मुनियोंके द्वारा माने गये हैं ॥१२१-१३५॥

विशेषार्थ—जीवोंमें पाये जाने वाले सादृश्य धर्मके द्वारा उनके इस प्रकार भेद करना जिसमें सबका समावेश हो जावे, जीवसमास कहलाता है। ऊपरके प्रकरणमें जीवके उन्नीस भेदोंका दिग्दर्शन कराया गया है। ये उन्नीस भेद सामान्यकी अपेक्षा हैं। इनके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके योगसे अड़तीस भेद होते हैं तथा पर्याप्तक निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तकके योगसे सत्तावन भेद होते हैं। जीवसमासके चौदह और अंठानवे भेद भी प्रसिद्ध हैं जो इस प्रकार घटित होते हैं—

चौदह जीवसमास—एकेन्द्रियके सूक्ष्म और बादरकी अपेक्षा दो भेद तथा दोनोंके पर्याप्तक और अपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद इस प्रकार एकेन्द्रियके चार भेद। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन तीन के पर्याप्तक और अपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद और पञ्चेन्द्रियके संज्ञी असंज्ञीके भेदसे दो भेद तथा दोनोंके पर्याप्तक अपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद, इस प्रकार सबके मिलाकर ४ + २ + २ + २ + ४ = १४ जीवसमास होते हैं।

अंठानवे जीवसमास—एकेन्द्रियोंके १४ × ३ = ४२ और विकलत्रयके ३ × ३ = ९ इन इक्यावन भेदोंमें कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके ३० तथा भोगभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके ४ इस प्रकार ३४ भेद मिलानेसे तिर्यञ्चके ८५ भेद होते हैं। इनमें मनुष्यगतिके ९ तथा देव और नरक गतिके दो-दो भेद मिलानेसे ९८ जीवसमास होते हैं। कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके ३० भेद इस प्रकार हैं—पञ्चेन्द्रियके मूलमें जलचर स्थलचर और नभश्चरके भेदसे तीन भेद हैं इनके संज्ञी और असंज्ञीकी अपेक्षा दो-दो भेद हैं। उपर्युक्त छह भेद गर्भ और

संमूर्च्छन जन्मकी अपेक्षा दो प्रकारके हैं। गर्भजन्मवालेके छह भेद पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो प्रकारके हैं अतः बारह भेद हुए और सम्मूर्च्छनजन्मवालेके छह भेद, पर्याप्तक निर्वृत्य-पर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा तीन प्रकारके हैं अतः अठारह भेद हुए। दोनोंको मिलाकर तीस भेद होते हैं। भोगभूमिमें स्थलचर और नभश्चर ये दो ही भेद होते हैं और उनके पर्याप्तक अपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद होकर चार भेद होते हैं। मनुष्योंके मूलमें आर्यखण्डज और म्लेच्छखण्डज ये दो भेद हैं। इनमें आर्यखण्डजके पर्याप्तकनिर्वृत्य-पर्याप्तक तथा लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा तीन भेद और म्लेच्छखण्डजके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा दो भेद। इन पाँच भेदोंमें भोग-भूमिज और कुभोगभूमिज मनुष्योंके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा चार भेद मिलानेसे मनुष्योंके नौ भेद होते हैं। देव और नारकीके पर्याप्तक तथा निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद हैं। जीवसमासके इन भेदोंको जानकर सदा जीवरक्षामें तत्पर रहना चाहिये।

आगे पर्याप्ति प्ररूपणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

यथा लोके पटोत्तुङ्गगृहमौलिघटादयः।
पूर्णापूर्णा हि दृश्यन्ते जीवाश्चापि तथाविधाः ॥१३६॥
आहारश्च शरीरञ्चापीन्द्रियानमनांसि च।
भाषा चेत्येव षट्कं स्यात्पर्याप्तीनां शरीरिणाम् ॥१३७॥
पर्याप्तीनां च सर्वासां प्रारम्भो युगपद् भवेत्।
यथाक्रमं भवेत्पूर्तिर्घटिकाद्वयमध्यके ॥१३८॥
एकाक्षाणां चतस्रस्ता विकलानाञ्च पञ्च ताः।
सकलानां षडेव स्युर्जीवतां जगतीतले ॥१३९॥
अपर्याप्ताश्च पर्याप्ता जीवा द्वेधा भवन्ति ते।
अपर्याप्ताः पुनः केचिन् निर्वृत्या केऽपि लब्धितः ॥१४०॥
येषां शरीरपर्याप्तिः पूर्णा यावन्न जायते।
तावन्निर्वृत्यपर्याप्तास्ते मताः किल जन्तवः ॥१४१॥
सत्यां तस्याञ्च पूर्णायां पर्याप्ता वै भवन्ति वै।
येषामेकापि नो जाता पूर्णा पर्याप्तिरत्र वा ॥१४२॥

भविष्यत्येव नो चापि लब्ध्यपर्याप्तका हि ते ।
अन्तर्मुहूर्तकाले च लब्ध्यपर्याप्तजीविनाम् ॥१४३॥
शतत्रयं च षट्त्रिंशत् हा षट्षष्टिसहस्रकम् ।
भवन्ति हन्त लोकेऽस्मिन् जनयो मृतयस्तथा ॥१४४॥
कर्मभूमिसमुत्पन्नतिर्यङ्मर्त्यकदम्बके ।
लब्ध्यपर्याप्तका नूनं भवन्त्यन्यत्र नैव च ॥१४५॥
प्रथमे च द्वितीये च चतुर्थे षष्ठके तथा ।
गुणस्थानेष्वपर्याप्ता जायन्ते किल जन्तवः ॥१४६॥
अपूर्णयोगयुक्तत्वात्काययोगस्य योगिनः ।
भवेन्निर्वृत्त्यपर्याप्तता कदाचन कस्यचित् ॥१४७॥
लब्ध्यपर्याप्तकत्वं तु मिथ्यादृष्टिमतां भवेत् ।
अन्येषां न त्रिकालेऽपि निखिलेऽपि च भूतले ॥१४८॥
धन्याः सिद्धिमहीकान्ता जन्मक्लेशपराङ्मुखाः ।
अमन्दानन्दसंलीना विजयन्ते परमेश्वराः ॥१४९॥

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें वस्त्र, उच्चभवन, मुकुट और घट आदि पदार्थ पूर्ण और अपूर्ण देखे जाते हैं उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण देखे जाते हैं ॥१३६॥ आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन जीवोंकी ये छह पर्याप्तियाँ कही गई हैं ॥१३७॥ सभी पर्याप्तियोंका प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है परन्तु पूर्ति क्रमसे दो घड़ीके भीतर होती है ॥१३८॥ एकेन्द्रियोंके चार, विकलों अर्थात् द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तकके पाँच और संज्ञी जीवोंके लोकमें छहों पर्याप्तियाँ होती हैं ॥१३९॥ वे जीव दो प्रकारके हैं एक पर्याप्तक और दूसरे अपर्याप्तक। अपर्याप्तकोंमें कोई जीव निर्वृत्तिकी अपेक्षा अपर्याप्त हैं और कोई लब्धिकी अपेक्षा। भाव यह है कि अपर्याप्तक जीव दो प्रकारके हैं—१ निर्वृत्त्यपर्याप्तक और २ लब्ध्यपर्याप्तक ॥१४०॥ जिनकी जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है तब तक वे निर्वृत्त्यपर्याप्तक माने गये ॥१४१॥ शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होनेपर वे ही जीव नियमसे पर्याप्तक हो जाते हैं। इस जगत्में जिनकी एक भी पर्याप्ति न पूर्ण हुई है और न होगी वे लब्ध्यपर्याप्तक हैं। लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके अन्तर्मुहूर्तमें छ्यासठ हजार

तीन सौ छत्तीस जन्म मरण होते हैं ॥१४१-१४४॥ लब्ध्यपर्याप्तक जीव कर्मभूमिज तिर्यञ्च और मनुष्योंमें ही होते हैं अन्यत्र नहीं होते ॥१४५॥ अपर्याप्तक जीव पहले, दूसरे, चौथे और आहारक शरीरकी अपेक्षा छठवें गुणस्थानमें होते हैं ॥१४६॥ काययोगकी अपूर्णतासे युक्त होनेके कारण किन्हीं सयोगकेवलीके भी समुद्घातके समय निर्वृत्त्यपर्याप्तक अवस्था होती है ॥१४७॥ यह नियम है कि लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था मिथ्या-दृष्टि जीवोंके ही होती है अन्य जीवोंके तीनों काल तथा समस्त जगत्में नहीं होती ॥१४८॥ धन्यभाग सिद्ध परमेष्ठी जन्मके क्लेशसे रहित हैं। अनन्त आनन्दमें लीन रहने वाले वे परमेश्वर जयवन्त प्रवर्तते हैं ॥१४९॥

विशेषार्थ—पर्याप्तिका अर्थ पूर्णता है। यह पूर्णता शरीर-रचनाकी अपेक्षा नहीं है किन्तु आत्मामें शरीर निर्माणके योग्य क्रमसे विकसित होने वाली शक्तिकी अपेक्षा है। पर्याप्तिके छह भेद हैं—१ आहार २ शरीर ३ इन्द्रिय ४ श्वासोच्छ्वास ५ भाषा और ६ मन। मृत्युके बाद जब यह जीव विग्रहगतिका काल पूर्णकर अपने उत्पत्तिके योग्य स्थानपर पहुँचता है तब शरीररचनाके योग्य आहारवर्गणाओंको ग्रहण करता है। उन वर्गणाओंको खल रस भाग रूप परिणमानेके योग्य शक्तिका आत्मामें प्रकट होना आहारपर्याप्ति कहलाती है। खल भागको हड्डी आदि कठोर अवयव रूप तथा रसभागको रुधिर आदि तरल अवयव रूप परिणमानेके योग्य शक्तिका आत्मामें प्रकट होना शरीरपर्याप्ति है। उन्हीं आहारवर्गणाके परमाणुओंको स्पर्शनादि इन्द्रियोंके आकार परि-णमानेवाली शक्तिका आत्मामें प्रकट होना इन्द्रियपर्याप्ति कहलाती है। तथा उन्हीं आहारवर्गणाके परमाणुओंका श्वासोच्छ्वासरूप परिणमानेकी शक्तिकी पूर्णताको श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं। ये चार पर्याप्तियाँ अनिवार्यरूपसे सब जीवोंके होती हैं। इनके अनन्तर द्वीन्द्रियादि जीवोंके भाषावर्गणाके परमाणुओंको शब्दरूप परिणमाने वाली शक्तिके प्रकट होनेको भाषापर्याप्ति कहते हैं और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके मनोवर्गणाके परमाणुओंको द्रव्यमनरूप परिणमाने और उसकी सहायतासे विचार करनेकी शक्तिके प्रकट होनेको मनःपर्याप्ति कहते हैं। इनमेंसे एकेन्द्रिय जीवके प्रारम्भकी चार, द्वीन्द्रियसे लेकर असैनी पञ्चेन्द्रिय तकके भाषा सहित पाँच और सैनी पञ्चेन्द्रियके मन सहित छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है तब तक यह जीव निर्वृत्त्यपर्याप्तक कहलाता है और उसके बाद पर्याप्तक कहा जाता है। जिस जीवकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तथा श्वासके अठारहवें

आयमें मर जाता है उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। यह लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था सम्मूर्च्छन जन्म वाले मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च और मनुष्योंके ही होती है। निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था मरणकी अपेक्षा प्रथम द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानमें, आहारकशरीरकी अपेक्षा छठवें गुणस्थानमें और लोकपूरण समुद्घातकी अपेक्षा तेरहवें गुणस्थानमें होती है। लब्ध्यपर्याप्तक जीवके अन्तर्मुहूर्तमें छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस क्षुद्रभव होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—एकेन्द्रियके ६६१३२, द्वीन्द्रियके ८०, त्रीन्द्रियके ६०, चतुरिन्द्रियके ४० और पञ्चेन्द्रियके २४ होते हैं।

आगे प्राण प्ररूपणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

येषां संयोगमासाद्य वियोगं चापि देहिनः।
जीवन्ति च म्रियन्ते च ते ज्ञेयाः प्राणसंज्ञिनः ॥१५०॥

आनप्राणो बलानां च त्रयं चेन्द्रियपञ्चकम्।
आयुश्चेति दश प्राणा बाह्याः सर्वज्ञदर्शिताः ॥१५१॥

ज्ञानदर्शनरूपाश्च भावप्राणा मतास्तु ये।
तेषां कदापि केषांचिद् वियोगो नैव जायते ॥१५२॥

वीर्यान्तरायसंयुक्तमतिज्ञानावृतेः पुनः।
क्षयोपशमतश्चित्सबलमिन्द्रियपञ्चकम् ॥१५३॥

श्वासोच्छ्वासशरीराख्यकर्मणोरुदये सति।
आनप्राणश्च कायस्य बलञ्चापि स्वरोदये ॥१५४॥

वचनस्य बलं चायुःकर्मणो ह्युदये च तत्।
भवन्ति प्राणिनां प्राणा बाह्या बाह्यीकगोचराः ॥१५५॥

पञ्चाक्षाणां ससंज्ञानां सर्वे प्राणा भवन्ति ते।
अधश्चैकैकतो हीना अन्तिमे तु द्विहीनकाः ॥१५६॥

अपर्याप्तकपञ्चाक्षद्विके सप्त ततः परम्।
हीना एकैकतो ज्ञेयाः प्राणाः प्राणधरैर्नरैः ॥१५७॥

द्रव्यप्राणबहिर्भूता भावप्राणविराजिनः।
मुक्तिकान्तानुकूलास्ते जयन्ति जगदीश्वराः ॥१५८॥

अर्थ—जिनका संयोग पाकर जीव जीवित होते हैं और वियोग पाकर मरते हैं उन्हें प्राण जानना चाहिये ॥१५०॥ श्वासोच्छ्वास, तीन बल (मनोबल, वचनबल, कायबल), पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण,

चक्षु, कर्ण) और आयु ये दश बाह्य प्राण सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा देखे गये हैं ॥१५१॥ जो ज्ञान-दर्शन रूप भावप्राण माने गये हैं उनका कभी भी किसी जीवके वियोग नहीं होता है ॥१५२॥ वीर्यान्तराय सहित मति-ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे मनोबल और पाँच इन्द्रिय प्राण उत्पन्न होते हैं ॥१५३॥ श्वासोच्छ्‌वास तथा शरीरनामकर्मका उदय रहते हुए श्वासोच्छ्‌वास और कायबल प्रकट होते हैं। स्वरनामकर्मके उदयमें वचनबल और आयुकर्मका उदय होनेपर आयु प्राण प्रकट होता है। प्राणियोंके ये दश प्राण बाह्य जीवोंके दृष्टिगोचर होते हैं अतः बाह्य कहलाते हैं ॥१५४-१५५॥ संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके सभी प्राण होते हैं और उनसे नीचेके जीवोंके एक-एक प्राण कम होता जाता है परन्तु अंतिम अर्थात् एकेन्द्रियके दो कम होते हैं। तात्पर्य यह है कि संज्ञी पञ्चेन्द्रियके १०, असंज्ञी पञ्चेन्द्रियके मनके विना ९, चतुरिन्द्रियके मन और कानके विना आठ, त्रीन्द्रियके मन, कान तथा चक्षुके विना सात, द्वीन्द्रिय-के मन, कान, चक्षु और घ्राणके विना छह तथा एकेन्द्रियके स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्‌वास ये चार प्राण होते हैं ॥१५६॥ संज्ञी असंज्ञी अपर्याप्तक पञ्चेन्द्रियोंके मनोबल, वचनबल और श्वासोच्छ्‌वासके विना सात प्राण होते हैं। तथा आगे एक-एक प्राण कम जानना चाहिये ॥१५७॥ जो द्रव्यप्राणोंसे रहित हैं तथा भावप्राणोंसे सुशोभित हैं ऐसे मुक्तिकान्ताके स्वामी सिद्धपरमेष्ठी जयवन्त प्रवर्तते हैं ॥१५८॥

आगे संज्ञा प्ररूपणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

याभिः प्रबाधिता जीवा हृषीकविषयेषु वै ।
झम्पापातं प्रकुर्वन्तो दुःखं तीव्रतरं किल ॥१५९॥
इह लोके परत्रापि प्राप्नुवन्ति निरन्तरम् ।
संज्ञास्ताश्च समादिष्टाः पूर्वाचार्यकदम्बकैः ॥१६०॥
रिक्तोदरस्य जीवस्याहारपुञ्जस्य दर्शनात् ।
तत्रोपयुक्तचित्तस्यासातवेद्योदयात्पुनः ॥१६१॥
आहारस्याभिलाषा या जायते बहुसीदतः ।
प्रथमाहारसंज्ञा सा ज्ञेया ज्ञेयबुभुत्सुभिः ॥१६२॥
हीनसत्त्वस्य भयोत्पादककारणानां समागमात् ।
तत्रोपयुक्तचित्तस्य भयोदीरणया बिभ्यतः ॥१६३॥

प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पसंदोहदायिनी ।
जुगुप्सादीनताशंसाशङ्कासंत्रासकारिणी ॥१६४॥

सम्भ्रान्तिमृत्युवैवर्ण्यगद्गदस्वरधारिणी ।
दिङ्मुखालोकनापस्मारादिचेष्टाविधायिनी ॥१६५॥

या भीतिर्जायते वै सा भीतिसंज्ञा समुच्यते ।
चलेन्द्रियस्य लोकस्य चन्द्रचन्दनदर्शिनः ॥१६६॥

कोकिलालिमयूराणां रम्यारावनिशामिनः ।
कुन्दमाकन्दनीलाब्जकञ्जमञ्जुलदिङ्मुखे ॥१६७॥

उद्यानादौ निषण्णस्य विविक्तस्थानशायिनः ।
रतौ संलीनचित्तस्य चञ्चलाक्षीविलोकनात् ॥१६८॥

वेदोदयाद् भवेद् या वै मैथुनेच्छाऽहितप्रदा ।
सा सूक्ता मैथुनाभिख्या संज्ञा संज्ञानशालिभिः ॥१६९॥

नानोपकरणालोकात्तत्र मूर्च्छार्चितसाम् ।
लोभतीव्रोदयात्पुंसां सुखित्वभ्रान्तिकारिणी ॥१७०॥

अर्जने रक्षणे नाशे महामोहविधायिनी ।
पापाटवीघनाली च मुक्तिद्वारपिधायिनी ॥१७१॥

परिग्रहाभिलाषा या जायते सुखवैरिणी ।
परिग्रहाभिधेया सा तुर्यसंज्ञा समुच्यते ॥१७२॥

तत्राहारस्य संज्ञानमाप्रमत्तयतेर्भवेत् ।
भीतिसंज्ञाष्टमस्थानपर्यन्तं च प्रकथ्यते ॥१७३॥

मैथुनाख्यावती संज्ञा नवमार्धे प्रवर्तते ।
तुर्यसंज्ञा भवेत्सूक्ष्मसाम्परायेऽपि वर्तिनाम् ॥१७४॥

प्रमत्तेतरसाधूनां कर्मसद्भावमात्रतः ।
संज्ञाश्चैताः समुच्यन्ते न कार्यैः कर्मजैः परम् ॥१७५॥

संज्ञाबाधापरातीता आत्मानन्दधुनिर्भराः ।
जयन्त्यहो पुनः केऽपि महाभागा महीतले ॥१७६॥

इति सम्यक्त्वचिन्तामणौ जीवतत्त्वस्वरूप-भेद-
वर्णनो नाम द्वितीयो मयूखः ।

●

अर्थ—जिनके द्वारा बाधित हुए जीव इन्द्रियविषयोंमें झम्पापात करते हुए निश्चयसे इस लोक और परलोकमें निरन्तर अत्यधिक दुःख प्राप्त करते हैं वे पूर्वाचार्योंके समूहके द्वारा संज्ञाएँ कही गई हैं ॥१५९-१६०॥

१ **आहारसंज्ञा**—

जिसका पेट खाली है, जिसका चित्त आहारकी ओर उपयुक्त हो रहा है तथा जो क्षुधाकी वेदनासे अत्यन्त दुखी हो रहा है ऐसे जीवके बाह्यमें आहार समूहके देखनेसे और अन्तरङ्गमें असाता वेदनीयकी उदीरणासे जो आहारकी इच्छा होती है उसे पदार्थ स्वरूप ज्ञानके इच्छुक मनुष्योंको पहली आहारसंज्ञा जानना चाहिये ॥१६१-१६२॥

२ **भयसंज्ञा**—

जो हीन शक्ति वाला है तथा भयकी ओर जिसका चित्त लग रहा है ऐसे भयभीत मनुष्यके बाह्यमें भयोत्पादक कारणोंके मिलनेसे तथा अन्तरङ्गमें भयनोकषायका उदय होनेसे, मूर्च्छा, स्वेद, रोमाञ्च और कम्पनके समूहको देने वाली, जुगुप्सा, दीनताप्रदर्शन, शङ्का और त्रास-को करने वाली, सम्भ्रान्ति, मृत्यु, विवर्णता और गद्गद स्वरको धारण करने वाली, दिशाओंका देखना तथा अपस्मार आदिकी चेष्टाको करने वाली जो भीति होती है वह भयसंज्ञा कही जाती है ॥१६३-१६५॥

३ **मैथुनसंज्ञा**—

जिसकी इन्द्रियाँ चञ्चल हैं, जो चन्द्र चन्दन आदि उद्दीपन विभाव-को देख रहा है, कोयल, भ्रमर और मयूरोंके सुन्दर शब्दोंको सुन रहा है, कुन्द आम नीलकमल तथा सामान्य कमलोंसे सुन्दर दिशाओं वाले उपवन आदिमें जो बैठा है, एकान्त स्थानमें शयन कर रहा है और रति-में जिसका चित्त लीन हो रहा है ऐसे मनुष्यके बाह्यमें स्त्रीके देखनेसे तथा अन्तरङ्गमें वेदनोकषायका उदय होनेसे जो मैथुनकी इच्छा होती है उसे सम्यग्ज्ञानसे सुशोभित मुनियोंने मैथुनसंज्ञा कहा है ॥१६६-१६९॥

४. **परिग्रहसंज्ञा**—परिग्रहमें जिनका चित्त मूर्च्छा—ममत्वपरिणामसे युक्त हो रहा है ऐसे पुरुषोंके बाह्यमें नाना प्रकारके उपकरण देखनेसे,

और अन्तरङ्गमें लोभ कषायका तीव्र उदय होनेसे, सुखीपनेकी भ्रान्ति करने वाली, उपार्जन, रक्षण तथा नाशके समय महामोहको उपजाने-वाली, पापरूपी अटवीको हरीभरी रखनेके लिये मेघमालारूप, मुक्तिका द्वार बन्द करने वाली और निराकुलतारूप सुखका घात करने वाली जो परिग्रहकी इच्छा उत्पन्न होती है वह परिग्रह नामकी चौथी संज्ञा कही जाती है ॥१७०–१७२॥

उपर्युक्त चार संज्ञाओंमें आहार संज्ञा प्रमत्तविरत नामक छठवें गुण-स्थान तक होती है। भयसंज्ञा आठवें गुणस्थान तक कही जाती है। मैथुनसंज्ञा नौवें गुणस्थानके पूर्वार्ध तक होती है और परिग्रहसंज्ञा सूक्ष्म-साम्पराय—दशवें गुणस्थानमें भी वर्तमान पुरुषोंके होती है। अप्रमत्त-विरत आदि गुणस्थानोंमें जो ये संज्ञाएँ कही गई हैं वे कर्मके सद्भाव मात्रसे कही गई हैं किन्तु कर्मसे होनेवाले कार्योंकी अपेक्षा नहीं कही गई हैं ॥१७३–१७५॥

जो संज्ञाओंकी बाधासे रहित तथा आत्मीय आनन्दसे परिपूर्ण हैं ऐसे कितने ही भाग्यशाली मनुष्य इस पृथ्वीतलपर जयवन्त प्रवर्तते हैं, यह आश्चर्यकी बात है। तात्पर्य यह है कि संज्ञाओंका प्रकोप दशम गुण-स्थान तक ही रहता है उसके आगेके समस्त मनुष्य संज्ञाओंसे रहित हैं ॥१७६॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिन्तामणिमें जीवतत्त्वका स्वरूप और उसके भेदोंका वर्णन करनेवाला द्वितीय मयूख समाप्त हुआ।

●

तृतीयो मयूखः

अब तृतीय मयूखके प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करते हुए भगवान् महावीरकी स्तुति करते हैं—

उपेन्द्रवज्रा

उपेन्द्रवज्रायुधपन्नगेन्द्रा
नमन्ति पादाब्जयुगं यदीयम् ।
स्तुवन्ति भक्त्या च सदा स वीरः
परं प्रमोदं किल नो विदध्यात् ॥ १ ॥

अर्थ—इन्द्र, प्रतीन्द्र तथा धरणेन्द्र सदा भक्तिपूर्वक जिनके चरण-कमलयुगलको नमस्कार करते हैं वे भगवान् महावीर हम सबके लिए उत्कृष्ट—आत्मीक आनन्द प्रदान करें ॥१॥

आगे गति आदि चौदह मार्गणाओंके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन किया जाना है अतः सर्व प्रथम मार्गणासामान्यका लक्षण कहकर गतिमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं ।

मृग्यन्ते यासु याभिर्वा जीवाः संसारमध्यगाः ।
मार्गणास्ता हि विज्ञेया गत्याद्यास्ताश्चतुर्दश ॥ २ ॥

अर्थ—जिनमें अथवा जिनके द्वारा संसारी जीवोंकी खोज की जाय उन्हें मार्गणा जानना चाहिये । वे गति आदि चौदह हैं ।

भावार्थ—१ गति २ इन्द्रिय ३ काय ४ योग ५ वेद ६ कषाय ७ ज्ञान ८ संयम ९ दर्शन १० लेश्या ११ भव्यत्व १२ सम्यक्त्व १३ संज्ञित्व और १४ आहारक ये चौदह मार्गणाएँ हैं । संसारी जीवोंका निवास इन्हीं मार्गणाओंमें है ॥२॥

गतिमार्गणा—

गतिकर्मोदयाज्जाता जीवावस्था गतिर्मता ।
नरकादिप्रभेदेन चतुर्धा सा तु भिद्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—गतिकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई जीवकी अवस्था गति मानी गई है । वह नरकादिके भेदसे चार प्रकारकी है ॥३॥

नरकगति—

श्वभ्रगत्युदयात्तत्र जाता जीवस्य या दशा।
नानादुःखसमाकीर्णा सा श्वभ्रगतिरुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—नरकगति नामकर्मके उदयसे जीवकी जो अवस्था उत्पन्न होती है वह नाना दुःखोंसे परिपूर्ण नरकगति कही जाती है ॥४॥

नरकगतिमें उत्पन्न होनेके कारण—

बालानामबलानाञ्च जराजीर्णशरीरिणाम्।
कान्तानां गतकान्तानां व्याधिव्यथितदेहिनाम् ॥ ५ ॥
एकेन्द्रियादिभूतानामसातीभवतां भवे।
हिंसनान्मनसा तेषामनिष्टाऽचिन्तनात्तथा ॥ ६ ॥
अलीकालापतोऽन्येषां द्रविणोच्चयचौर्यतः।
पराङ्गनाङ्गसंश्लेषान्मूर्च्छन्मूर्च्छाप्रभावतः ॥ ७ ॥
अमन्दमोहसंमोहादन्यथाचरणात्तथा।
जायन्ते प्राणिनस्तत्र श्वभ्रेऽशर्मसरित्पतौ ॥ ८ ॥
भुञ्जन्ते भविनो यत्र नानादुःखकदम्बकम्।
सागरान् वसुधाजातं जातं यच्च पराश्रयात् ॥ ९ ॥

अर्थ—बालकों, स्त्रियों, वृद्धों, विधवाओं, रोगियों तथा संसारमें दुःख उठाने वाले एकेन्द्रियादि जीवोंकी हिंसा करनेसे, मनसे उनका अनिष्ट विचारनेसे, असत्य बोलनेसे, दूसरोंके धनसमूहकी चोरी करनेसे, परस्त्रियोंके शरीरका आलिङ्गन करनेसे, बढ़ती हुई मूर्च्छा—ममत्वपरिणतिके प्रभावसे, अत्यधिक मोहमिथ्यात्वसे उत्पन्न भ्रान्तिसे तथा विपरीत आचरणसे जीव, दुःखके सागरस्वरूप उस नरकमें उत्पन्न होते हैं जिसमें उत्पन्न हुए जीव सागरों पर्यन्त पृथिवीसे उत्पन्न तथा अन्य नारकियोंके आश्रयसे उत्पन्न नाना दुःखोंके समूहको भोगते हैं ॥५-९॥

आगे उन नारकियोंके आधारभूत सात पृथिवियोंका वर्णन करते हैं—

अथैषामाश्रयं वक्ष्ये कीर्णं दुःखकदम्बकैः।
धृत्वा मनसि पूर्वेषामाचार्याणां वचःक्रमम् ॥१०॥

अधोऽधः खलु वर्तन्ते सप्तैतो भूमयः क्रमात् ।
रत्नभा शर्कराभा च बालुकाभा च पङ्कभा ॥११॥
धूमभा च तमोभा च ततो गाढतमःप्रभा ।
घनाम्बुवातवाताभ्रसंस्थिताः सहजाश्चिरम् ॥१२॥
नैकदुःखचयोत्पूर्णाः पापप्राणिसमाचिताः ।
तत्र प्रथमभूमौ चानेकनारकसंश्रितम् ॥१३॥
त्रिंशल्लक्षमितं ज्ञेयं नरकाणां कदम्बकम् ।
द्वितीयायां पुनः पञ्चविंशतिलक्षलक्षितम् ॥१४॥
तृतीयायां ततः पञ्चदशलक्षप्रमाणकम् ।
चतुर्थ्यां भुवि विज्ञेयं दशलक्षमितं पुनः ॥१५॥
पञ्चम्यां च ततो भूम्यां लक्षत्रय्यभिलक्षितम् ।
षष्ठ्यां पृथ्व्यां च पञ्चोनलक्षमानं ततः परम् ॥१६॥
सप्तम्यां भुवि विज्ञेयं पञ्चमात्रमितं तु तत् ।
रत्नभायां भुवि ज्ञेयाः प्रस्तारा दश च त्रयः ॥१७॥
ज्ञेया हीना ततोऽधस्ताद् द्वाभ्यां द्वाभ्यां नियोगतः ।
पूर्वपापसमुद्रेकप्रेरिताः किल जन्तवः ॥१८॥
हन्त हन्त पतन्त्यासु भरन्तोऽशर्मसंहतिम् ।
खराघाननसंतुल्याः शय्यास्तत्र भवन्ति हि ॥१९॥

अर्थ—अब पूर्वाचार्योंकी वचन-परिपाटीको मनमें रखकर इन नारकियोंके उस आधारका कथन करूंगा जो दुःखोंके समूहसे व्याप्त है ॥१०॥ इस समान धरातलसे नीचे-नीचे क्रमसे सात भूमियाँ हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—१ रत्नप्रभा २ शर्कराप्रभा ३ बालुकाप्रभा ४ पङ्कप्रभा ५ धूमप्रभा ६ तमःप्रभा और ७ महातमःप्रभा। ये भूमियाँ चिरकालसे स्वतः सिद्ध हैं—किसीकी बनाई नहीं हैं, तथा घनोदधि वातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाशके आश्रित हैं अर्थात् प्रत्येक भूमिके नीचे तीन वातवलय और आकाश विद्यमान है ॥११-१२॥ ये भूमियाँ नाना दुःखोंके समूहसे परिपूर्ण हैं तथा पापी जीवोंसे व्याप्त हैं। उन सात भूमियोंमेंसे पहली भूमिमें अनेक नारकियोंसे युक्त तीस लाख नरक-बिल

हैं, दूसरी भूमिमें पच्चीस लाख, तीसरी भूमिमें पन्द्रह लाख, चौथी भूमिमें दश लाख, पांचवीं भूमिमें तीन लाख, छठवीं भूमिमें पाँच कम एक लाख और सातवीं भूमिमें मात्र पाँच नरक हैं। रत्नप्रभा पृथिवीमें तेरह पटल हैं और नीचे प्रत्येक पृथिवीमें नियमसे दो-दो पटल कम होते जाते हैं। अत्यन्त खेद है कि पूर्व पापके उदयसे प्रेरित हुए जीव दुःख समूहको उठाते हुए इन भूमियोंमें पड़ते हैं। उन भूमियोंमें गधा आदिके मुखके समान उपपादशय्याएँ हैं ॥१४-१९॥

आगे नारकी जीवोंकी उत्पत्ति तथा आकार आदिका वर्णन करते हैं—

जीवास्तत्रोपपद्यन्ते घटिकाद्वयमात्मना ।
केचिद् व्याघ्रमुखाः केचित्खराद्याननसंयुताः ॥२०॥
केचिल्लम्बोदराः केचिद् दीर्घकर्णाभिधारिणः ।
केचित्पुच्छयुताः केचिल्लम्बदन्तविशोभिनः ॥२१॥
केचित्कपित्थमूर्धानः केचित् पिङ्गललोचनाः ।
रूक्षरोमयुताः केचित् केचित् कुब्जकलेवराः ॥२२॥
केचित्कपोतवर्णाभाः केचिन्नीलीविशोभिनः ।
तमःप्रपुञ्जसंकाशाः सन्ति केचन नारकाः ॥२३॥

अर्थ—उन उपपाद शय्याओंपर जीव अपने आप दो घड़ीमें उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण शरीरके धारक हो जाते हैं। कितने ही नारकी व्याघ्रके समान मुखवाले, कितने ही गधे आदिके समान मुखसे सहित, कितने ही लम्बे पेटवाले, कितने ही बड़े-बड़े कानोंको धारण करनेवाले, कितने ही पूँछसे सहित, कितने ही लम्बे दांतोंसे सहित, कितने ही कैंथके समान मुखवाले, कितने ही पीली आँखों वाले, कितने ही रूक्ष रोमोंसे सहित, कितने ही कूबड़वाले शरीरसे युक्त, कितने ही कबूतरके समान रङ्गवाले, कितने ही नील वर्णवाले और कितने ही नारकी तिमिरसमूहके समान काले होते हैं[1] ॥२०-२३॥

---

१. कितने ही आचार्योंने सभी नारकियोंका कृष्ण रूप वर्णन किया है—'सव्व णारया किण्हा।' अर्थात् सब नारकियोंकी द्रव्यलेश्या कृष्ण ही होती है।

अब नारकियोंके दुःखोंका वर्णन करते हैं—

शय्याभ्यो निपतन्त्येते नीचैर्नरकभूमिषु ।
उत्पतन्ति पुनस्ताभ्यः कन्दुका इव पीडिताः ॥२४॥
यावत्पृथ्वीं गता एते सहन्ते बहुवेदनाम् ।
तावद्दण्डधराकाराः पूर्ववैरसमीरिताः ॥२५॥
प्रज्वलत्कोपनज्वालाजालरक्तास्यलोचनाः ।
स्फुरन्तमधुरं गाढं दशन्तो दन्तमालया ॥२६॥
कल्पान्तवातसंक्षुब्धमहानीरधिराविणः ।
निशातायुधसंघातव्यापारोद्यतपाणयः ॥२७॥
अलीकावधिविज्ञातपुरावैरप्रदीपिताः ।
उपेत्य तुमुलं दुःखं ददतेऽदयचेतसः ॥२८॥
(कलापकम्)

अर्थ—ये नारकी उपपाद शय्याओंसे नीचे बिलोंकी भूमिमें पड़ते हैं और ताड़ित गेंदके समान पुनः ऊपरकी ओर उछलते हैं। जबतक ये पृथिवीपर आकर अत्यधिक वेदनाको सहते हैं तबतक यमराजके समान आकृतिवाले, पूर्व वैरसे प्रेरित, प्रज्वलित कोपाग्निकी ज्वालाओंके समूहसे लाल लाल मुख और नेत्रोंसे सहित, फड़कते हुए ओंठको दाँतोंसे अत्यधिक डसते हुए, प्रलयकालकी वायुसे क्षुभित महासागरके समान शब्द करने वाले, तीक्ष्ण शस्त्रोंके चलानेमें उठे हुए हाथोंसे सहित तथा विभङ्गावधिज्ञानके द्वारा जाने हुए पूर्व वैरसे प्रकुपित, निर्दय चित्तवाले नारकी आकर भयंकर दुःख देने लगते हैं ॥२४-२८॥

करपत्रचयैः केचिद्दारयन्ति शिरः क्वचित् ।
स्फोटयन्ति घनाघातैः केचन कुत्रचित्पुनः ॥२९॥
प्रतप्तायोरसं केचित्पाययन्ति बलात् क्वचित् ।
पुत्रिकाभिः सुतप्ताभिर्योजयन्ति पुनः क्वचित् ॥३०॥
वाहयन्ति ततो यानं भूरिभारभृतं चिरात् ।
छेदयन्ति पुनः केचिन्नासिकां तर्कुसंचयैः ॥३१॥

क्वचित्प्रदीप्तहव्याशकुण्डे पातयन्ति हा ।
ततः कटुकतैलेन निषिञ्चन्ति कलेवरम् ॥३२॥
केचित्ततः समुद्धृत्य कृमिकोटीसमुत्कटे ।
क्षारपानीयसंपूर्णस्रवन्त्याः पातयन्ति च ॥३३॥
क्वचित्कण्टकवृक्षेष्वारोहणं ह्यवरोहणम् ।
कारयन्ति भृशं केचित्प्रसह्य क्रूरमानसाः ॥३४॥
अजस्रं दुःखितात्मासौ सौख्यलाभमनीषया ।
यत्र यत्र समायाति कानने पर्वतेऽपि वा ॥३५॥
लभते तत्र तत्रायं दुःखमेव ततोऽधिकम् ।
हतभाग्यो जनः किंवा लभते कुत्रचित्सुखम् ॥३६॥
तत्र कान्तारमध्येऽसौ निशितैरसिपत्रकैः ।
क्षणेन च्छिन्नगात्रः सन् भृशं हन्त विषीदति ॥३७॥
पुनः पारदवत्तस्य शरीरं शकलीकृतम् ।
यथापूर्वं भवत्येव चित्रं कर्मविपाकतः ॥३८॥
अथायं पर्वतं याति शरणं भीतमानसः ।
सोऽपि नूनं भिनत्त्येव शिलासंघाततश्चिरम् ॥३९॥
कदाचित्कन्दरामेति प्राणत्राणमनीषया ।
तत्र पन्नगभूपालैर्वृश्चिकैर्विषधारिभिः ॥४०॥
दष्टो मूर्च्छां प्रयात्येव भृशमात्मापराधतः ।
यावज्जीवं क्षुधादुःखं तृषादुःखं च सन्ततम् ॥४१॥
क्षेत्रजं विविधं दुःखं भुङ्क्तेऽयं बहुपापभाक् ।
आतृतीयपृथिव्यन्तमसुरा असुराधमाः ॥४२॥
स्मारयन्ति पुरावैरमेतांश्च नरकस्थितान् ।
किमुक्तेनातिबहुना सारमेतत्प्रबुध्यताम् ॥४३॥
त्रिलोकीगतजीवानां सर्वेषामपि यत्सुखम् ।
ततोऽप्यनन्तगुणितं दुःखमेषां भवेदिह ॥४४॥

त्रिलोक्यां किञ्च यद्दुःखं जायते भविनां सदा ।
अखिलं तदिहास्त्येव क्वचिदेकप्रदेशके ॥४५॥
यच्चापि जायते दुःखमेकस्यापीह देहिनः ।
नास्ति तत्कुत्रचिल्लोके भविनां भववर्तिनाम् ॥४६॥

अर्थ—कहीं कोई नारकी करोंतके द्वारा शिरको विदीर्ण करते हैं तो कहीं कोई घनोंकी चोटोंसे उसे फोड़ते हैं ॥२९॥ कहीं कोई बलपूर्वक तपाया हुआ लोहेका रस पिलाते हैं तो कहीं कोई संतप्त पुतलियोंको चिपटाते हैं ॥ ३० ॥ तदनन्तर कहीं कोई चिरकाल तक बहुत भारी भारसे भरी हुई गाड़ीको खिचवाते हैं कहीं कोई तकुओंके द्वारा नाकको छेदते हैं ॥३१॥ दुःखकी बात है कि कहीं कोई देदीप्यमान अग्निके कुण्डमें गिरा देते हैं पश्चात् कड़ुए तैलसे शरीरको सींचते हैं ॥३२॥ तदनन्तर कोई अग्निकुण्डसे निकालकर करोड़ों कीड़ोंसे परिपूर्ण नदीके खारे पानीके प्रवाहमें गिरा देते हैं ॥३३॥ कितने ही क्रूर हृदयवाले नारकी चिरकाल तक कांटेदार वृक्षोंपर बार-बार चढ़ना और उतरना करवाते हैं ॥३४॥ निरन्तर दुःखी रहने वाला वह नारकी सुख प्राप्तिकी इच्छासे जहाँ-जहाँ वन अथवा पर्वतमें जाता है वहाँ-वहाँ पहलेसे भी अधिक दुःख-को प्राप्त होता है । ठीक ही है क्योंकि भाग्यहीन मनुष्य कहाँ क्या सुख पाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥३५-३६॥ वह नारकी वहाँ वनके बीच तीक्ष्ण असिपत्रोंके द्वारा क्षणभरमें छिन्न शरीर होता हुआ अत्यधिक दुखी होता है ॥३७॥ बड़े आश्चर्यकी बात है कि कर्मोदयसे खण्ड-खण्ड हुआ उसका शरीर पारेके समान पुनः पहलेके समान ही हो जाता है ॥३८॥ भयभीत हुआ यह नारकी यदि पर्वतकी शरणमें जाता है तो वह भी चिरकाल तक शिलाओंके समूहसे निश्चित ही खण्ड-खण्ड करने लगता है ॥३९॥ प्राणरक्षाकी बुद्धिसे यदि गुफामें जाता है तो विषको धारण करने वाले बड़े-बड़े साँपों और बिच्छुओंके द्वारा काटा जाकर अपने अपराधसे अत्यधिक मूर्च्छाको प्राप्त होता है। भूख और प्यासका दुःख तो निरन्तर जीवन भर सहन करता है ॥४०-४१॥ बहुत भारी पापको करनेवाला यह नारकी क्षेत्रसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके दुःखों को तो भोगता ही है तीसरी पृथिवी तक नीच असुर कुमारदेव इन नारकियों-को पूर्व वैरका स्मरण कराते रहते हैं। अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है ? यह सार समझ लेना चाहिये कि तीनों लोकोंमें स्थित सभी जीवोंको जो सुख होता है उससे अनन्तगुणा दुःख उन नारकियोंको इस नरकमें

प्राप्त होता है ॥४२-४४॥ दूसरी बात यह है कि तीनों लोकोंमें सब जीवों-को सदा जो दुःख होता है वह सब यहाँ किसी एक स्थानमें ही होता है ॥४५॥ इस नरकमें एक जीवको जो दुःख होता है वह लोकमें समस्त जीवोंको कहीं भी नहीं है ॥४६॥

आगे नरकोंमें लेश्याओंका वर्णन करते हैं—

आद्यद्वितीययोरत्र तृतीयायां च देहिनाम् ।
लेश्या भवति कापोती नारकाणां निरन्तरम् ॥४७॥
तृतीयाया अधोभागे चतुर्थ्यां च क्षितौ तथा ।
पञ्चम्युपरिभागे च नीला लेश्या प्रकीर्तिता ॥४८॥
अधोदेशे हि पञ्चम्याः षष्ठ्यां कृष्णा च सा भुवि ।
गाढकृष्णा तु सप्तम्यां प्रोक्ता लेश्या मनीषिभिः ॥४९॥

अर्थ—पहली, दूसरी और तीसरी पृथिवीमें नारकियोंके निरन्तर कापोतलेश्या होती है। तीसरी पृथिवीके नीचे भागमें, चौथीमें तथा पांचवीं पृथिवीके ऊपरी भागमें नीललेश्या कही गई है। पाँचवीं पृथिवीके अधोभागमें तथा छठवीं पृथिवीमें कृष्णलेश्या होती है किन्तु सातवीं पृथिवीमें विद्वानोंने परम कृष्णलेश्या कही है।

भावार्थ—नरकोंमें तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं—कापोत, नील और कृष्ण। इन तीनों लेश्याओंके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अंश होते हैं। पहली पृथिवीमें कापोत लेश्याका जघन्य अंश है, दूसरी पृथिवीमें मध्यम अंश है और तीसरी पृथिवीके उपरितन भागमें उत्कृष्ट अंश है। तीसरी पृथिवी अधोभागमें नीललेश्याका जघन्य अंश है, चौथी पृथिवीमें मध्यम अंश है और पाँचवीं पृथिवीके उपरितन भागमें उत्कृष्ट अंश है। पाँचवीं पृथिवीके अधस्तन भागमें कृष्णलेश्याका जघन्य अंश है, छठवीं पृथिवीमें मध्यम अंश है और सातवीं पृथिवीमें उत्कृष्ट अंश है। यह सब भाव-लेश्याएँ हैं। इनमें होनेवाला परिवर्तन स्वस्थानगत ही होता है, परस्थान गत नहीं अर्थात् जहाँ जो लेश्या कही है उसीके अवान्तर स्थानोंमें परि-णमन होता है। पूज्यपाद स्वामीके उल्लेखानुसार यह द्रव्यलेश्याएँ हैं परन्तु अन्य आचार्योंके अनुसार भावलेश्याएँ ही हैं। अन्य आचार्योंने सब नारकियोंके द्रव्यलेश्या कृष्ण कही है ॥४७-४९॥

अब नरकोंमें शीत उष्णकी बाधाका वर्णन करते हैं—

उपरि क्षितिपञ्चम्या वेदना ह्युष्णसंभवा ।
ततोऽधस्ताद् भवेच्छीतसंभवा भविनामिह ॥५०॥

अर्थ—पहलीसे लेकर पाँचवीं पृथिवीके उपरितन भाग तक उष्ण वेदना है और उसके नीचे सातवीं पृथिवी तक शीतवेदना है ॥५०॥

आगे नरकोंमें शरीरकी अवगाहना कहते हैं—

सप्त चापास्त्रयो हस्ता अङ्गुल्यः षड् देहिनाम् ।
प्रथमायां भवेन्मानं देहानां च ततः परम् ॥५१॥
द्विगुणं द्विगुणं ज्ञेयं सर्वोत्कृष्टतया स्थितम् ।
सप्तम्यां पञ्चकोदण्डशतकप्रमितं ततः ॥५२॥

अर्थ—प्रथम पृथिवीमें नारकियोंके शरीरका प्रमाण सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल है और इसके आगे प्रत्येक पृथिवीमें सर्वोत्कृष्ट रूपसे दूना-दूना होता जाता है, इस प्रकार दूना होते होते सातवीं पृथिवीमें पाँच सौ धनुष हो जाता है ॥५१-५२॥

अब इन पृथिवयोंमें कौन जीव कहाँ तक उत्पन्न होते हैं, यह कहते हैं—

अथोत्पादं प्रवक्ष्यामि जीवानां पापकारिणाम् ।
असंज्ञिनोऽत्र जायन्ते पञ्चाक्षाः प्रथमक्षितौ ॥५३॥
प्रथमेतरयोः किञ्च सरीसृपाह्वजन्तवः ।
जायन्ते पक्षिणस्तासु तिसृषु क्षितिषूरगाः ॥५४॥
चतसृषूपपद्यन्ते सिंहाः पञ्चसु योषितः ।
षट्सु सप्तसु विज्ञेया मत्स्यमानवसंचयाः ॥५५॥
न चापि नारका देवा जायन्ते नरकेषु वै ।
विकलाः स्थावराश्चापि नोद्भवन्ति कदाचन ॥५६॥

अर्थ—आगे पाप करने वाले जीवोंकी नरकोंमें उत्पत्तिका वर्णन करते हैं। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव पहली पृथिवीमें उत्पन्न होते हैं, सरीसर्प नामक जीव पहली और दूसरी पृथिवीमें, पक्षी प्रारम्भ की तीन पृथिवियोंमें, साँप चार पृथिवियोंमें, सिंह पाँच पृथिवयोंमें, स्त्रियाँ छह पृथिवियोंमें और मच्छ तथा मनुष्योंके समूह सातों पृथिवियोंमें उत्पन्न होते हैं [स्वयंभूरमण समुद्रमें स्थित राघव मच्छ तथा तन्दुल मच्छकी उत्पत्ति नियमसे सप्तम भूमिमें होती है] नारकी और देव नरकोंमें उत्पन्न नहीं होते। इसी प्रकार विकलत्रय और स्थावर जीव भी कभी नरकोंमें

जन्म नहीं लेते। तात्पर्य यह है कि पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और कर्मभूमिज मनुष्य ही नरकों में उत्पन्न होते हैं ॥५३-५६॥

आगे नरकोंसे निकलकर कौन जीव क्या होता है, यह कहते हैं—

सप्तम्या उद्गतो जीवस्तिर्यक्ष्वेवाभिजायते ।
इतराभ्यस्तु निस्तीर्णस्तिर्यक्षु मनुजेष्वपि ॥५७॥

अर्थ—सातवीं पृथिवीसे निकला हुआ जीव नियमसे तिर्यञ्च ही होता है और अन्य पृथिवियोंसे निकला हुआ जीव तिर्यञ्च तथा मनुष्य—दोनोंमें उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—सातवीं भूमिसे निकले जीव नियमसे तिर्यञ्च ही होते हैं क्योंकि वहाँ सम्यक्त्वके कालमें आयुका बंध नहीं होता। छठवीं पृथिवीसे निकले हुए जीव मनुष्य तो होते हैं परन्तु संयम धारण नहीं कर सकते। पांचवीं पृथिवीसे निकले हुए जीव संयम तो धारण कर सकते हैं परन्तु निर्वाणको प्राप्त नहीं होते। चौथी पृथिवीसे निकले हुए जीव संयम धारण कर मुक्ति तो प्राप्त कर सकते हैं परन्तु तीर्थंकर पद प्राप्त नहीं कर सकते। तीसरी पृथिवी तकसे निकले हुए जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। यह नियम है कि नरकोंसे निकले हुए जीव बलभद्र, नारायण और चक्रवर्ती नहीं हो सकते। इन पदोंके धारक जीव स्वर्गसे ही आते हैं ॥५७॥

आगे नरकोंमें गुणस्थान आदिकी व्यवस्था बताते हैं—

इहत्यानां हि जीवानां गुणस्थानचतुष्टयम् ।
भवितुं शक्नुयात् किञ्च दर्शनत्रितयं तथा ॥५८॥
क्षायिकं दर्शनं किन्तु प्रथमां नातिवर्तते ।
आतृतीयबहिर्याताः केचित्पुण्यभृतो जनाः ॥५९॥
अपि व्रजन्ति तीर्थस्य कर्तृत्वं किल भाग्यतः ।
भवेत्क्लीवत्वमेवैषां नरके वसतां सदा ॥६०॥
उपपादेन जन्मित्वं प्रणीतं परमागमे ।
संवृताचित्तशीतोष्णयोनयः श्वभ्रयोनयः ॥६१॥
भवन्ति व्यासतः किञ्च चतुर्लक्षकुयोनयः ।
नरके जन्म माभून्मे प्रार्थयामि जिनं सदा ॥६२॥

अर्थ—नरकोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके पहलेसे लेकर चौथे तक चार गुणस्थान हो सकते हैं। और औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक

तीनों सम्यग्दर्शन हो सकते हैं परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन पहली पृथिवीका उल्लङ्घन नहीं करता अर्थात् उसके आगे इसका सद्भाव नहीं रहता। तीसरी पृथिवी तक से निकले हुए कितने ही पुण्यशाली जीव भाग्यसे तीर्थंकर पद को भी प्राप्त करते हैं। नरकमें रहने वाले सब जीवोंके सदा नपुंसकवेद ही होता है। परमागममें इनके उपपादजन्म बताया गया है। ये नारकी संवृत, अचित्त, शीत तथा उष्ण योनि वाले होते हैं। विस्तारसे इनकी चार लाख योनियाँ होती हैं ॥५८-६२॥

आगे उपर्युक्त पृथिवियोंमें रहने वाले नारकियोंकी आयुका वर्णन करते हैं—

एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदशाब्धयो हि
द्वाविंशतिस्त्रिगुणिता दश च त्रयश्च।
ज्ञेया परेह वसतां स्थितिरप्रहार्या
रत्नप्रभाप्रमुखसप्तसु मेदिनीषु ॥६३॥

अर्थ—रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंमें रहने वाले नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तेंतीस सागर जानना चाहिये। नारकियोंकी यह अनपवर्त्य होती है अर्थात् बीचमें कम नहीं होती ॥६३॥

अब उन्हीं पृथिवियोंमें बसने वाले नारकियोंकी जघन्य स्थितिका वर्णन करते हैं—

पूर्वत्र या स्थितिर्गुर्वी भवेद्भवभृतां भुवि।
अग्रेतनायां संप्रोक्ता लघ्वी सा किल सूरिभिः ॥६४॥
दशवर्षसहस्राणि प्रथमायां तु भवेत्तु सा।
मध्यमा बहुवैचित्र्या वक्तुं शक्या न वर्तते ॥६५॥

अर्थ—पूर्व पृथिवीमें रहने वाले नारकियोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति है वह आगेकी पृथिवीमें बसने वाले नारकियोंकी जघन्य आयु आचार्योंने कही है। पहली पृथिवीमें बसने वाले नारकियोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है। मध्यम स्थितिके बहुत भेद हैं अतः उसका कथन नहीं हो सकता। संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि जघन्य स्थितिके ऊपर एक समयसे लेकर उत्कृष्ट स्थितिमें एक समय कम तक मध्यम स्थिति कहलाती है ॥६४-६५॥

आगे नरकोंमें उत्पन्न होनेका विरहकाल कितना होता है, इसका वर्णन करते हैं—

मुहूर्ता द्वादश ज्ञेयाः सप्त रात्रिदिनानि च।
पक्षो मासश्च मासौ द्वौ चत्वारः षट् च ते तथा ॥६६॥

आर्या

इत्युत्कृष्टेन मतः प्रोक्तो रत्नप्रभादिपृथ्वीषु।
उपपादकालविरहो हीनः सर्वत्र समयोऽसौ ॥६७॥

अर्थ—रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंमें उत्पन्न होनेका विरहकाल उत्कृष्ट रूपसे क्रमशः बारह मुहूर्त, सात दिन-रात, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छह मास है। जघन्य विरहकाल सर्वत्र एक समय है ॥६६–६७॥

इस प्रकार नरकगति मार्गणाका वर्णन पूर्ण हुआ।

आगे तिर्यञ्चगति मार्गणाका वर्णन करते हैं—

तिर्यग्गत्युदयाज्जीवा जायन्ते यत्र संसृतौ।
असौ तिर्यग्गतिः प्रोक्ता प्रचिताऽमितमायया ॥६८॥
मायाविषधरीदष्टा मूढा ये किल जन्तवः।
नित्यमुत्पद्यमानास्ते सहन्ते वेदनामिह ॥६९॥
यद्दुःखमिह जीवानां जायते जगतीतले।
तत्तु निःशेषतो वक्तुं को रसनासहस्रभाक् ॥७०॥
सामान्यतो भवेदेषां निवासो विष्टपत्रये।
तिर्यग्लोके विशेषेण प्रगीतः पूर्वपण्डितैः ॥७१॥
नारका निर्जराश्चापि तिर्यञ्चो मनुजास्तथा।
यथाभाग्यं लभन्तेऽत्र देहितां देहदाहिनीम् ॥७२॥
तिर्यञ्चोऽपि यथाकृत्यमाप्नुवन्ति शरीरिताम्।
श्वाभ्रे सुरे नरे चापि तिरश्चां निकुरम्बके ॥७३॥
भवेदेषां गुणस्थानपञ्चकं सर्वतोऽधिकम्।
दर्शनत्रितयं चापि प्रोक्तं प्रज्ञाधनेश्वरैः ॥७४॥

लिङ्गत्रयी भवेदेषां जन्मौपपादमन्तरा ।
शिष्टद्वयं प्रकीर्तितं योनयश्चाखिला मताः ॥७५॥
भवन्ति व्यासतः किन्तु द्व्यग्रषष्टिमुलक्षकाः ।
कर्मभूमिषु संक्लिष्टशरीरा इतरे पुनः ॥७६॥
भोगभूमिषु संप्राप्तामन्दसातसमूहकाः ।
केचिदेकेन्द्रियाः केचिद् द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः परे ॥७७॥
चतुरक्षभृतः केचित् केचित्पञ्चेन्द्रिया अपि ।
केचिन्मनोयुताः केचिन्मनसा रहिताश्च ते ॥७८॥
केचित्पानीयगाः केचिन्मेदिनीतलगामिनः ।
केचिदम्बरसंचारा भवन्त्येतेषु देहिनः ॥७९॥
परा स्थितिर्भवेदेषां त्रिपल्योपमिताऽपरा ।
अन्तर्मुहूर्तसंमाना विविधा मध्यमा तु सा ॥८०॥

अर्थ—इस संसारके बीच तिर्यञ्चगतिनामकर्मके उदयसे जीव जिसमें उत्पन्न होते हैं वह तिर्यञ्चगति कही गई है। यह गति बहुत भारी मायासे युक्त होती है ॥६८॥ निश्चयसे जो अज्ञानी जीव, मायारूपी नागिनके द्वारा डशे जाते हैं वे इस तिर्यञ्चगतिमें उत्पन्न होकर निरन्तर दुःख सहन करते हैं ॥६९॥ पृथिवीतलपर तिर्यञ्चगतिमें जीवोंको जो दुःख होता है उसे सम्पूर्णरूपसे कहनेके लिये हजारजिह्वावाला शेषनाग कौन होता है? अर्थात् उसमें भी तिर्यञ्चगतिका समस्त दुःख कहनेकी शक्ति नहीं है ॥७०॥ सामान्यसे तिर्यञ्चोंका निवास तीनों लोकोंमें है परन्तु विशेषरूपमें पूर्व विद्वानोंने मध्यमलोकमें कहा है ॥७१॥ नारकी, देव, तिर्यञ्च तथा मनुष्य—चारों गतियोंके जीव अपने-अपने भाग्यानुसार इस तिर्यञ्चगतिमें दुःखदायक जन्मको प्राप्त होते हैं ॥७२॥ और तिर्यञ्च भी अपनी-अपनी करनीके अनुसार नारकी देव मनुष्य तथा तिर्यञ्चसमूहमें जन्म प्राप्त करते हैं ॥७३॥ तिर्यञ्चोंके अधिक-से-अधिक प्रारम्भके पांच गुणस्थान होते हैं तथा विद्यारूपी धनके स्वामी विद्वज्जनोंने तिर्यञ्चोंके तीनों सम्यग्दर्शन कहे हैं (परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन भोगभूमिज तिर्यञ्चोंके ही सम्भव होता है) ॥७४॥ तिर्यञ्चोंके तीनों लिङ्ग होते हैं। उपपादके सिवाय शेष दो अर्थात् गर्भ और संमूर्च्छन जन्म होता है। संक्षेपमें सभी योनियां हैं किन्तु विस्तारसे बासठ लाख

योनियाँ कही गई हैं। कोई जीव कर्मभूमियोंमें जन्म लेते हैं कोई अत्यधिक सुखसमूहको प्राप्त करते हुए भोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं। इनमें कोई जीव एकेन्द्रिय हैं, कोई द्वीन्द्रिय हैं, कोई त्रीन्द्रिय हैं, कोई चतुरिन्द्रिय हैं, कोई पञ्चेन्द्रिय हैं, कोई मन सहित हैं, कोई मन रहित हैं, कोई जलचर हैं, कोई भूमिचर हैं और कोई नभश्चर हैं। तिर्यञ्चोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्यकी और जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। मध्यमस्थिति अनेक प्रकारकी है ॥७५-८०॥

इस प्रकार तिर्यञ्चगतिका वर्णन पूर्ण हुआ।

आगे मनुष्यगति मार्गणाका वर्णन करते हैं—

गोधगत्युदये नूनं जायते किल या गतिः।
गतिः सा मानुषी ज्ञेया गतिविच्छेदवाञ्छिभिः ॥८१॥
अल्पारम्भतया नित्यं मितग्रन्थतयापि वा।
मन्दत्वाच्च कषायाणां चेतसा सरला नराः ॥८२॥
लभन्ते तत्र जन्मानि पुण्यपाकप्रवर्तिताः।
पुराकृतेन भाग्येन भजन्तीह सुखासुखे ॥८३॥

अर्थ—निश्चयसे जो गति मनुष्यगतिनामकर्मके उदयसे होती है वह गतिविच्छेदके इच्छुक मनुष्योंके द्वारा मनुष्यगति जाननेके योग्य है ॥८१॥ निरन्तर अल्प आरम्भ रखनेसे, सीमित परिग्रह रखनेसे, और कषायोंकी मन्दतासे, सरल चित्तसे युक्त तथा पुण्योदयसे प्रेरित जीव उस मनुष्यगतिमें जन्मको प्राप्त होते हैं तथा पूर्वकृत कर्मके अनुसार सुख और दुःखको प्राप्त होते हैं ॥८२-८३॥

अब मनुष्योंके भेद कहते हैं—

अथार्यम्लेच्छभेदेन द्विप्रकारा भवन्ति ते।
भवन्त्यार्या महामान्या माननीयगुणाश्रयाः ॥८४॥
केचित्तत्रर्द्धिसम्पन्नाः केचनानृद्धिसंयुताः।
तपोबुद्ध्यौषधाक्षीणविक्रियारसशक्तिभिः ॥८५॥
सप्तधा ऋद्धिसंपन्नाः प्रोक्ताः प्रज्ञानशालिभिः।
भवन्ति क्षेत्रचारित्रजातिदर्शनकर्मभिः ॥८६॥

पञ्चधा हि परे तेषु त्रिविधाः क्षेत्रजाः पुनः ।
उत्तमाधममध्यार्यभेदतो भुवि विश्रुताः ॥८७॥

अर्थ—आर्य और म्लेच्छोंके भेदसे वे मनुष्य दो प्रकारके होते हैं। उनमेंसे महामान्य तथा माननीय गुणोंके आधारभूत मनुष्य आर्य कहलाते हैं। कोई आर्य ऋद्धियोंसे सम्पन्न हैं और कोई आर्य ऋद्धियोंसे सम्पन्न नहीं हैं। ऋद्धि सम्पन्न मनुष्य, श्रेष्ठ ज्ञानसे शोभित गणधरादिके द्वारा तप, बुद्धि, औषध, अक्षीण, विक्रिया, रस और शक्ति इन सात ऋद्धियोंके भेदसे सात प्रकारके कहे गये हैं। अनृद्धि प्राप्त मनुष्य क्षेत्र, चारित्र, जाति, दर्शन और कर्मके भेदसे पाँच प्रकारके कहे गये हैं। उनमें जो क्षेत्रज आर्य हैं वे पृथिवी पर उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके प्रसिद्ध हैं ॥८४-८७॥

अब तीन प्रकारके क्षेत्रार्योंका वर्णन करते हैं—

अत्र केचिन्नरा भोगभूमिजाः किल भूतले ।
भवन्ति भोगनिष्णाता जिनेन्द्राराधनोद्यताः ॥८८॥
पुरा सम्पादितश्रेष्ठपुण्यमूर्तिनिभा भुवि ।
भुञ्जते ते सदा भोगान् स्वर्गभूरुहसंभवान् ॥८९॥
तप्तकाञ्चनसंकाशकायकान्तिमनोहराः ।
अष्टमभक्तकाहारास्त्रिपल्योपमजीविताः ॥९०॥
क्रोशत्रयसमुत्सेधाः कुरुक्षेत्रनिवासिनः ।
उत्तमास्तेषु कथ्यन्ते ह्यार्यनामविनिःश्रुताः ॥९१॥
रत्नत्रयपवित्रेषु पात्रेषूत्तमनामसु ।
वपुषा मोक्षवर्त्मानं दर्शयत्सु तपस्विषु ॥९२॥
श्रद्धातुष्ट्याद्यादिसम्पत्त्या यथाकालं यथागमम् ।
स्वस्यातिसर्जनादेषु जायन्ते खलु मानवाः ॥९३॥
हरिवर्षभवाः केचित्कम्बुकान्तिकलेवराः ।
क्रोशद्वयसमुत्सेधा द्विपल्योपमितायुषः ॥९४॥
प्रवृत्तषष्ठकाहाराः कल्पवृक्षतलस्थिताः ।
जिताक्षा जितकोपाद्याः स्मितपूर्वाभिभाषिणः ॥९५॥

वाञ्छावेलासमुद्भूतनानाभोगमनोहराः ।
मध्यार्या यभिधीयन्ते चित्रचातुर्यचारवः ॥९६॥
सम्यग्दर्शनसंशुद्धश्रावकव्रतशालिनि ।
दयातरङ्गिणीनीरपूरनिर्धूतकल्मषे ॥९७॥
मध्यमे भाजने दत्तदानमाहात्म्यलेशतः ।
जायन्ते देहिनो ह्यत्र सुखसंघातसंगताः ॥९८॥
केचिद्धैमवतोद्भूताः क्रोशमात्रसमुच्छ्रिताः ।
नीलोत्पलदलश्यामशरीरा बहुशोभिनः ॥९९॥
अमन्दानन्दसंदोहसंयुताः स्मितशालिनः ।
चतुर्थभक्तकाहारा एकपल्यमितायुषः ॥१००॥
तृतीयपात्रसंदत्तदानपुण्यप्रवर्तिताः ।
निगद्यन्ते तृतीयार्या नित्यं कन्दलितोत्सवाः ॥१०१॥

अर्थ—इस पृथिवीपर कितने ही मनुष्य भोगभूमिज होते हैं जो निरन्तर भोगोंमें निष्णात रहते हैं तथा जिनेन्द्र देवकी आराधनामें तत्पर होते हैं ॥८८॥ जो पूर्वोपार्जित श्रेष्ठ पुण्यकी मूर्तिके समान पृथिवीपर सदा कल्पवृक्षोंसे समुत्पन्न भोग भोगते हैं ॥८९॥ ताये हुए सुवर्णके समान शरीरकी कान्तिसे मनोहर रहते हैं, तीन दिनके अन्तरसे आहार करते हैं, तीन पल्यकी आयुवाले होते हैं, तीन कोश ऊँचे होते हैं और देवकुरु तथा उत्तरकुरु क्षेत्रमें निवास करते हैं वे उन आर्योंमें उत्तमार्य कहे जाते हैं। जो रत्नत्रयसे पवित्र हैं और शरीरसे मोक्षमार्ग दिखा रहे हैं अर्थात् जिनकी शान्त मुद्रा देखकर लोग स्वयं समझ लेते हैं कि यही मोक्षमार्ग है, ऐसे उत्तम पात्र नामवाले तपस्वी मुनियोंकी श्रद्धा, तुष्टि आदि गुणोंके साथ यथासमय आगमानुसार आहार आदि स्वकीय वस्तुओंके देनेसे मनुष्य इन उत्तमार्योंमें उत्पन्न होते हैं ॥९०–९३॥

जो हरिवर्ष (और रम्यक) क्षेत्रमें उत्पन्न हैं, शङ्खके समान कान्तिवाले शरीरसे सहित हैं, दो कोश ऊँचे हैं, दो पल्यकी आयुवाले हैं, दो दिनके अन्तरसे आहार करते हैं, कल्पवृक्षोंके नीचे निवास करते हैं, जितेन्द्रिय तथा जितकषाय हैं, मन्द हासपूर्वक वार्तालाप करते हैं, इच्छा करते ही प्राप्त होने वाले भोगोंसे मनोहर हैं और नाना प्रकारकी चतुराई

से सुन्दर हैं, वे मध्यार्य कहलाते हैं ॥९४-९६॥ सम्यग्दर्शनसे युक्त श्रावकके व्रतोंसे सुशोभित तथा दयारूपी नदीके जलप्रवाहसे पापरूपी कालिमाको धोने वाले मध्यम पात्रके लिये दिये हुए दानकी महिमा के अंशसे इन मध्यमार्योंमें जीव उत्पन्न होते हैं और वे निरन्तर सुख-समूहसे युक्त रहते हैं ॥९७-९८॥

जो हैमवत (और हैरण्यवत) क्षेत्रमें उत्पन्न हैं, एक कोश ऊँचे हैं, नील कमलकी कलिकाके समान श्यामल शरीर वाले हैं, अतिशय शोभायमान हैं, अमन्द आनन्दके समूहसे रहित हैं, मन्द मुसकानसे सुशोभित हैं, एक दिनके अन्तरसे आहार करते हैं, एक पल्यकी आयु वाले हैं, तृतीय पात्र अर्थात् अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्योंको दान देनेसे उत्पन्न हुए हैं और निरन्तर उत्सव करते रहते हैं वे तृतीयार्य जघन्य आर्य कहे जाते हैं ॥९९-१०१॥

चारित्रार्य—

चारुचारित्रचन्द्रीयचन्द्रिकाचितचेतसः ।
चारित्रार्याश्चरन्तीह केचिदौचित्यचारवः ॥१०२॥

अर्थ—जिनका चित्त उत्तम चारित्ररूपी चन्द्रमाकी चाँदनीसे व्याप्त है तथा उचित प्रवृत्तिसे मनोहर हैं ऐसे कोई चारित्रार्य इस जगत्में विचरते हैं ॥१०२

जात्यार्य

जगतीजातपूज्यासु जाता जातिषु जातुचित् ।
जात्यार्याः संप्रजायन्ते जनाः केऽपि सभाजिताः ॥१०३॥

अर्थ—जो पृथिवीतलपर उत्पन्न हुए मनुष्योंसे पूजनीय जातियोंमें कदाचित् उत्पन्न होते हैं और सर्वत्र सन्मानको प्राप्त होते हैं ऐसे कोई जीव जात्यार्य कहलाते हैं ॥१०३॥

कर्मार्य—

कमनीयं हि कुर्वाणाः कर्म किञ्चन केऽपि च ।
कर्मार्याः किल कीर्त्यन्ते कृतकर्मकलेवरैः ॥१०४॥

अर्थ—जो निश्चयसे किसी अनिर्वचनीय कर्म-कार्यको करते हैं वे कर्मरूप शरीरको नष्ट करने वाले जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कर्मार्य कहे जाते हैं ॥१०४॥

दर्शनार्य—

सद्दर्शनाश्रितं येषां मानसं भुवि विश्रुतम् ।
दृश्यन्ते दर्शनार्यास्ते दर्शनार्हसुदृष्टयः ॥१०५॥

अर्थ—जिनका हृदय सम्यग्दर्शनसे युक्त होकर पृथिवीमें प्रसिद्ध हुआ है वे दर्शनके योग्य सम्यग्दर्शनसे सहित दर्शनार्य देखे जाते हैं ॥१०५॥

म्लेच्छ—

धर्मकर्मबहिर्याता दुर्भावाश्रितदुर्हृदः ।
म्लेच्छास्ते मानवाः प्रोक्ता दक्षा ये पापकर्मसु ॥१०६॥
तत्रान्तर्द्वीपजाः केचित् केचन कर्मभूमिजाः ।
इत्थं द्विधा भवन्त्येते म्लेच्छा दीक्षापराङ्मुखाः ॥१०७॥
अन्तर्द्वीपेषु जायन्ते म्लेच्छा ये म्लानबुद्धयः ।
अन्तर्द्वीपसमुद्भूताः प्रोच्यन्ते ते सुसूरिभिः ॥१०८॥
पल्योपमायुषः सर्वे सर्वे वैरूप्यदूषिताः ।
कुपात्रदानमाहात्म्यादाप्नुवन्ति सदाऽसुखम् ॥१०९॥
एते कुभोगभूम्युत्था म्लेच्छनामधरा नराः ।
मृत्वा देवत्वमायान्ति विचित्रा कर्मसन्ततिः ॥११०॥
आर्येतरपञ्चखण्डेषु जाता ये तेऽपि मानवाः ।
क्षेत्रम्लेच्छाः प्रकथ्यन्ते सूरिभिः श्रुतधारिभिः ॥१११॥
पुलिन्दप्रमुखा ज्ञेयाः कर्मभूमिसमुद्भवाः ।
एवं द्वेधा नराः प्रोक्ता अथो वच्मि तदाश्रयम् ॥११२॥

अर्थ—जो धर्म-कर्मसे दूर हैं, जिनके दुष्ट हृदय नाना प्रकारके खोटे भावोंसे सहित हैं तथा जो पापकार्योंमें कुशल हैं वे म्लेच्छ मनुष्य कहे गये हैं। कोई म्लेच्छ अन्तर्द्वीपज है और कोई कर्मभूमिज है। इस प्रकार वे म्लेच्छ दो प्रकारके हैं। वे म्लेच्छ दीक्षासे विमुख होते हैं। मलिन बुद्धिके धारक जो म्लेच्छ अन्तर्द्वीपोंमें उत्पन्न होते हैं वे उत्तम आचार्योंके द्वारा अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं। ये सब एक पल्यकी आयु वाले होते हैं, शरीरसे विरूप होते हैं तथा कुपात्रदानके प्रभावसे सदा दुःख भोगते हैं। ये कुभोगभूमिमें उत्पन्न म्लेच्छ नामधारी मनुष्य मरकर देव पदको

प्राप्त होते हैं सो ठीक ही है क्योंकि कर्मोंकी सन्तति विचित्र होती है। आर्य खण्डके सिवाय भरतादि क्षेत्रोंमें जो पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं उनमें ही उत्पन्न हुए जीव श्रुतके धारक आचार्योंके द्वारा क्षेत्रम्लेच्छ कहे जाते हैं। भील, शक, यवन आदि मनुष्य कर्मभूमिज म्लेच्छ जानना चाहिये। इस तरह दो प्रकारके मनुष्योंका कथन किया। अब आगे इन मनुष्योंके निवास स्थानका वर्णन करते हैं ॥१०६-११२॥

आगे लवणसमुद्रसे वेष्टित जम्बूद्वीपको आदि लेकर असंख्यात द्वीप-समुद्रोंका वर्णन करते हैं—

चलत्कल्लोलमालाभिर्गगनं किल चुम्बता।
पाठीनोद्वर्तनोद्भिन्नशीकरासारशोभिना ॥११३॥
कूजत्कादम्बचक्राङ्कचक्रवाकविराजिना।
दीव्यद्देवाङ्गनादिव्यदेहदीधितिहारिणा ॥११४॥
उद्भ्रमन्मेघसंघातविहितोल्लोचचारुणा।
नैकरत्नमयूखालिशालिवेलाविशोभिना ॥११५॥
वासिताशेषकाष्ठान्ततटीकाननकन्तुना।
युगयोजनलक्षात्ममानमण्डितभूजिना ॥११६॥
प्रस्फुटत्पद्मपुञ्जेन विद्रुमोच्चयशालिना।
जडात्मना सुवृत्तेन लवणोदन्वता परम् ॥११७॥
जम्बूद्वीपः परीतोऽस्ति जम्बूवृक्षोपलक्षितः।
लक्षयोजनविस्तीर्ण इन्दिरामन्दिरोपमः ॥११८॥
आदित्यमण्डलाकारो मेरुमण्डितमध्यभूः।
धातकिस्तं परीत्यास्ते तं च कालसरित्पतिः ॥११९॥
पुष्करस्तं च तमपि पुष्करोदो विराजते।
आवेष्ट्य तं स्थितो द्वीपो वारुणीवरनामकः ॥१२०॥
तं वारुणीवरः सिन्धुः समावृत्य विशोभते।
अस्ति क्षीरवरो द्वीपस्ततः क्षीरपयोनिधिः ॥१२१॥
द्वीपो घृतवरस्तस्मात्सर्पिषः सागरस्ततः।
ततश्चेक्षुवरो द्वीपः समुद्रश्चेक्षुसंज्ञकः ॥१२२॥

नदीश्वरस्ततो द्वीपस्ततो नन्दीश्वरार्णवः ।
द्वीपोऽरुणवरस्तस्मादरुणः सागरस्ततः ॥१२३॥
एवं द्विगुणविस्तारा असंख्या द्वीपसागराः ।
स्वयंभूरमणं यावज् ज्ञेयाः सर्वज्ञभाषिताः ॥१२४॥

अर्थ—जो चञ्चल लहरोंके समूहसे आकाशका चुम्बन कर रहा है, मछलियोंके उछलनेसे उत्पन्न जलकणोंकी वर्षासे सुशोभित है, शब्द करते हुए वदक, हंस और चकवोंसे विराजमान है, क्रीडा करती हुई देवाङ्गनाओंके सुन्दर शरीरकी कान्तिसे मनोहर है, ऊपर मँडराते हुए मेघ-समूहके द्वारा निर्मित चंदेवासे सुन्दर है, अनेक रत्नोंकी किरणावलीसे सुशोभित तटसे शोभायमान है, समस्त दिशाओंको सुगन्धित करने वाले तटस्थित उपवनोंसे रमणीय है, दो लाख योजन विस्तार वाले आकारसे युक्त है, विकसित कमलोंके समूहसे सहित है, मूंगाओंकी राशिसे शोभायमान है तथा जडात्मा—मूर्ख (पक्षमें जलरूप) होकर भी सुवृत्त—सदाचारसे सहित (पक्षमें गोल) है, ऐसे लवणसमुद्रसे घिरा हुआ जम्बूद्वीप है। वह जम्बूद्वीप जम्बूवृक्षसे सहित है, एक लाख योजन विस्तार वाला है, लक्ष्मीके मन्दिरके समान है, सूर्यमण्डलके आकार है और मेरुपर्वतसे सुशोभित मध्यभागसे युक्त है। लवणसमुद्रको घेरकर धातकी द्वीप है, उसे घेरकर कालोदधि समुद्र है ॥११३–११९॥ उसे घेरकर पुष्करवर द्वीप है और उसे घेरकर पुष्करवर समुद्र शोभायमान है। उसे घेर कर वारुणीवर द्वीप स्थित है और उसे घेर वारुणीवर समुद्र सुशोभित है। तदनन्तर क्षीरवर द्वीप है उसके आगे क्षीरवर समुद्र है, फिर घृतवर द्वीप है, उसके आगे घृतवर समुद्र है, फिर इक्षुवर द्वीप है उसके आगे इक्षुवर समुद्र है, पश्चात् नन्दीश्वर द्वीप है, उसके आगे नन्दीश्वर समुद्र है, और उसके आगे अरुणवर द्वीप तथा अरुणवर समुद्र है। इस प्रकार सर्वज्ञ-भाषित दूने-दूने विस्तार वाले, असंख्यात द्वीप और समुद्र स्वयंभूरमण समुद्र तक जानना चाहिये ॥१२०–१२४॥

आगे जम्बूद्वीपके सात क्षेत्रों और छह कुलाचलोंका उल्लेख करते हैं—

भरतो हैमवतको हरिश्चापि विदेहकः ।
रम्यको रम्यताधारो हैरण्यवतकस्तथा ॥१२५॥

ऐरावतश्च सप्तैते जम्बूद्वीपे यथाक्रमम् ।
सुषमाभारसंछन्ना वर्षाः सन्ति सदातनाः ॥१२६॥

हिमवांश्च महाहिमवान् निषधो नीलरुक्मिणौ ।
शिखरी चेति विज्ञेयास्तद्विभाजकभूधराः १२७॥

सर्वेऽप्येते महातेजोमणिपुञ्जप्रभासिताः ।
उपर्यधः समाकाराः शृङ्गलुन्ननभोऽन्तराः ॥१२८॥

पूर्वापरौ पयोराशी वगाह्यावस्थिता इमे ।
मेदिनीमानदण्डाभा भासन्ते भूरिवैभवाः ॥१२९॥

भर्माभः प्रथमस्तत्र द्वितीयो धवलप्रभः ।
तपनीयनिभश्चान्यश्चतुर्थो गरुडप्रभः ॥१३०॥

पञ्चमो रजताकारः षष्ठो हेममयस्तथा ।
पद्मश्चापि महापद्मस्तिगिञ्छः केसरी तथा ॥१३१॥

पुण्डरीको महापूर्वः पुण्डरीको यथाक्रमम् ।
कासारास्तत्र वर्तन्ते हिमवत्प्रमुखाद्रिषु ॥१३२॥

अर्थ—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, सुन्दरताका आधार रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र जम्बूद्वीपमें क्रमसे स्थित हैं। सुषमाके समूहसे आच्छादित अर्थात् अत्यन्त शोभायमान तथा अनादिनिधन हैं ॥१२५-१२६॥ हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह उन क्षेत्रोंका विभाग करने वाले पर्वत हैं ॥१२७॥ ये सभी पर्वत महादेदीप्यमान मणियोंके समूहसे सुशोभित हैं, ऊपर नीचे तथा बीचमें समान आकार वाले हैं, शिखरोंके द्वारा आकाशके मध्यको विदीर्ण करने वाले हैं, पूर्व-पश्चिम समुद्रमें अवगाहन कर स्थित हैं, बहुत भारी वैभवसे सहित हैं तथा पृथ्वीके मानदण्डके समान जान पड़ते हैं ॥१२८-१२९॥ उन पर्वतोंमें पहला पर्वत सुवर्णके समान पीला है, दूसरा धवल वर्णका है, तीसरा संतप्त सुवर्णके समान है, चौथा गरुड मणिके समान है, पाँचवाँ चाँदीके आकार वाला है और छठवाँ सुवर्णमय है। पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक यह छह सरोवर क्रमसे उन हिमवान् आदि पर्वतों पर स्थित हैं ॥१३०-१३२॥

अब उन सरोवरोंमें स्थित कमल तथा उनमें रहने वाली देवियोंका वर्णन करते हैं—

सहस्रयोजनायामः प्रथमस्तार्धविस्तरः ।
आतिगिञ्छं द्विगुणिता उत्तरा दक्षिणोपमाः ॥१३३॥
दशयोजनगाम्भीर्यः प्रथमश्च तदुत्तराः ।
द्विगुणा आतृतीयान्तमुदीच्या दक्षिणोपमाः ॥१३४॥
प्रथमे योजनं पद्मं द्वितीये युगयोजनम् ।
तृतीये चापि विज्ञेयं युगलद्वन्द्वयोजनम् ॥१३५॥
पूर्वतुल्यान्युदीच्यानि प्रस्फुरन्ति निरन्तरम् ।
पिङ्गकिञ्जल्कपुञ्जेन मञ्जुलान्यखिलान्यपि ॥१३६॥
तदीयकर्णिकामध्यप्रान्तभागनिवेशिनः ।
शारदेन्दुनिभाः क्रोशायामाः क्रोशार्धविस्तराः ॥१३७॥
देशोनक्रोशकोत्सेधाः सन्ति सौधाः शुभावहाः ।
तत्र श्रीर्ह्रीर्धृतिः कीर्तिर्बुद्धिलक्ष्मी यथाक्रमम् ॥१३८॥
देव्यः पल्यायुषः सामानिकपारिषदावृताः ।
अमन्दानन्दसन्दोहतुन्दिला निवसन्ति ताः ॥१३९॥

अर्थ—पहला सरोवर एक हजार योजन गहरा और पाँचसौ योजन चौड़ा है। तिगिञ्छ पर्यन्त दूने-दूने विस्तार वाले हैं और उत्तरके सरोवर दक्षिणके समान हैं। पहला सरोवर दश योजन गहरा है, उसके आगे तीसरे सरोवर तक दूने-दूने गहरे हैं और उत्तरके सरोवर दक्षिणके समान हैं ॥१३३-१३४॥ प्रथम सरोवरमें एक योजन विस्तार वाला, दूसरे सरोवरमें दो योजन विस्तार वाला और तीसरे सरोवरमें चार योजन विस्तार वाला कमल है। उत्तर दिशाके कमल पूर्व कमलोंके समान विस्तार वाले हैं। ये सभी कमल निरन्तर विकसित रहते हैं और पीली केशरके समूहसे मनोहर हैं ॥१३५-१३६॥

उन कमलोंकी कर्णिकाके मध्यभागमें स्थित, शरदऋतुके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल, एक कोश लम्बे, आधा कोश चौड़े और कुछ कम एक कोश ऊँचे उत्तम भवन हैं। उन भवनोंमें क्रमसे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियाँ निवास करती हैं। ये देवियाँ एक पल्यकी

आयुवाली, सामानिक तथा पारिषद आदिके देवोंसे घिरीं तथा बहुत भारी आनन्दके समूह युक्त होती हैं ॥१३७-१३९॥

आगे चौदह महानदियोंका वर्णन करते हैं—

गङ्गासिन्धू ततो रोहिद्रोहितास्ये सुविस्तृते ।
द्वे हरिद्धरिकान्ते च सीतासीतोदके तथा ॥१४०॥
ते नारीनरकान्ते च स्वर्णरूप्यककूलके ।
रक्तारक्तोदके द्वे द्वे स्रवन्त्यौ क्षेत्रसप्तके ॥१४१॥
युगले पूर्वगाः पूर्वाः शेषाः पश्चिमगा मताः ।
चतुर्दशसहस्रात्मपरिवारपरिश्रिते ॥१४२॥
गङ्गासिन्धू ततो द्वन्द्वत्रयं द्विगुणितश्रितम् ।
उत्तरा दक्षिणातुल्या सरितां युगलत्रयी ॥१४३॥

अर्थ—गङ्गा-सिन्धु, रोहित्-रोहितास्या, हरित्-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, स्वर्णकूला-रूप्यकूला, और रक्ता-रक्तोदा, दो-दोके युगलमें ये चौदह नदियाँ उपर्युक्त सात क्षेत्रोंमें बहती है। प्रत्येक युगलकी पहली नदी पूर्व दिशाकी ओर बहती है और दूसरी नदी पश्चिम की ओर जाती है। गङ्गा और सिन्धु नदीका युगल चौदह हजार सहायक नदियोंसे सहित है आगेके तीन युगल दूनी-दूनी नदियोंसे सेवित हैं। उत्तरकी नदियोंके तीन युगल दक्षिणके तीन युगलोंके समान हैं ॥१४०-१४३॥

आगे भरतादि क्षेत्रोंके विस्तार आदिका वर्णन करते हैं—

नवतिशतभागः स्याज्जम्बूद्वीपस्य दक्षिणे ।
भरतो भूरिभूतीनामाश्रयः सुगुणैः श्रितः ॥१४४॥
आविदेहं ततो वर्षधरवर्षभुवोऽपि च ।
द्वाभ्यां गुणितविस्तारास्तदग्रयाः पूर्वसन्निभाः ॥१४५॥
आद्येऽन्तिमे तथा क्षेत्रे वृद्धिहानिचयप्रदे ।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ षट्युग्मसुसदृशे ॥१४६॥
वर्तेते एव नान्यत्रावस्थिता ह्यन्यभूमयः ।
गङ्गासिन्धुस्रवन्तीभ्यां विजयार्धनगेन च ॥१४७॥

मण्डितं खण्डितं षोढा भारतं खलु विद्यते ।
मध्यमं शकलं तत्र ह्यार्यक्षेत्रं समुच्यते ॥१४८॥
इतरत्पञ्चकं ज्ञेयं म्लेच्छपूरुषसंश्रितम् ।
विदेहस्तन्महाक्षेत्रं चतुर्थं जगतीतले ॥१४९॥
राजते यत्र मोक्षस्याजस्रं पन्थाः प्रवर्तते ।
लक्षैकयोजनोत्सेधस्तुङ्गशृङ्गविशोभितः ॥१५०॥
नन्दनादिवनाकीर्णः शातकुम्भकलेवरः ।
यस्य भूषयते मध्यं महामेरुः सुदर्शनः ॥१५१॥
द्वात्रिंशच्च भिदा यस्य सन्ति शैलधुनीकृताः ।
देवोत्तरकुरू मुक्त्वा विदेहे सकलेऽप्यहो ॥१५२॥
संख्येयहायनायुष्का मर्त्या भद्रा भवन्ति हि ।
ऐरावतं भवेत्क्षेत्रं भरतेन समं सदा ॥१५३॥
अस्यादिकर्मषट्केन जीवा जीवन्ति तत्त्रिगाः ।
अन्यत्र स्वर्गभूजातजातभोगचयं चिरम् ॥१५४॥
भुञ्जाना भूजनाः सन्ति भोगभूमिमहातले ।
पूर्वशास्त्रक्रमादेवं जम्बूद्वीपः प्ररूपितः ॥१५५॥

अर्थ—जम्बूद्वीपके दक्षिणमें, जम्बूद्वीपके एकसौ नब्बेवें भाग प्रमाण (५२६$\frac{6}{19}$ योजन) भरत क्षेत्र है, जो बहुत भारी सम्पदाओंका आधार है तथा उत्तम गुणी मनुष्योंसे सहित है ॥१४४॥ इसके आगे विदेह क्षेत्र तक के पर्वत और क्षेत्र दूने-दूने विस्तार वाले हैं। विदेहके आगेके पर्वत और क्षेत्र पहलेके पर्वत और क्षेत्रोंके समान हैं ॥१४५॥ पहले और अन्तिम क्षेत्रमें अर्थात् भरत और ऐरावत क्षेत्रमें शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्षके समान वृद्धि और हानिके समूहको देने वाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी प्रवर्तती है। इनके सिवाय अन्य भूमियाँ अवस्थित हैं अर्थात् जहाँ जो काल है वहाँ वह निरन्तर वर्तता है। गङ्गा, सिन्धु नदी तथा विजयार्ध पर्वतसे सुशोभित भरत क्षेत्रके छह खण्ड हो जाते हैं। उनमें बीचका आर्य-खण्ड कहलाता है और शेष पाँच म्लेच्छ पुरुषोंसे सेवित हैं अर्थात् म्लेच्छ खण्ड हैं। इस पृथ्वीतलपर चौथा विदेह क्षेत्र सुशोभित है जहाँ मोक्षका

भागमें निरन्तर अवस्थित है। एक लाख योजन ऊँचा, उन्नत चूलिकासे सुशोभित, नन्दनादि वनोंसे युक्त, सुवर्णमय सुदर्शन नामका महामेरु जिस विदेह क्षेत्रके मध्यभागको विभूषित करता है ॥१४६-१५१॥ वक्षार गिरि और विभङ्गा नदियोंके द्वारा किये हुए बत्तीस भेद जिस विदेह क्षेत्र-के हैं। देवकुरु और उत्तरकुरुको छोड़कर समस्त विदेह क्षेत्रमें संख्यात वर्षकी आयु वाले भद्रपरिणामी मनुष्य रहते हैं। ऐरावत क्षेत्र सदा भरत क्षेत्रके समान रहता है ॥१५२-१५३॥ भरत, ऐरावत और विदेह इन तीन क्षेत्रोंमें रहने वाले मनुष्य असि आदि छह कर्मोंके द्वारा जीवित रहते हैं और भोगभूमिमें रहने वाले मनुष्य कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए भोगोंको चिर काल तक भोगते हुए निवास करते हैं। इस प्रकार पूर्व शास्त्रोंके अनुसार जम्बूद्वीपका निरूपण किया ॥१५४-१५५॥

आगे धातकीखण्ड आदि द्वीपोंका वर्णन करते हैं—

लवणाब्धिं परिक्षिप्य धातकीखण्डमस्ति यत् ।
एतस्माद् द्वीपतस्तत्र द्विगुणा निर्मितिर्मता ॥१५६॥
कालोदधिः परिक्षिप्य द्वीपो यः पुष्कराभिधः ।
तस्यार्धे वलयाकारः शृङ्गभिन्नवलाहकः ॥१५७॥
प्राकारायते नूनं मानुषोत्तरपर्वतः ।
प्राक् ततोऽपि समाचिन्त्या रचना द्विगुणीकृता ॥१५८॥
एवं पञ्चदशत्रिंशल्लक्षयोजनविस्तृतम् ।
सार्धद्वीपद्वयं यावदेव मानुषसंस्थितिः ॥१५९॥
आद्येऽब्धौ कालसिन्धौ च चतुरूनशतप्रभाः ।
द्वीपा अन्तर्गताः सन्ति म्लेच्छास्तेषु वसन्ति ते ॥१६०॥
येऽन्तर्द्वीपसमुद्भूता प्रोक्ता दुष्कर्मदूषिताः ।
एते कुभोगभूजाता वर्णिता म्लेक्षसंज्ञया ॥१६१॥

अर्थ—लवणसमुद्रको घेर कर जो धातकीखण्डद्वीप है उसमें इस जम्बूद्वीपसे दूनी रचना मानी गई है ॥१५६॥ कालोदधि समुद्रको घेर कर जो पुष्करवर नामका द्वीप है उसके अर्ध भागमें चूड़ीके आकार तथा शिखरोंसे मेघोंको विदीर्ण करनेवाला मानुषोत्तर पर्वत है। यह मानुषोत्तर पर्वत कोटके समान जान पड़ता है। उस मानुषोत्तर पर्वतके पहले भी

जम्बूद्वीपसे दूनी अर्थात् धातकीखण्डके बराबर रचना जानना चाहिए ॥१५७-१५८॥ इस प्रकार पैंतालीस लाख योजन विस्तृत अढ़ाई द्वीप तक ही मनुष्योंका सद्‌भाव है। ॥१५९॥ लवणसमुद्र तथा कालोदधि समुद्रमें छियानबे अन्तर्द्वीप हैं। उनमें वे म्लेच्छ रहते हैं जो अन्तर्द्वीपज तथा दुष्कर्मसे दूषित कहे गये हैं। ये कुभोगभूमिज जीव म्लेच्छनामसे कहे गये हैं ॥१६०-१६१॥

आगे मनुष्योंमें कौन उत्पन्न होते हैं ? यह कहते हैं—

अथ मर्त्येषु के जीवा जायन्त इति चेच्छृणु ।
अमरा मानवाश्चापि तिर्यञ्चश्चापि नारकाः ॥१६२॥
यथाभाग्यं लभन्तेऽत्रोद्‌भविनां भविनो भवे ।
नराश्चापि यथाकर्म गतीनां हि चतुष्टये ॥१६३॥
उत्पद्यन्ते पुनः केऽपि प्रसेधन्ति शिवश्रियम् ।
नृणां तीर्णभवाब्धीनां जातानां कर्मभूमिषु ॥१६४॥
भवेयुर्गुणधामानि केषाञ्चिच्चतुर्दश ।
दर्शनत्रितयं चापि भवितुं शक्नुयादिह ॥१६५॥
केचिद्‌गर्भजन्मानः केचित्संमूर्छनोद्‌भवाः ।
केचित्पुंवेदिनः केचित्कामिनीरूपधारिणः ॥१६६॥
केचन क्लीबताधारा सर्वे सर्वेन्द्रियास्तु ते ।
भवन्ति स्वान्तसंयुक्ताः पुमांसो निखिला इह ॥१६७॥
भवेयुर्योनिलक्षाणि मानवानां चतुर्दश ।
त्रिपल्योपमितं चायुः परमं ह्यपरं तु तम् ॥१६८॥
शेषमन्तर्मुहूर्तात्म प्रोक्तेत्थं मानवी मतिः ।
अथाग्रे कलये किञ्चिन्नैलिम्पीं किल तां गतिम् ॥१६९॥

अर्थ—आगे मनुष्योंमें कौन जीव उत्पन्न होते हैं ? यह जानना चाहते हो तो सुनो। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च नारकी—चारों गतिके जीव अपने अपने भाग्यके अनुसार इस मनुष्यगतिमें जन्मको प्राप्त होते हैं और मनुष्य भी अपने कर्मोंके अनुसार चारों गतियोंमें उत्पन्न होते हैं ॥१६२-१६३॥ कोई मनुष्य मोक्षलक्ष्मीको भी प्राप्त होते हैं। जो संसार

सागरसे पार हो रहे हैं ऐसे कर्मभूमिज किन्हीं मनुष्योंके चौदह गुणस्थान होते हैं। इस मनुष्यगतिमें तीनों सम्यग्दर्शन हो सकते हैं ॥१६४-१६५॥ इस मनुष्यगतिमें कोई गर्भ जन्म वाले हैं, कोई संमूर्च्छन जन्म वाले हैं, कोई पुरुषवेदी हैं, कोई स्त्रीवेदी हैं, और कोई नपुंसकवेदी हैं। इस गतिमें जीव पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी ही होते हैं। मनुष्योंकी चौदह लाख योनियाँ होती हैं, तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयु और अन्तर्मुहूर्तकी जघन्य आयु है। इस प्रकार मनुष्यगतिका कथन किया। अब आगे कुछ देवगतिका निरूपण करता हूँ ॥१६६-१६९॥

(इस प्रकार मनुष्यगतिका वर्णन पूर्ण हुआ)

आगे देवगतिका वर्णन करते हैं—

उपजाति

दीव्यन्ति नानागिरिशृङ्गकेषु
पयोधिपूरेषु सरित्तटेषु।
पयोदवृन्दे च निजेच्छया ये
गदन्ति देवान् किल तान् जिनेन्द्राः ॥१७०॥

अर्थ—नाना पर्वतोंके शिखरोंपर, समुद्र के पूरोंमें, नदियोंके तटोंपर और मेघसमूहमें जो अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं उन्हें जिनेन्द्र भगवान् देव कहते हैं ॥१७०॥

देवगत्युदये नूनं जायन्ते यत्र देहिनः।
देवानां सा गतिः प्रोक्ता दिव्यबोधविराजितैः ॥१७१॥
भावनव्यन्तरज्योतिर्वैमानिकसुसंज्ञिताः।
भेदा भवन्ति चत्वारस्तेषां भूरिभिदां गताः ॥१७२॥
नागादिभेदतो भिन्ना भावना दशधा पुनः।
किन्नराद्याश्च विज्ञेया व्यन्तरा वसुभेदिताः ॥१७३॥
ज्योतिष्काः पञ्चधा प्रोक्ताः सूर्याचन्द्रादिभेदतः।
द्वादशभेदसंभिन्ना अखिन्ना बहुभूतिभिः ॥१७४॥
वैमानिकास्तथा प्रोक्ताः पूर्वाचार्यकदम्बकैः।
कल्पाकल्पजभेदेन द्वेधा तेऽपि मताः पुनः ॥१७५॥

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदाभिधाः ।
लोकपालात्मरक्षानीकप्रकीर्णककिल्विषाः ॥१७६॥
आभियोग्याश्च विज्ञेया भेदाः सङ्घचतुष्टये ।
लोकपालैस्तथा त्रायस्त्रिंशैरपगताः पुनः ॥१७७॥
वन्यज्योतिर्मतामष्टावेव भेदा भवन्ति तु ।
एवं देवगतौ भेदव्यवस्था विनिदर्शिता ॥१७८॥

अर्थ—देवगति नाम कर्मके उदयसे जिसमें जीव उत्पन्न होते हैं उसे केवलज्ञानसे सुशोभित-अर्हन्त भगवान्ने देवगति कहा है ॥१७१॥ भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक नामसे उनके चार भेद होते हैं। ये चारों भेद बहुत भारी अवान्तर भेदोंको प्राप्त हैं ॥१७२॥ नागकुमार आदिके भेदसे भवनवासी दश प्रकारके और किन्नर आदिके भेदसे व्यन्तर देव आठ प्रकारके जानना चाहिए ॥१७३॥ सूर्य, चन्द्रमा आदिके भेदसे ज्योतिषी देव पाँच प्रकारके कहे गये हैं। बहुत भारी विभूतिसे हर्षित रहनेवाले वैमानिकदेव पूर्वाचार्योंके समूह द्वारा बारह प्रकारके कहे गये हैं। वे वैमानिक देव कल्पोपपन्न और कल्पातीतके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं ॥१७४-१७५॥ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, लोकपाल, आत्मरक्ष, अनीक, प्रकीर्णक, किल्विष और आभियोग्य ये दश भेद चारों निकायोंमें जानना चाहिए। परन्तु विशेषता यह है कि व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके लोकपाल और त्रायस्त्रिंशके बिना आठ ही भेद माने गये हैं। इस प्रकार देवगतिमें भेद व्यवस्था दिखायी गयी है ॥१७६-१७८॥

आगे देवोंमें प्रवीचार (कामसुख) का विभाग कहते हैं—

उपजाति

ऐशानकं व्याप्य निलिम्पवर्गाः
कायप्रवीचारयुता भवन्ति ।
ततः परं स्पर्शनरूपराव-
चित्तप्रवीचारयुताश्च बोध्याः ॥१७९॥

ततः परे तु विज्ञेया देवा मैथुनवर्जिताः ।
स्वात्मजानन्दसंभारसंभृताः परमत्विषः ॥१८०॥

अर्थ—ऐशान स्वर्ग तकके देव काय प्रवीचारसे सहित हैं और उसके आगे सानत्कुमार तथा माहेन्द्र स्वर्गके देव स्पर्शन प्रवीचार, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर,

कान्तव, कापिष्ठ इन चार स्वर्गोंके देव रूपप्रवीचार, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार इन चार स्वर्गोंके देव शब्दप्रवीचार और आनत, प्राणत, आरण, अच्युत इन चार स्वर्गोंके देव मनःप्रवीचारसे युक्त जानना चाहिये। इसके आगेके सब देव कामबाधासे रहित हैं, आत्मोत्थ आनन्दके समूहसे परिपूर्ण तथा उत्कृष्ट कान्तिको धारण करनेवाले हैं ॥१७९-१८०॥

अब देवोंके आवासस्थानका वर्णन करते हैं—

अथातः संप्रवक्ष्याम्यावसथं दानवद्विषाम् ।
सुखपीयूषसंपूर्णचेतसां विपुलायुषाम् ॥१८१॥

उपजाति

रत्नप्रभायाः प्रथमे विभागे तथा द्वितीये च विभाभिरम्ये ।
भव्येषु सौधेषु वसन्ति देवा नागादयो भावनवासिनस्ते ॥१८२॥

रत्नप्रभाभुवो भागे मध्ये चोर्ध्वतलेऽपि च ।
व्यन्तरा अमरा नूनं निवसन्ति निरन्तरम् ॥१८३॥
योजनानां च सप्तैव शतानि नवतिस्तथा ।
उत्पत्य मेदिनीभागाद् यावन्नवशतीं समात् ॥१८४॥
नभोऽङ्गणे निराधारे अम्भारातिमणिप्रभे ।
तारारवीन्दुनक्षत्रबुधभार्गवजीवकाः ॥१८५॥
अङ्गारकश्च मन्दश्चेत्येवं वै क्रमितां गताः ।
वसन्ति ज्योतिषा देवा कान्तिकान्तकलेवराः ॥१८६॥
मानवानां महीक्षेत्रे सुमेरुं स्वर्णसन्निभम् ।
सर्वदागतयो ह्येते परिक्राम्यन्ति सन्ततम् ॥१८७॥
एतत्संचारसंभूतो गौणः कालः प्रवर्तते ।
ततो बहिः स्थिताः सर्वे कीर्णका इव संस्थिताः ॥१८८॥

अर्थ—अब इसके आगे सुखरूपी अमृतसे परिपूर्णचित्त तथा विशाल आयु वाले देवोंके निवासस्थानको कहूँगा ॥१८१॥ रत्नप्रभा पृथिवीके कान्तिसे रमणीय पहले तथा दूसरे (खरभाग और पंकभाग) भागमें जो सुन्दर भवन हैं उनमें नागकुमार आदि भवनवासी देव रहते हैं ॥१८२॥

रत्नप्रभा पृथिवीके मध्यभागमें तथा मध्यमलोकमें भी निश्चयसे व्यन्तर देव निरन्तर निवास करते हैं ॥१८३॥ पृथिवीके समतलसे सात सौ नब्बे योजनकी ऊँचाईसे लेकर नौसौ योजन तक निराधार नीले आकाशमें तारा, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मङ्गल और शनैश्चर इस क्रमसे ज्योतिषी देव रहते हैं। इनका शरीर कान्तिसे सुन्दर होता है। मनुष्यक्षेत्र अर्थात् अढ़ाई द्वीपमें स्वर्णमय सुमेरु पर्वतकी ये सब निरन्तर चलते हुए प्रदक्षिणा देते रहते हैं ॥१८४-१८७॥ इन गतिशील ज्योतिषी देवोंके संचारसे उत्पन्न व्यवहारकाल प्रवर्तता है। मानुषोत्तर पर्वतके आगेके सभी ज्योतिषी देव अवस्थित हैं अर्थात् जो जहाँ हैं वहीं रहते हैं। ये ज्योतिषी देव मुट्ठीमें भर कर फेंके हुए पुष्पादिके समान स्थित हैं अर्थात् श्रेणीबद्ध स्थित नहीं हैं ॥१८८॥

आगे ऊर्ध्वलोकका वर्णन करते हैं—

रत्नसानोरतिक्रम्य सानोर्वालाग्रमात्रकम् ।
सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रकास्तथा ॥१८९॥
ब्रह्मब्रह्मोत्तरौ लान्तवकापिष्टौ ततः परौ ।
ज्ञेयौ शुक्रमहाशुक्रौ व्योमयानौ सदातनौ ॥१९०॥
शतारकसहस्रारौ ह्यानतप्राणतौ तथा ।
अरणश्चाच्युतश्चेत्थमूर्ध्वोर्ध्वं गगनान्तरे ॥१९१॥
अष्टौ द्वन्द्वानि राजन्ते त्रिदिवानां ततः परम् ।
नवग्रैवेयकास्तस्मान्नव चानुदिशास्ततः ॥१९२॥
विजयो वैजयन्तश्च जयन्तश्चापराजितः ।
सर्वार्थसिद्धिरित्येते विमानाः सहजाः स्थिताः ॥१९३॥

अर्थ—मेरु पर्वतके शिखरसे बालके अग्रभागके बराबर अन्तर छोड़ सौधर्म ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार सहस्रार, आनत प्राणत और आरण अच्युत, स्वर्गोंके ये आठ युगल आकाशके मध्य ऊपर ऊपर स्थित हैं। ये सब विमान सदा स्थिर रहने वाले हैं। इन आठ युगलोंके ऊपर नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश तथा विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये सहज सिद्ध विमान स्थित हैं। भावार्थ—दो-दोकी बराबरीसे आठ युगलोंमें सोलह स्वर्ग हैं। उनके आगे एकके ऊपर एक, इस क्रमसे नौग्रैवेयक हैं। उनसे

ऊपर एक पटलमें नौ अनुदिश हैं। ये अनुदिश चार दिशाओंमें चार, चार विदिशाओंमें चार और एक बीचमें इस तरह स्थित हैं। इनके आगे एक पटलमें पांच अनुत्तर विमान हैं। जो चार दिशामें चार और एक बीचमें इस क्रमसे स्थित हैं ॥१८९-१९३॥

आगे इन विमानोंमें रहनेवाले वैमानिक देव तथा उनकी गति आदि विषयक हीनाधिकताका वर्णन करते हैं—

तेषु वैमानिका देवा निवसन्ति निरन्तरम् ।
स्थितिप्रभावलेश्यातिविशुद्धया च सुशर्मणा ॥१९४॥
अक्षावधिविषयेण कान्तिभिश्चाखिला इमे ।
ऊर्द्ध्वोर्द्ध्वं ह्यधिका ज्ञेयाः पुण्यातिशयशोभिताः ॥१९५॥
हीना गत्या शरीरेण मूर्च्छया चाभिमानतः ।
लेश्याश्च द्वित्रिशेषेषु पीता पद्मा च शुक्लका ॥१९६॥
लेश्या भवन्ति पीतान्ता आदितस्त्रिषु राशिषु ।
भवनव्यन्तरज्योतिष्केषु सर्वज्ञभाषिताः ॥१९७॥
ग्रैवेयकेभ्यो विज्ञेया प्राग्भवाः कल्पसंज्ञिताः ।
अथ सारस्वतादित्यवह्न्यरुणास्ततः परम् ॥१९८॥
गर्दतोयश्च तुषिताव्याबाधारिष्टसंज्ञकाः ।
लौकान्तिकास्तु विज्ञेया ब्रह्मलोकालयाः सुराः ॥१९९॥
विजयादिषु संजाता देवा द्विचरमा मताः ।
सर्वार्थसिद्धिनिस्तीर्णा निर्वान्त्येकभवेन तु ॥२००॥
इन्द्रादिकल्पना तेषां कल्पेष्वेव प्रवर्तते ।
तदुत्तरत्र सर्वेषां सामान्यं सर्वतः स्थितम् ॥२०१॥

अर्थ—उपर्युक्त विमानोंमें निरन्तर वैमानिक सभी देव रहते हैं। पुण्यातिशयसे शोभित ये सभी देव स्थिति, प्रभाव, लेश्याकी अत्यन्त विशुद्धता, सुख, इन्द्रिय तथा अवधिज्ञान का विषय और कान्तिके द्वारा ऊपर-ऊपर अधिक जानना चाहिये तथा गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा हीन समझना चाहिये। दो, तीन और शेष युगलोंमें क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या जानना चाहिये अर्थात् सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें पीत लेश्या, सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें पीत पद्म लेश्या, ब्रह्म

ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ट स्वर्गमें पद्मलेश्या, शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गमें पद्म और शुक्ल लेश्या, आनतादि चार स्वर्गोंमें शुक्ल लेश्या और नव ग्रैवेयकादिमें परम शुक्ल लेश्या जानना चाहिये। आदिके भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन निकायोंमें कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा कही गई हैं। यहाँ इतनी विशेषता जानना चाहिये कि इन भवनवासी आदि तीन निकायोंको अपर्याप्तक अवस्थामें कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। परन्तु पर्याप्तक अवस्थामें जघन्य पीत लेश्या होती है ॥ १९४-१९७ ॥

ग्रैवेयकोंसे पूर्ववर्ती स्वर्ग कल्प कहलाते हैं। सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अरिष्ट और अव्याबाध ये आठ लोकान्तिक देव जाननेके योग्य हैं। ये लौकान्तिक देव ब्रह्म स्वर्गमें रहते हैं ॥१९८-१९९॥ विजयादि बिमानों तथा अनुदिशोंमें उत्पन्न होने वाले देव द्विचरम होते हैं अर्थात् मनुष्यके अधिक-से-अधिक दो भव धारणकर मोक्ष चले जाते हैं। परन्तु सर्वार्थसिद्धिमे आये हुए देव एक भवमें ही निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं ॥ २०० ॥ इन्द्रादिक दशभेदोंकी कल्पना, कल्पों अर्थात् सोलह स्वर्गोंमें ही है उनके आगे सब देवोंमें समानता है अर्थात् राजा प्रजाका व्यवहार न होकर सब समान अहमिन्द्र कहलाते हैं ॥ २०१ ॥

आगे देवोंके शरीरकी अवगाहना कहते हैं—

अथातः संप्रवक्ष्यामि देवानामवगाहनाम् ।
असुराणां समुत्सेधो धनुषां पञ्चविंशतिः ॥२०२॥

विग्रहस्य च शेषाणां दश मन्दिरवासिषु ।
दशैव व्यन्तराणां स्याज्ज्योतिष्काणां च सप्त सः ॥२०३॥

सौधर्मादिषु कल्पेषु देवदेहावगाहना ।
द्वयोर्द्वयोश्चतुर्षु स्याच्चतुर्षु स्याद् द्वयोर्द्वयोः ॥२०४॥

सप्त षट् पञ्च हस्ता वै चत्वारश्चार्धसंयुताः ।
त्रयोहस्तास्त्रयो हस्ता ज्ञेया ज्ञेयबुभुत्सुभिः ॥२०५॥

अधोग्रैवेयकेषु स्यात्सार्धहस्तद्वयं ततः ।
हस्तद्वयं च विज्ञेयं मध्यग्रैवेयकेषु च ॥२०६॥

अन्त्यग्रैवेयकेषु स्याद्धस्तश्चार्धेन संयुतः ।
अयमेव च विज्ञेयो नवानुदिशवासिनाम् ॥२०७॥
एकहस्तश्च विज्ञेया विजयादिषु पञ्चसु ।
एष नैसर्गिकोत्सेधो विविधो विक्रियोद्भवः ॥२०८॥

अर्थ—अब देवोंकी अवगाहना कहते हैं—भवनवासी देवोंमें असुरकुमारोंके शरीरकी अवगाहना पच्चीस धनुष, शेष भवनवासी और व्यन्तरों की दश धनुष तथा ज्योतिषी देवोंकी सात हाथ है ।। २०२–२०३॥ सौधर्मादिक स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी अवगाहना इस प्रकार है । सौधर्म ऐशान इन दो स्वर्गोंमें सात हाथ, सानत्कुमार माहेन्द्र इन दो स्वर्गोंमें छह हाथ, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव कापिष्ट, इन चार स्वर्गोंमें पांच हाथ, शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार इन चार स्वर्गोंमें चार हाथ, आनत प्राणत इन दो स्वर्गोंमें साढ़े तीन हाथ और आरण अच्युत इन दो स्वर्गोंमें तीन हाथकी अवगाहना ज्ञेय तत्त्वोंके जिज्ञासु मनुष्योंके द्वारा जाननेके योग्य है ॥ २०४–२०५ ॥ अधोग्रैवेयकोंमें अढ़ाई हाथ, मध्यम ग्रैवेयकोंमें दो हाथ और अन्तिम ग्रैवेयकमें डेढ़ हाथ अवगाहना है । यही डेढ़ हाथ प्रमाण अवगाहना नौ अनुदिशोंमें रहने वाले देवोंकी है । विजयादिक पांच अनुत्तरोंमें एक हाथ प्रमाण अवगाहना है। देवोंकी यह स्वाभाविक अवगाहना है । विक्रियासे उत्पन्न होने वाली अवगाहना विविध प्रकार की है अर्थात् विक्रियासे कितना ही छोटा-बड़ा शरीर बना सकते हैं । ॥ २०६–२०८ ॥

आगे देवोंकी आयुका वर्णन करते हैं—

अथाग्रे संप्रवक्ष्यामि देवानां जीवितस्थितिम् ।
असुराहिकुमाराणां सुपर्णद्वीपसंज्ञिनाम् ॥२०९॥
शेषाणां भावनानां च सिन्धु-पल्यत्रयोपमा ।
अर्धहीनमिता ज्ञेया स्थितिरग्रे परा बुधैः ॥२१०॥
दशवर्षसहस्राणि जघन्या तु जिनोदिता ।
व्यन्तरज्योतिषाणां च परा पल्योपमाऽपरा ॥२११॥
दशवर्षसहस्राणि व्यन्तराणां समुच्यते ।
ज्योतिष्काणां च पल्याष्टभागोस्तुलिता मता ॥२१२॥

लक्षवर्षाधिकं त्विन्दोः सहस्राब्दयुतं रवेः ।
शुक्राणां च शताधिक्यं पूर्णं देवरोगुर्मतम् ॥२१३॥
शेषाणामुडुकानां च ह्यर्धं पल्योपमं स्मृतम् ।
इत्थमत्र विशेषोऽत्र वर्णितः परमागमे ॥२१४॥

अर्थ—अब आगे देवोंकी आयु का कथन करते हैं । असुरकुमार नागकुमार सुपर्णकुमार द्वीपकुमार और शेष अन्य भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयु क्रमसे एक सागर तीन पल्य, अढ़ाईपल्य, दो पल्य और डेढ़ पल्य विद्वानों के द्वारा जानने योग्य है ॥ २०९–२१० ॥ इनकी जघन्य आयु जिनेन्द्र भगवान्‌ने दशहजार वर्षको कही है । व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक पल्यकी है । व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है । और ज्योतिषी देवोंकी पल्यके आठवें भाग है । ज्योतिषी देवोंमें चन्द्रमाकी उत्कृष्ट स्थिति एक पल्यसे एक लाख वर्ष अधिक है । सूर्यकी एक हजार वर्ष अधिक है । शुक्रकी सौ वर्ष अधिक है । बृहस्पतिकी पूर्ण एक पल्य प्रमाण है । शेष ज्योतिषी देव तथा नक्षत्रोंकी अर्धपल्य प्रमाण है । इस संदर्भकी यह विशेषता परमागममें कही गई है ॥ २११–२१४ ॥

आगे वैमानिक देवोंकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

सौधर्मैशानयोर्नूनमधिके सागरोपमे ।
सानत्कुमारमाहेन्द्रयुग्मे सप्त पयोधयः ॥२१५॥
ब्रह्म ब्रह्मोत्तरद्वन्द्वे सागरा दश संमताः ।
चतुर्दशाब्धयो ज्ञेयाः कापिष्टे लान्तवे तथा ॥२१६॥
शुक्रे चैव महाशुक्रे सागराः षोडशोदिताः ।
शतारे च सहस्रारे सिन्धवोऽष्टादशोदिताः ॥२१७॥
आनतप्राणतद्वन्द्वे विंशतिः सागरा मताः ।
आरणाच्युतयोर्ज्ञेया द्वाविंशतिपयोधयः ॥२१८॥
आरणादच्युतादूर्द्ध्वमेकैकेन च वर्धिताः ।
नवग्रैवेयकेषु स्युर्नवस्वनुदिशेषु च ॥२१९॥
विजयादिषु विमानेषूत्कृष्टा स्थितिः समुच्यते ।
सौधर्मैशानयोर्हीनाऽधिकपल्योपमा स्मृता ॥२२०॥

पूर्वत्र या समुत्कृष्टा सा परत्राधमोच्यते ।
सर्वार्थसिद्धिजानां तु नैव हीना स्थितिर्भवेत् ॥२२१॥

अर्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें दो सागरसे कुछ[1] अधिक आयु है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें सात सागरसे कुछ अधिक है। ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरके युगलमें दश सागरसे कुछ अधिक है। लान्तव और कापिष्टमें चौदह सागरसे कुछ अधिक है। शुक्र और महाशुक्रमें सोलह सागरसे कुछ अधिक है। शतार और सहस्रारमें अठारह सागरसे कुछ अधिक है। आनत और प्राणतमें बीस सागर है और आरण तथा अच्युतमें बाईस सागर है। आरण-अच्युतके ऊपर एक एक सागर बढ़ती हुई नव ग्रैवेयकोंमें २३ से लेकर ३१ सागर तककी आयु है। अनुदिशोंमें ३२ सागरकी है और विजयादिक अनुत्तर विमानोंमें ३३ सागरकी उत्कृष्ट स्थिति कही जाती है। सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य है। पूर्व स्वर्गमें जो उत्कृष्ट स्थिति है वह आगेके स्वर्गमें जघन्य आयु होती है। सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हुए जीवोंकी जघन्य आयु नहीं होती। सबकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरकी ही होती है ॥२१५–२२१॥

अब देवगतिमें कौन जीव कहाँ तक उत्पन्न होते हैं और वहाँसे आकर कहाँ जन्म लेते हैं ? यह कहते हैं—

पर्याप्तासंज्ञिपञ्चाक्षाः संख्येयाब्दमितायुषः ।
पुण्यबन्धेन तिर्यञ्चो भावनव्यन्तरेषु च ॥२२२॥
त एव संज्ञिनो मिथ्यादृष्टिसासादनास्तथा ।
सहस्रारमभिव्याप्योत्पद्यन्ते, शुद्धदृष्टयः ॥२२३॥
अच्युतान्तेषु जायन्ते सौधर्मप्रमुखेषु तु ।
असंख्येयसमायुष्कास्तिर्यञ्चो मानवास्तथा ॥२२४॥
आद्यं स्वर्गद्वयं यावद् यान्ति नोर्ध्वं कदाचन ।
ज्योतिष्कनिर्जरान् यावज्जायन्ते केऽपि तापसाः ॥२२५॥

---

१. कुछ अधिकका सम्बन्ध बारहवें स्वर्ग तक ही है क्योंकि घातायुष्क जीव यहीं तक उत्पन्न होते हैं। जो जीव पहले आगेके स्वर्गकी आयु बांधकर पीछे संक्लेश परिणामोंसे आयुमें अपकर्षण कर नीचे उत्पन्न होते हैं वे घातायुष्क कहलाते हैं। इनकी आयु अर्ध सागर अधिक होती है।

विशुद्धदृष्टयः केचित्तापसा आद्यनाकयोः ।
संख्येयहायनायुष्का मर्त्या मिथ्यात्वदूषिताः ॥२२६॥
सासादनाश्च ग्रैवेयकान्तेष्वत्रोद्भवन्ति हि ।
परिव्राजः प्रकर्षेण ब्रह्मलोकं प्रयान्ति च ॥२२७॥
आजीवकाः सहस्रारं जायन्ते न ततः परम् ।
तपोऽनुष्ठानसंलब्धपुण्यबन्धविशेषकाः ॥२२८॥
निर्ग्रन्थलिङ्गिनो द्रव्यदृष्टयश्चोद्भवन्ति तु ।
नवग्रैवेयकान्तेषु ततः संशुद्धदृष्टयः ॥२२९॥
श्रावका अच्युतान्तेषु जायन्ते न ततः परम् ।
देवश्च्युत्वा मनुष्येषु तिर्यक्ष्वप्यभिजायते ॥२३०॥

अर्थ—असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक संख्यात वर्षकी आयुवाले अर्थात् कर्मभूमिज तिर्यञ्च पुण्यबन्धसे भवनवासी तथा व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होते हैं। वे ही कर्मभूमिज संज्ञी मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवाले तिर्यञ्च सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। ये ही तिर्यञ्च यदि सम्यग्दृष्टि हैं तो सौधर्मस्वर्गसे लेकर अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। असंख्यात वर्षकी आयुवाले अर्थात् भोगभूमिज तिर्यञ्च और मनुष्य प्रारम्भके दो स्वर्गों तक जाते हैं, इसके आगे कभी नहीं जाते। कोई तापस, ज्योतिषी देवों तक अर्थात् भवनत्रिकोंमें उत्पन्न होते हैं। कितने ही भद्रपरिणामी तापस पहले, दूसरे स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं। संख्यात वर्षकी आयुवाले मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमें स्थित मनुष्य ग्रैवेयकों तक उत्पन्न होते हैं। परिव्राजक अधिक-से-अधिक ब्रह्म स्वर्ग तक जाते हैं। आजीवक सहस्रार स्वर्ग तक जाते हैं उसके आगे नहीं। तपश्चरणके द्वारा विशिष्ट पुण्यबन्ध करनेवाले द्रव्यलिङ्गी (मिथ्यादृष्टि) मुनि नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं। उसके आगे सम्यग्दृष्टि मुनि ही उत्पन्न होते हैं। श्रावक अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं उसके आगे नहीं। देव देवगतिसे च्युत होकर मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—देवगतिके जीव मर कर नरक और देवगतिमें जन्म नहीं लेते। मनुष्य अथवा तिर्यञ्च ही होते हैं। दूसरे स्वर्ग तकके देव अग्नि कायिक और वायु कायिकको छोड़ कर शेष तीन एकेन्द्रियों तकमें उत्पन्न हो सकते हैं। विकलत्रयोंमें नहीं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें बारहवें स्वर्ग

तकके ही देव उत्पन्न होते हैं, आगेके नहीं। वहाँके देव नियमसे कर्मभूमिज मनुष्य होते हैं ॥२२२-२३०॥

आगे देवोंमें गुणस्थान आदिका वर्णन करते हैं—

पुंस्त्रीवेदद्वयं चैव देवानां भवति ध्रुवम् ।
गुणधामानि चत्वारि भवितुं शक्नुवन्ति च ॥२३१॥
केषांचित् क्षायिकं प्रोक्तं केषाञ्चिद् वेदकं मतम् ।
इतरेषां च देवाना दर्शनं शमजं स्मृतम् ॥२३२॥
शीतोष्णयोनयो देवा देवाः संवृतयोनयः ।
अचित्तयोनयो देवा उद्भवश्चोपपादकः ॥२३३॥
अपि चैषां हि विज्ञेयं योनिलक्षचतुष्टयम् ।
शरीरं विक्रियोद्भूतं तैजसं कार्मणं तथा ॥२३४॥
मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञान मेव च ।
जायते जातमात्राणां देवानां विनियोगतः ॥२३५॥
इत्थं चतुष्टयी प्रोक्ता गतीनामिह लेशतः ।
विजयन्ते पुनः केऽपि गतिभेदविनिर्गताः ॥२३६॥

अर्थ— देवोंके नियमसे पुंवेद और स्त्रीवेद ये दो ही वेद होते हैं। गुणस्थान आदिके चार हो सकते हैं ॥२३१॥ किन्हीं देवोंके क्षायिक सम्यग्दर्शन कहा गया है। किन्हीं देवोंके वेदक अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन माना गया है और किन्हीं देवोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन स्मरण किया गया है। तात्पर्य यह है कि देवोंके तीनों सम्यग्दर्शन सम्भव हैं। देव शीतोष्णयोनिवाले होते हैं, संवृतयोनिवाले होते हैं तथा अचित्त योनिवाले होते हैं। इनका उपपाद जन्म होता है। विस्तारकी अपेक्षा देवोंके चार लाख योनियाँ होती हैं। इनके वैक्रियिक, तैजस और कार्मण ये तीन शरीर होते हैं। इनके उत्पन्न होते ही मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान नियमसे होते हैं (मिथ्यादृष्टि देवोंके ये तीन ज्ञान, मिथ्याज्ञान कहलाते हैं और सम्यग्दृष्टि देवोंके सम्यग्ज्ञान)। इस प्रकार संक्षेपसे चार गतियोंका कथन किया। गतियोंके भेदसे रहित कोई अनिर्वचनीय सिद्ध भगवान् सदा जयवन्त प्रवर्तते हैं। अर्थात् गतिका व्यवहार संसारी जीवोंमें ही है मुक्त जीवोंमें नहीं ॥ २३१-२३६॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिन्तामणिमें गतिमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करनेवाला तृतीय मयूख समाप्त हुआ।

चतुर्थो मयूखः

मङ्गलाचरण

प्रमदानन छन्द

अथ मुक्तिसुप्रमदाननाब्जषडङ्घ्रिमाहितशंभरं
शुभकीर्तिसारसितीकृताखिललोकसुन्दरमन्दिरम् ।
दिविजाहिमर्त्यखगेशभूधरचित्तकञ्जविभाकरं
वरबोधशालिनमुत्तमं प्रणमाम्यहं वदतां वरम् ।। १ ।।

अर्थ—जो मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखकमलके भ्रमरस्वरूप हैं, जो सुख समूहको धारण करनेवाले हैं, श्रेष्ठ शुभ कीर्तिसे जिन्होंने समस्त लोक रूपी मन्दिरको शुक्ल कर दिया है, जो देव धरणेन्द्र मनुष्य तथा विद्याधर राजाओंके मनरूपी कमलको विकसित करनेके लिए सूर्य हैं, उत्तम ज्ञान-केवलज्ञानसे सुशोभित हैं, उत्कृष्ट हैं तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं ऐसे अरहंत भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ ।।१।।

आगे इन्द्रियमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

अथाग्रे संप्रवक्ष्यामि हृषीकाणि समासतः ।
भव्यानामुपकाराय यथाशक्ति यथागमम् ।। २ ।।
तानीन्द्रियाणि जानीहि यानि स्वविषयग्रहे ।
अहमिन्द्रा यथा ह्यात्मतन्त्राण्येव भवन्ति वै ।। ३ ।।
तेषामिन्दनशीलानां लिङ्गानां वा निजात्मनः ।
द्रव्यभावत्रिभेदेन भेदद्वन्द्वं विराजते ।। ४ ।।
तत्र देहोदयाज्जातं देहचिह्नं तु द्रव्यकम् ।
लब्ध्युपयोगरूपं च प्रोक्तं भावेन्द्रियं तथा ।। ५ ।।

अर्थ—अब आगे भव्य जीवोंके उपकारके लिए अपनी शक्ति तथा आगमके अनुसार संक्षेपसे इन्द्रियोंका कथन करूँगा ।।२।। जो अपना स्पर्शादि विषय ग्रहण करनेमें अहमिन्द्रोंके समान स्वतन्त्र हैं उन्हें इन्द्रिय

जानो ॥१॥ जिनका इन्दन—आत्मस्वातन्त्र्यरूप स्वभाव है अथवा जो आत्माका परिचय करानेके लिए साधन स्वरूप हैं उन इन्द्रियोंके द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो भेद हैं। उनमें शरीरनामकर्मके उदयसे शरीरमें जो इन्द्रियाकार चिह्न हैं उन्हें द्रव्येन्द्रिय कहते हैं और जो लब्धि तथा उपयोग रूप हैं उन्हें भावेन्द्रिय जानना चाहिए ॥२-५॥

स्पर्शनं रसना घ्राणं लोचनं श्रवणं तथा।
इत्यक्षपञ्चकं प्रोक्तं प्रेक्षादक्षमनीषिभिः ॥ ६ ॥
स्पर्शो रसश्च गन्धश्च रूपं शब्दश्च संक्रमात्।
विषयास्त्वाक्षवर्गस्य वर्णिताः परमागमे ॥ ७ ॥
एकेन्द्रियादिसंयोगाज्जीवा एकेन्द्रियादयः।
सन्ति पञ्चविधा नूनं निजावान्तरभेदिताः ॥ ८ ॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ विचार-कुशल विद्वानोंने कही हैं ॥६॥ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पाँच उन पाँच इन्द्रियोंके विषय परमागममें कहे गये हैं ॥७॥ एकेन्द्रियादिके संयोगसे एकेन्द्रिय आदि पाँच प्रकारके जीव होते हैं। निश्चयसे ये सब जीव अपने अपने अनेक अवान्तर भेदोंसे सहित हैं ॥८॥

इन्द्रियोंके आकार तथा विषय—

लोचनश्रवणघ्राणजिह्वाकारा यथाक्रमम्।
मसूरयवनाल्याभतिलपुष्पक्षुरप्रकैः ॥ ९ ॥
तुलिता, नैकसंस्थानं स्पर्शनं बुधसंस्मृतम्।
स्पर्शनविषयः प्रोक्तो धनुःशतचतुष्टयम् ॥१०॥
रसनाविषयक्षेत्रं चतुःषष्टिशरासनाः।
नासाविषयभूभागः शतकोदण्डसंमितः ॥११॥
चतुःपञ्चाशदाधिक्यनवशतक संयुते।
योजनानां सहस्रे द्वे चक्षुषो विषयस्थलम् ॥१२॥
श्रुतिक्षेत्रं परं ह्यष्टसहस्री धनुषां मतम्।
व्याप्यामनस्कपञ्चाक्षमेष द्विगुणितः स्मृतः ॥१३॥

रसनाघ्राणनासानां योजनानि नव स्मृताः ।
श्रुत्योर्द्वादश संप्रोक्ता संज्ञिनां विषयस्थली ॥१४॥
द्विशतत्रिषष्टियुक्तानि सातिरेकाणि चक्षुषः ।
विषयः सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि संज्ञिनः ॥१५॥

अर्थ—नेत्र, कर्ण, घ्राण और जिह्वा इन्द्रियके आकार क्रमसे मसूर, जौ की नली, तिल पुष्प और खुरपो तुल्य हैं। स्पर्शन इन्द्रियका आकार विद्वानोंने अनेक प्रकारका माना है। स्पर्शन इन्द्रियका विषय चार सौ धनुष, रसना इन्द्रियका विषय क्षेत्र चौंसठ धनुष, घ्राण इन्द्रियका विषय सौ धनुष, चक्षु इन्द्रियका विषय दो हजार नौ सौ चौंवन योजन और कर्ण इन्द्रियका विषय आठ हजार धनुष माना गया है। असैनी पञ्चेन्द्रिय तक यह विषय दूना दूना होता जाता है। संज्ञी जीवकी रसना, स्पर्शन और घ्राण इन्द्रियका विषय नौ नौ योजन, कर्ण इन्द्रियका विषय बारह योजन और चक्षु इन्द्रियका सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजनसे कुछ अधिक $\frac{7}{20}$ है ॥९-१५॥

अब एकेन्द्रियादि जीवोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य अवगाहनाका वर्णन करते हैं—

कमले साधिकं चैकं योजनानां सहस्रकम् ।
योजनद्वादशी शङ्खे वृश्चिके क्रोशकत्रयम् ॥१६॥
षट्पदे योजनं ह्येकं महामत्स्ये सहस्रकम् ।
इत्थमेकेन्द्रियादीनामवगाहः प्रमुखो मतः ॥१७॥
पर्याप्तद्वीन्द्रियादीनां जघन्यं त्ववगाहनम् ।
अनुन्धरी कुन्थुकाणमक्षिकासिक्थकेषु च ॥१८॥
वृन्दाङ्गुलस्य संख्येयात्संख्यसंगुणितक्रमम् ।
अपर्याप्तस्य जातस्य तृतीये समये पुनः ॥१९॥
निगोदस्यातिसूक्ष्मस्याङ्गुलासंख्येयभागकम् ।
एकेन्द्रियेषु विज्ञेयं जघन्यमवगाहनम् ॥२०॥

अर्थ—एकेन्द्रियोंमें कमलकी कुछ अधिक एक हजार योजन, द्वीन्द्रियोंमें शङ्खकी बारह योजन, त्रीन्द्रियोंमें विच्छूकी तीन कोश, चतुरि-

न्द्रियोंमें भ्रमरकी एक योजन और पञ्चेन्द्रियोंमें महामत्स्यकी एक हजार योजन, इस प्रकार एकेन्द्रियादि जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना जानना चाहिये। पर्याप्तक द्वीन्द्रियादिककी जघन्य अवगाहना अनुन्धरी, कुन्थु, काणमाक्षिका और सिक्थक मत्स्यमें वृन्दाङ्गुलके संख्यातवें भागसे लेकर आगे आगे संख्यात गुणित क्रमको लिए हुए हैं। एकेन्द्रियोंमें लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीवके उत्पन्न होनेके तृतीय समयमें अङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना जानना चाहिए ॥१६-२०॥

अब एकेन्द्रियादिकोंमें जन्म तथा लिङ्गादिकी व्यवस्था कहते हैं—

आर्या

चतुरक्षान्ता जीवा संमूर्च्छनजा नपुंसकाश्चापि ।
मिथ्यादर्शनदूषितहृदया नियमेन जायन्ते ॥२१॥
पञ्चेन्द्रियाः पुनस्ते वेदोत्पत्तित्रयाभिसंयुक्ताः ।
निखिलगुणधामसहिताः सकलकलाशोभिताः सन्ति॥२२॥

अर्थ—चतुरिन्द्रिय तकके जीव नियमसे संमूर्च्छन जन्मवाले, नपुंसक-वेदी तथा मिथ्यादर्शनसे दूषित हृदय होते हैं ॥२१॥ और पञ्चेन्द्रिय जीव तीनों वेदों तथा तीनों जन्मोंसे सहित होते हैं। साथ ही समस्त गुणस्थानोंसे युक्त और सकलकलाओंसे सुशोभित होते हैं ॥२२॥

आगे इन्द्रियातीत सिद्धपरमेष्ठीका जयघोष करते हैं—

इत्यक्षकक्षामाश्रित्य सहन्ते भविनोऽसुखम् ।
अक्षकक्षापरातीता मुक्तात्मानो जयन्ति तु ॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार इन्द्रियकक्षाका आश्रय कर संसारी जीव दुःख सहन करते हैं परन्तु इन्द्रियकक्षासे परे रहनेवाले सिद्ध परमेष्ठी जयवन्त प्रवर्तते हैं ॥२३॥

(इस प्रकार इन्द्रियमार्गणाका वर्णन पूर्ण हुआ)

आगे कायमार्गणा की अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

जातिकर्माविनाभावित्रसस्थावरकर्मणोः ।
उदयेन भवेत्कायः पृथ्वीकायादिषड्विधः ॥२४॥
भूमितोयाग्निवायूनां कर्मणामुदये सति ।
तेषां तत्रैव देहः स्यान्निजवर्णादिसंयुतः ॥२५॥

स्थूलसूक्ष्मोदयात्तेषां देहा हि स्थूलसूक्ष्मकाः ।
घातदेहं भवेत्स्थूलमघातं च भवेत्परम् ॥२६॥
बादराः क्वचिदाधारे सूक्ष्मास्त्वाधारवर्जिताः ।
सर्वत्र सर्वदा सन्त्यनन्तानन्ताः शरीरिणः ॥२७॥
तरुकर्मोदये जीवास्तरुकाया भवन्ति हि ।
ते च प्रत्येकसामान्यभेदाभ्यां द्विविधाः स्मृताः ॥२८॥
प्रतिष्ठितान्यभेदेन प्रत्येका द्विविधा मताः ।
साधारणोदये ये निगोददेहा भवन्ति वै ॥२९॥
सामान्यास्तेऽपि सूक्ष्मस्थूलभेदाद् द्विविधा मताः ।
साधारणं भवेदेषामाहारस्वानपानकम् ॥३०॥
जीवनं मरणं चाप्यक्रमणं क्रमणं तथा ।
द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा पञ्चभिः करणैर्युताः ॥३१॥
जीवास्त्रसा हि विज्ञेया सन्मतेरुपदेशतः ।
परिणतं त्रसं त्यक्त्वा मारणान्तोपपादयोः ॥३२॥
त्रसनालीबहिःस्थल्यां न त्रसाः सन्ति कुत्रचित् ।
स्थावरास्त्वखिलं लोकं व्याप्यासीदन्ति सर्वतः ॥३३॥
पृथ्वीतोयाग्निवातेष्वाहारके च विगूर्वके ।
निगोदा बादरा न स्युः केवलिनां च विग्रहे ॥३४॥

उपजाति

सूचिकलापध्वजतोयबिन्दुमसूरसादृश्यमवाप्नुवन्तः ।
वह्निप्रवाताभृतभूमिदेहास्तरुत्रसा नैकविधाश्च बोध्याः ॥३५॥

भुजङ्गप्रयात

यथा भारवाही नरो दुःखभारं,
निरन्तं सकायो बिभर्ति प्रमूढः ।
प्रबुद्धः पुराणस्त्वकायः स कोऽपि
शुभानन्दवृन्दं सदा विन्दति स्वम् ॥३६॥

अर्थ—जाति नामकर्मके अविनाभावी त्रस-स्थावर नामकर्मके उदयसे काय होता है। वह काय, पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारका है अर्थात् पृथिवीकायिक आदि पाँच स्थावर और एक त्रस, ये छह कायके जीवोंके भेद हैं ।।२४।। पृथिवी जल अग्नि और वायु कर्मका उदय होनेपर उन जीवोंका अपने अपने वर्णादिसे सहित शरीर उन्हीं जीवोंमें उत्पन्न होता है ।।२५।। उन जीवोंका शरीर स्थूल नामकर्मके उदयसे स्थूल तथा सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे सूक्ष्म होता है। स्थूल शरीरसे दूसरे जीवोंका घात—रुकावट होती है परन्तु सूक्ष्म शरीरसे किसीकी रुकावट नहीं होती ।।२६।। बादर अर्थात् स्थूल जीव किसी आधारपर रहते हैं परन्तु सूक्ष्म जीव आधारसे रहित हैं। ऐसे सूक्ष्म जीव अनन्तानन्त हैं तथा तीनों लोकोंमें सर्वत्र सदा विद्यमान रहते हैं ।।२७।। वनस्पति नामकर्मके उदयसे जीव वनस्पतिकाय होते हैं। वे वनस्पतिकायिक जीव प्रत्येक और साधारणके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं ।।२८।। प्रत्येकवनस्पति जीव सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येकके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं। साधारण नामकर्मके उदयसे जीव निगोदशरीर वाले होते हैं तथा सूक्ष्म और स्थूलके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इन साधारण जीवोंका आहार, श्वासोच्छ्वास, जीवन, मरण तथा गमनागमन साधारण होता है अर्थात् एकके आहार आदिसे सबका आहार आदि हो जाता है। दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियोंसे सहित जीवोंको भगवान् महावीरके उपदेशसे त्रस जानना चाहिये मारणान्तिक समुद्घात तथा उपपाद रूप परिणत त्रसको छोड़कर अन्य त्रसजीव त्रसनालीके बाहर कहीं भी नहीं होते। परन्तु स्थावर जीव समस्त लोकको सब ओरसे व्याप्तकर स्थित हैं ।।२९।-३३।। पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, आहारकशरीर, देवनारकियोंके वैक्रियिक शरीर तथा केवलीके परमौदारिक शरीरमें बादरनिगोदिया जीव नहीं होते हैं ।।३४।। अग्निकायिक जीवोंका आकार खड़ी सूजियोंके समूहके समान, वायुकायिकका ध्वजाके समान, जलकायिकका जलकी बूँदके समान, पृथिवीकायिकका मसूरके समान होता है। वनस्पतिकायिक और त्रस अनेक आकारके होते हैं। ।।३५।। जिस प्रकार भारवाही पुरुष काँवर लेकर भारको उठाता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव शरीर ग्रहणकर अनन्त दुःखको उठाता है। परन्तु कोई ज्ञानी जीव शरीर रहित होकर सदा आत्मोत्थ शुभ आनन्दके समूहको प्राप्त करते हैं ।।३६।।

इस प्रकार कायमार्गणाका वर्णन हुआ।

आगे योगमार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

इन्द्रवज्रा

चेतोवचःकायविराजितस्य
जीवस्य कर्मागमकरणं या।
जाता शरीरोदयतो हि शक्ति-
र्योगः स योगीशनिवेदितोऽस्ति ॥३७॥

अर्थ—मन, वचन, कायसे युक्त जीवकी कर्मागममें कारणभूत जो शक्ति शरीरनामकर्मके उदयसे प्रकट होती है वह योगिराज—वीतराग जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा हुआ योग है॥३७॥

मनोवचःशरीराणां भेदात्स त्रिविधो मतः।
स एव आस्रवो बोध्यः कर्मबन्धनकारणम् ॥३८॥

सत्यासत्योभयार्थेष्वनुभयार्थेषु वर्तनात्।
चेतसो वचसो भेदाश्चत्वारश्च भवन्ति वै ॥३९॥

सद्भावमनसा योगो यो हि नाम प्रजायते।
असौ सत्यमनोयोगो मुनिवृन्दनिरूपितः ॥४०॥

असद्भूतेन चित्तेन योगो यश्च प्रवर्त्यते।
सोऽसत्यो मानसो योगो योगिसङ्घप्रकीर्तितः ॥४१॥

सत्यासत्येन चित्तेन योगो यश्च विधीयते।
उभयः स मनोयोगो विदुषां परिसम्मतः ॥४२॥

नाप्यसत्येन सत्येन मनसा यो विरच्यते।
योगः सोऽनुभयः प्रोक्तो निखिलज्ञजिनेन्दुना ॥४३॥

अर्थ—वह योग मन वचन और कायके भेदसे तीन प्रकारका माना गया है। निश्चयसे उस योगको ही कर्मबन्धका कारणभूत आस्रव जानना चाहिये॥३८॥ सत्य, असत्य, उभय और अनुभय पदार्थोंमें प्रवर्तनेसे मन तथा वचनके चार चार भेद होते हैं अर्थात् सत्यमनोयोग, असत्यमनो-

योग, उभयमनोयोग, अनुभयमनोयोग और सत्यवचनयोग, असत्यवचन योग, उभयवचनयोग अनुभयवचनयोग ।।३९।। सत्य पदार्थका विचार करने वाले मनके द्वारा जो योग होता है वह मुनिसमूहके द्वारा कहा हुआ सत्यमनोयोग है ।।४०।। असत्य पदार्थका विचार करनेवाले मनके द्वारा जो योग प्रवर्तता है उसे मुनिसमूहने असत्यमनोयोग कहा है ।।४१।। सत्यासत्य पदार्थका चिन्तन करने वाले मनके द्वारा जो योग किया जाता है वह विद्वानोंको उभयमनोयोग नामसे इष्ट है ।।४२।। और जो न सत्य न असत्य अर्थात् अनुभय पदार्थका चिन्तन करने वाले मनके द्वारा रचा जाता है उसे सर्वज्ञ जिनचन्द्रने अनुभयमनोयोग कहा है ।

भावार्थ—सत्य, असत्य, उभय और अनुभयके भेदसे पदार्थ चार प्रकारका होता है । जो पदार्थ, अर्थक्रियाकारी है अर्थात् अपना कार्य करनेमें समर्थ है वह सत्य कहलाता है । जैसे जलको जल जानना। जो पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं है अर्थात् अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं है उसे असत्य कहते हैं जैसे मृगमरीचिकाको जल जानना । जो पदार्थ, सत्य और असत्य रूप हो उसे उभय कहते हैं जैसे कमण्डलुको घट जानना । कमण्डलु, जलधारणरूप घटका कार्य करता है इस लिये सत्य है परन्तु आकृतिभेद होनेसे असत्य है । जो पदार्थ, न सत्य हो न असत्य हो उसे अनुभय कहते हैं । जैसे आमन्त्रणी, आज्ञपनी आदि वचनोंके विषयभूत पदार्थ ।

इन सत्यादि चार प्रकारके पदार्थोंका चिन्तन करना चार प्रकारका मनोयोग है ।।४३।।

आगे चार प्रकारके वचनयोगका वर्णन करते हैं—

दशधासत्यभारत्यां जीवानां व्यापृतिस्तु या ।
स सत्यभारतीयोगः सूरिसन्दोहशंसितः ।।४४।।

असत्यभाषणे वाचामुद्यमो यत्र राजते ।
असत्यः स वचोयोगो वाचामीशैर्निरूपितः ।।४५।।

सत्यासत्यस्वरूपाया भाषया यो नाम संचरः ।
उभयोऽसौ वचोयोगो वीरतीर्थकृदीरितः ।।४६।।

न तथ्ये नाप्यतथ्ये वा गिरां यश्च समुद्यमः ।
सोऽनुभयो वचोयोगो जिनचन्द्रनिवेदितः ॥४७॥

अर्थ—जनपदसत्य आदि दश प्रकारके सत्य वचनोंके बोलनेमें जीवोंका जो व्यापार है वह साधुसमूहके द्वारा प्रशंसित सत्यवचनयोग है ॥४४॥ असत्य बोलनेमें वचनोंका जो उद्यम है उसे वचनोंके स्वामी जिनेन्द्र भगवान्‌ने असत्यवचनयोग कहा है ॥४५॥ उभयरूप वचनोंका जो प्रयोग है उसे वीरजिनेश्वरने उभयवचनयोग कहा है ॥४६॥ जो न सत्य न असत्य अर्थात् अनुभयरूप पदार्थके विषयमें वचनोंका उद्यम है वह जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा हुआ अनुभयवचनयोग है ॥४७॥

आगे मनोयोग और वचनयोगका निमित्त कहते हैं—

पूर्णदेहोदयो मूलनिमित्तं चित्तवाचयोः ।
आवरणं भवेन्मूलमसत्योभययोः पुनः ॥४८॥

अर्थ—मनोयोग और वचनयोगका मूल निमित्त पर्याप्ति तथा शरीर-नामकर्मका उदय है और असत्य तथा उभय मनोयोग और वचन योगका निमित्त ज्ञानावरणकर्मका उदय है ॥४८॥

अब केवलीके मनोयोगका सद्भाव बताते हैं—

उपजाति

चेतायुतानां वचसां प्रयोगो
विलोक्यते मानसमूलको हि ।
अतो हृषीकोद्भवबोधहीने
सयोगकैवल्ययुतेऽपि तत्स्यात् ॥४९॥

तत्रापि कारणं ह्येतदङ्गोपाङ्गोदयोत्थितम् ।
द्रव्यं मनो जिनेन्द्रस्य हृत्कासारे विराजते ॥५०॥
प्रफुल्लपङ्कजाकारं तदर्थं वर्गणागमात् ।
कार्याभावेऽपि तेन स्याद्योगस्तस्यापि मानसः ॥५१॥

अर्थ—मन सहित जीवोंका वचनप्रयोग मनोमूलक देखा जाता है इसलिये इन्द्रियजन्यज्ञानसे रहित होनेपर भी सयोगकेवलीके मनोयोग होता है ॥४९॥ और इसका कारण भी यह है कि उनके हृदयरूपी सरोवर

में खिले हुए कमलके आकार द्रव्यमन होता है और उसके लिये मनो-वर्गणाका आगमन जारी रहता है। अतः विचाररूप कार्यका अभाव होने पर भी उनके मनोयोग माना जाता है ॥५०–५१॥

अब औदारिक और औदारिकमिश्र काययोगका वर्णन करते हैं—

तिरश्चां मानवानां च शरीरं स्थूलमुच्यते।
औदारिकं तथौरालिकं वा तत्र समुद्भवः ॥५२॥
औदारिको भवेद्योगः कायिको जिनकीर्तितः।
औदारिकमपूर्णं यत्तन्मिश्रं समुच्यते ॥५३॥
संप्रयुक्तः पुनस्तेनौदारिकमिश्रसंज्ञकः।
काययोगो जिनाधीशैर्दर्शितः परमागमे ॥५४॥

अर्थ—तिर्यञ्च और मनुष्योंका शरीर स्थूल, औदारिक अथवा औरालिक कहलाता है उसमें जो योग होता है वह जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा औदारिककाययोग कहा गया है। वही औदारिक शरीर जब तक अपूर्ण रहता है अर्थात् जबतक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक औदारिकमिश्र कहलाता है। उस समय जो योग होता है उसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने परमागममें औदारिकमिश्रकाययोग कहा है ॥५२–५४॥

आगे वैक्रियक और वैक्रियिकमिश्रकाययोगका कथन करते हैं—

विक्रियायां समुद्भूतो योगो वैक्रियिकाभिधः।
स एवापरिपूर्णः सन् तन्मिश्रो हि निगद्यते ॥५५॥
सुराणां नारकाणां च योगावेतौ निरूपितौ।
मानवानां तिरश्चां च केषांचिद् विक्रिया भवेत् ॥५६॥

अर्थ—जो योग विक्रियामें होता है वह वैक्रियिक नामका काययोग है और जब वह अपरिपूर्ण रहता है तब वैक्रियिकमिश्रकाययोग कहा जाता है ॥५५॥ ये दोनों योग देवों और नारकियोंके कहे गये हैं। किन्हीं मनुष्यों और तिर्यञ्चोंके भी विक्रिया होती है ॥५६॥

आर्या

बादरवह्निसमीरणपञ्चेन्द्रियपूर्णका विकुर्वन्ति।
तत्तेषामपि देहो वैक्रियिकः कीर्त्यते मुनिभिः ॥५७॥

अर्थ—बादरतेजस्कायिक, वायुकायिक और पञ्चेन्द्रियपर्याप्तकजीव विक्रिया करते हैं इसलिये उनका शरीर भी मुनियोंके द्वारा वैक्रियिक कहा जाता है ॥५७॥

अब आहारककाययोगका वर्णन करते हैं—

उपजाति

असंयमध्वान्तविनाशनाय जिनेन्द्रतन्मन्दिरवन्दनाय ।
तपोमुखोन्मङ्गलसंगमाय सन्देहसन्दोहविलोपनाय ॥५८॥
कैवल्ययुक्तद्वयवर्जिते स्वक्षेत्रे परत्रस्थितपूज्यलोके ।
प्रभूतकल्याणकलापके च ह्याहारकाङ्गोदयनेऽपि जाते ॥५९॥

उपेन्द्रवज्रा

यतेः प्रमत्तस्य धृतव्रतस्य शुभोदयस्याश्रिततथ्यवृत्तेः ।
प्रशान्तिपीयूषपयोदधेश्च जितेन्द्रियोद्दाममहाहयालेः ॥६०॥

इन्द्रवज्रा

हस्तप्रमाणं च प्रशस्तजन्म शुक्लं शुभं सुन्दरमूर्तिरम्यम् ।
अव्याहतं युग्मघटीस्थितं च मांसास्थिहीनं किल धातुहीनम्
मूर्धाभिजातं खलु यच्छरीरं संजायते कार्यकलापदक्षम् ।
आहारकाख्यानविशोभितं तत् संशस्यते शस्तविबोधयुक्तैः ॥६२॥

अनुष्टुम्

तेन संपादितः काययोगो ह्याहारकाभिधः ।
स एवापूर्णतां यातो मिश्राख्यः कथितो जिनैः ॥६३॥

अर्थ—असंयमरूपी अन्धकारका नाश करनेके लिये, जिनेन्द्र और जिनेन्द्रमन्दिरोंकी वन्दनाके लिये तपश्चरण आदि उत्कृष्ट मङ्गलोंकी प्राप्तिके लिये, संदेहसमूहका लोप करनेके लिये, अपने क्षेत्रमें केवली तथा श्रुतकेवलीका अभाव होने तथा अन्य क्षेत्रमें पूज्यपुरुषोंके विद्यमान रहनेपर बहुतभारी कल्याणोंके होते हुए तथा आहारकशरीरनामकर्म-का उदय रहते हुए शुभोदयसे सहित, यथार्थवृत्तिका पालन करने वाले, शान्तिसुधाके सागर, इन्द्रियरूपी प्रचण्ड अश्वसमूहको जीतने वाले प्रमत्त-

संयत गुणस्थानवर्ती मुनिके एक हाथ प्रमाण वाला, प्रशस्त उत्पत्तिसे सहित, शुक्ल वर्ण, शुभ, अत्यन्त सुन्दर, अव्याहत–किसीसे नहीं रुकने वाला, अन्तर्मुहूर्ततक स्थिर रहने वाला, मांस तथा हड्डीसे रहित धातुओंसे रहित, मस्तकसे समुत्पन्न तथा कार्यकलापमें दक्ष जो शरीर उत्पन्न होता है वह प्रशस्त ज्ञानी जीवोंके द्वारा आहारकशरीरनामसे सुशोभित कहा जाता है ।।५८–६२।।

इस आहारकशरीरसे जो योग होता है वह आहारककाययोग है। वही आहारककाययोग जब अपूर्णताको प्राप्त होता है तब जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा आहारकमिश्रकाययोग कहा गया है ।।६३।।

आगे कार्मणकाययोगका स्वरूप कहते हैं—

कर्मणाश्च समूहोऽयं कार्मणं ह्यभिधीयते ।
तेन संजायमानः स्याद्योगः कार्मणसंज्ञितः ।।६४।।
केवलिनां समुद्घाते विग्रहार्थगतावपि ।
एकद्विकत्रिकालेषु कार्मणोऽयं प्रवर्तते ।।६५।।

अर्थ—कर्मोंका समूह कार्मण कहलाता है। उसके द्वारा उत्पन्न होनेवाला योग कार्मणकाययोग कहलाता है। यह कार्मणकाययोग केवलिसमुद्घातमें तथा विग्रहगतिमें एक, दो अथवा तीन समयके लिये होता है ।।६४–६५।।

विशेषार्थ—समस्त संसारी जीवोंके विग्रहगतिमें कार्मणकाययोग होता है। उसके पश्चात् मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवके अपर्याप्तक अवस्थामें अन्तर्मुहूर्त तक औदारिकमिश्रकाय योग होता है उसके बाद औदारिककाययोग होता है, जो जीवनभर रहता है। विग्रह-गतिके बाद देव और नरक गतिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके अपर्याप्तक अवस्थामें अन्तमुंहूर्त तक वैक्रियिकमिश्रकाययोग होता है और उसके पश्चात् वैक्रियिककाययोग होता है, जो जीवनपर्यन्त रहता है। प्रमत्त-संयत गुणस्थानवर्ती किन्हीं किन्हीं मुनियोंके तपश्चरणके प्रभावसे आहरकशरीरकी उत्पत्ति होती है। उसकी उत्पत्तिके कार्य ऊपर बताये जा चुके हैं। आहारकशरीर उत्पन्न होनेके पूर्व आहारकमिश्रकाययोग होता है और उसके बाद आहारकशरीर उत्पन्न होनेपर आहारक-काययोग होता है। इन दोनोंका काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। जिन

संयोगकेवली भगवान्‌के तेरहवें गुणस्थानके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें लोक-पूरण समुद्घात होता है उनके दण्डनामक भेदमें औदारिककाययोग, कपाटमें औदारिकमिश्र और प्रतर तथा लोकपूरण भेदमें कार्मण काय-योग होता है। तैजस शरीरके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंमें परिष्पन्द नहीं होता, इसलिए तैजसयोग नहीं माना गया है। चौदहवें गुणस्थानमें कोई योग नहीं होता।

आगे सयोग और अयोग जीवोंकी अवस्थाका वर्णन करते हैं—

सयोगा जन्मकान्तारे प्रकुर्वन्त्यटनं परम्।
योगबाधाबहिर्भूता विजयन्ते त्वयोगिनः ॥६६॥

अर्थ—योग सहित जीव संसाररूपी अटवीमें बहुत भारी भ्रमण करते हैं और योगकी बाधासे रहित अयोगी जिन सदा जयवन्त प्रवर्तते हैं ॥६६॥

इस प्रकार योगमार्गणाका वर्णन पूर्ण हुआ

अब वेदमार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

द्रव्यभावविभेदेन वेदो द्वेधा विभिद्यते।
प्रायेण समः क्वापि विषमश्चापि जायते ॥६७॥
नरस्त्रीक्लीववेदानामुदयादात्ममोहनम्।
यज्जायते स भावेन वेदः सर्वज्ञभाषितः ॥६८॥
नामकर्मोदयाज्जातं यत्तु लक्ष्मविशेषकम्।
द्रव्येणासौ मतो वेदो जिनेन्द्रागमधारिभिः ॥६९॥
वेदकर्मोदये जाते जीवः संमोहवान् भवेत्।
संमोहेन न जानाति गुणं वा दोषसङ्घकम् ॥७०॥

वसन्ततिलका

जीवः स्वयं पुरुगुणान् पुरुभोगिभोगान्
शेते करोति निखिलं पुरुकर्ममान्यम्।
यस्माद् भवेदखिलमानवमाननीय—
स्तस्मादयं पुरुष इत्थमुपस्तुतोऽस्ति ॥७१॥

अनुष्टुप्

मायया छादयत्यात्मानं परं च नरं सदा।
दोषैर्या सा सुधीभिः स्त्री, मता मायानिकेतनम् ॥७२॥
न स्त्री न पुरुषो लोके लिङ्गयुग्मविहीनकः।
नपुंसकः स विख्यातो मदनानलमध्यगः ॥७३॥

उपेन्द्रवंशा

तृणाग्निकारीषशिखीष्टपाकाशुशुक्षणिभ्रातृरतीशबाधाः।
नराश्च नार्यश्च नपुंसकाश्च निरन्तरं दुःखभरं भरन्ति ॥७४॥

आर्या

निजधैर्यखड्गधाराविनिपातितमारदेवभूर्धानः।
मुक्तिस्त्रीवरसंगमनोत्का लोका जयन्ति केऽपीह ॥७५॥

अर्थ—द्रव्य और भावके भेदसे वेद दो प्रकारका है। प्रायः कर ये दोनों वेद समान होते हैं परन्तु कहीं (कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चके) विषम भी होते हैं ॥६७॥ पुंवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद नामक नोकषायके उदयसे आत्मामें जो संमोह उत्पन्न होता है उसे सर्वज्ञ भगवान्ने भाववेद कहा है ॥६८॥ तथा नामकर्मके उदयसे जो चिह्नविशेष उत्पन्न होते हैं उन्हें जिनागमके ज्ञाता पुरुषोंने द्रव्यवेद माना है ॥६९॥ वेदकर्मका उदय होनेपर जीव संमोहसे युक्त होता है और उस संमोहके कारण गुण अथवा दोषसमूहको नहीं जानता है ॥७०॥

जिस कारण जीव स्वयं बहुत गुणों तथा बहुत भारी भोगोंके स्वामित्वको प्राप्त होता है और समस्त प्रशस्त कार्यकलापको करता है इसलिये वह समस्त मनुष्योंके द्वारा माननीय 'पुरुष' ऐसा कहा गया है ॥७१॥ जो मायाके द्वारा अपने आपको तथा अन्य मनुष्योंको दोषोंसे आच्छादित करती है तथा मायाचारका घर है उसे विद्वज्जनोंने स्त्री माना है ॥७२॥ लोकमें जो न स्त्री है न पुरुष है—दोनोंके चिह्नोंसे विहीन है तथा सदा कामाग्निके मध्य रहता है अर्थात् सदा कामाकुलित है वह नपुंसक नामसे प्रसिद्ध है ॥७३॥ जिन्हें तृणाग्नि, कारीषाग्नि और ईंट पकानेके अवाकी अग्निके समान काम बाधा हैं ऐसे पुरुष, स्त्री और नपुंसक निरन्तर दुःखका भार उठाते रहते हैं ॥७४॥ अपने धैर्यरूपी

तलवारकी धारासे जिन्होंने कामदेवका मस्तक गिरा दिया है तथा जो मुक्तिस्त्रीके समागमके लिए उत्कण्ठित हैं ऐसे कोई पुरुष, इस जगत्‌में भी जयवंत प्रवर्तते हैं ॥७५॥

इस प्रकार वेदमार्गणा पूर्ण हुई।

आगे कषायमार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

अथात्मनो हि सम्यक्त्वचारित्रप्रभृतीन् गुणान्।
ये कषन्ति कषायास्तान् निगदन्ति जिनेन्द्रवः ॥७६॥
क्रोधाहंकारमायाभिस्तृष्णया च विभिद्यते।
चतुर्धात्र कषायः स भवकाननवारिदः ॥७७॥

अर्थ—जो आत्माके सम्यक्त्व तथा चारित्र आदि गुणोंको घातते हैं उन्हें जिनचन्द्र कषाय कहते हैं।

भावार्थ—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्वको, अप्रत्याख्यानावरण देश-चारित्रको, प्रत्याख्यानावरण सकलचारित्रको और संज्वलन यथाख्यात चारित्रको घातती है। क्रोध, मान, माया और लोभके द्वारा वह कषाय चार प्रकारकी है। कषाय, संसाररूपी वनको हरा-भरा रखनेके लिए मेघरूप है ॥७६-७७॥

क्रोधकषाय—

क्रोधकर्मोदयाज्जातो रक्तलोचनयुग्मकः।
आत्मप्रशंसनोद्युक्तो वागाटोपविधायकः ॥७८॥
उत्तालतालसंलीनश्चरणस्फालनोद्यतः।
क्रोधोऽवस्थान्तरो जीवस्योच्यते परमात्मभिः ॥७९॥

वसन्ततिलका

क्रोधो भवाब्धिविनिपातनिमित्तमूलं
क्रोधो निगोदनरकादिनिवासहेतुः।
क्रोधः प्रशान्तिविशदेन्दुविधुंतदोऽयं
क्रोधो हि बोधगजराजमृगाधिराजः ॥८०॥

अर्थ—क्रोधकर्मके उदयसे आत्माकी जो अवस्थाविशेष होती है वह परमात्माओंके द्वारा क्रोध कही जाती है। इस क्रोधके समय मनुष्यके

दोनों नेत्र लाल हो जाते हैं। यह मनुष्य आत्मप्रशंसामें उद्यत होता है, वचनोंका आडम्बर करता है, बहुत भारी ताली पीटता है और पैरोंके आस्फालनमें उद्यत रहता है ॥७८–७९॥ क्रोध, संसाररूपी समुद्रमें गिरानेका मूल कारण है। क्रोध, निगोद और नरकादि गतियोंमें निवास-का कारण है। यह क्रोध, शान्तिरूपी निर्मल चन्द्रमाको ग्रसनेके लिये राहु है तथा ज्ञानरूपी गजराजको नष्ट करनेके लिये मृगराज—सिंह है ॥८०॥

मानकषाय—

आत्मानं लोकशृङ्गाग्रमधिरूढमिव स्वयम्।
मन्यमानः पुनर्हीनहीनाद्धीनतमं परम् ॥८१॥
मानकर्मोदयोद्भूतोऽहङ्कारवचनोद्यतः।
अशुद्धो ह्यात्मनो भावो मानो मुनिभिरुच्यते ॥८२॥

उपजाति

हेमाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि
पतत्यधस्तात्पुनरेष जीवः।
निजप्रतापार्जितभूरिभूतिः
पातो नरस्यापि भवत्यधस्तात् ॥८३॥

अर्थ—मानकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ आत्माका वह अशुद्धभाव मुनियोंके द्वारा मान कहा जाता है, जिसमें यह जीव अपने आपको स्वयं लोकशिखरके अग्रभागपर चढ़ा हुआ तथा दूसरेको हीनसे हीन अर्थात् अत्यन्त हीन मानता है। साथ ही अहंकारपूर्ण वचनोंके कहनेमें उद्यत रहता है ॥८१–८२॥ सुमेरुकी शिखरपर चढ़ा हुआ भी यह जीव पुनः नीचे गिरता है। अपने प्रतापसे बहुत भारी विभूतिका उपार्जन करनेवाले मनुष्यका भी नीचे पतन होता है ॥८३॥

मायाकषाय—

मायाकर्मोदयोत्पन्ना कौटिल्याकारधारिणी।
जगत्प्रवञ्चनोद्युक्ता माया मायावि-संमता ॥८४॥

इन्द्रवज्रा

मायाभुजङ्गीसुकुमारकण्ठालिङ्गप्रमोदं . परितः प्रयान्तः ।
आयान्ति मर्त्याः कठिनं परत्र दुःखं परं हन्त चिरं विचित्रम् ।।८५

अर्थ—मायाकर्मके उदयसे उत्पन्न, कुटिलताको धारण करनेवाली, जगत्को ठगनेमें तत्पर तथा मायावी मनुष्योंको इष्ट (आत्माकी अशुद्ध परिणति) माया है ।।८४।। जो मनुष्य मायारूपी सर्पिणीके सुकोमल कण्ठालिङ्गनमें सब ओरसे हर्षको प्राप्त होते हैं, खेद है कि वे परभवमें चिरकाल तक नाना प्रकारके अत्यधिक तीव्र दुःखको प्राप्त होते हैं ।।८४-८५।।

लोभकषाय—

आत्मायत्तां जगद्भूतिं कर्तुमिच्छन्निरन्तरम् ।
लोभकर्मोदयाज्जातो भावो लोभोऽभिधीयते ।।८६।।

वसन्ततिलका

लोभप्रभञ्जनविकम्पितचित्तवृत्ति-
वातोच्चलज्जलधिवल्लभते न लोकः ।
स्थैर्यं क्वचित् प्रभवति स्मररोषदोष-
मात्सर्यमोहनिचयोऽपि च तत्प्रलोभात ।।८७।।

अर्थ—लोभकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ वह भाव लोभ कहलाता है, जो निरन्तर जगत्की विभूतिको अपने अधीन करना चाहता है ।।८६।। लोभरूपी तीव्र आँधीसे जिसकी चित्तवृत्ति अत्यन्त कम्पित हो रही है ऐसा मनुष्य वायुसे उछलते हुए समुद्रके समान कहीं भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होता है। साथ ही उस लोभसे इस मनुष्यके काम, क्रोध, दोष, मात्सर्य तथा मोहका समूह भी उत्पन्न होता है ।।८७।।

आगे क्रोधादि कषायोंके चार चार भेद कहते हैं—

शिलावसुन्धराभेदरजस्तोयविभेदतः ।
श्वभ्रतिर्यङ्नरस्वर्गिसाधनं किल कोपनम् ।।८८।।

शैलास्थिकाष्ठवेत्राणां सन्निभाहङ्कृतिः पुनः ।
श्वभ्रतिर्यङ्नरामर्त्यगतिहेतुश्चतुर्विधा ॥८९॥
वेणूपमूलमेषीयशृङ्गगोमूत्रसंनिभा । ।
क्षुरप्रसदृशी चापि माया श्वभ्रादिसाधिका ॥९०॥

द्रुतविलम्बित

कृमिरथाङ्गशरीरमलोपमामुपगता तुलनां च हरिद्रया ।
नरकमार्गमनुष्यदिवौकसां जनुषि हेतुतमा किल लुब्धता ॥९१॥

अर्थ—शिलाभेद, पृथिवीभेद, रजोभेद और जलभेदके भेदसे क्रोध कषाय चार प्रकारका है और वह क्रमसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगतिका कारण है ॥८८॥ शैल-पाषाण, हड्डी, काष्ठ और वेतके समान-चार प्रकारका माना क्रमसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगतिका कारण है ॥८९॥ बाँसकी जड़, मेंढ़ाके सींग, गोमूत्र और खुरपाके सदृश माया क्रमसे नरकादिगतियोंको प्राप्त करानेवाली है ॥९०॥ कृमिराग, चक्रमल, शरीरमल और हल्दीकी तुलनाको प्राप्त चार प्रकारकी लुब्धता क्रमसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंके जन्ममें निश्चयसे प्रबल हेतु है ॥९१॥

आगे कषायोंके अनन्तानुबन्धी आदि भेद कहते हैं—

यो हिनस्ति निजोद्योगात्सम्यक्त्वं ह्यात्मनो गुणम् ।
स चानन्तानुबन्धीति कषायो वर्णितो जिनैः ॥९२॥
आत्मनो देशचारित्रं हन्ति यो निजवैभवात् ।
अप्रत्याख्यानहन्ता स कषायो विनिगद्यते ॥९३॥
यदीयेन विपाकेन हन्यते साधुसंयमः ।
प्रत्याख्यानावृतिर्ज्ञेया सा मुनीशमुखोदिता ॥९४॥
यथाख्यातं महावृत्तं हन्ति यो हि निरन्तरम् ।
संज्वलनाभिधानः स कषायः परिगीयते ॥९५॥
क्रोधमानमहामायातृष्णाभिर्भेदिता इमे ।
ततो भेदाः कषायाणां सन्ति षोडश वर्णिताः ॥९६॥

१. मृगाणां तिरश्चां समूहो मार्गम् ।

हास्यरत्यरतित्रासजुगुप्साशोकवेदकाः ।
इतीषत्कार्यहेतुत्वान्नोकषाया निरूपिताः ॥९७॥

तत्रैतन्नोकषायाणां मेलने पञ्चविंशतिः ।
कषायाणां विभेदाः स्युर्वर्णिताः परमागमे ॥९८॥

अन्तर्मुहूर्तकं पक्षो मासाः षट्संख्यकास्तथा ।
असंख्येयाश्च संख्येया अनन्ताश्च भवोच्चयाः ॥९९॥

यथाक्रमं कषायाणां क्रोधाद्यानां महर्षिभिः ।
संज्वलनादिभेदानां वासनाकाल उच्यते ॥१००॥

तीव्रा तीव्रतरा मन्दा पुनर्मन्दतरापि च ।
एतेषामुदयावस्था वर्णिताः पूर्वसूरिभिः ॥१०१॥

उपेन्द्रवज्रा

न सोऽस्ति कालो न स भूमिभागो
यत्र स्थितो याति कषाययुक्तः ।
नरः सुखित्वं तु कषायहीनः
सुखं समाप्नोति सदा समन्तात् ॥१०२॥

अर्थ—जो अपने प्रभावसे आत्माके सम्यक्त्व नामक गुणका घात करती है उसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने अनन्तानुबन्धी कषाय कहा है ॥९२॥ जो अपने वैभवसे आत्माके देशचारित्रका घात करती है वह अप्रत्याख्यानावरणी कषाय कहलाती है ॥९३॥ जिसके उदयसे सकलचारित्रका घात होता है वह प्रत्याख्यानावरणी कषाय मुनीन्द्रोंके द्वारा कही गई जानना चाहिये ॥९४॥ जो यथाख्यात नामक उत्कृष्ट चारित्रका घात निरन्तर करती है वह संज्वलन कषाय कही जाती है ॥९५॥ ये चारों कषाय क्रोध मान माया और लोभके भेदसे चार-चार प्रकारकी हैं इसलिये सब कषाय सोलह कही गई हैं ॥९६॥ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये ईषत् कार्यका कारण होनेसे नोकषाय कही गई हैं ॥९७॥ उपर्युक्त सोलह कषायोंमें नोकषायोंके नौ भेद मिलानेसे कषायोंके पच्चीस भेद परमागममें कहे गये हैं ॥९८॥ महर्षियोंने

संज्वलन आदि कषायोंका वासनाकाल क्रमसे एक मुहूर्त, एक पक्ष, छह माह और संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त भव कहे हैं ॥९९–१००॥ इन कषायोंकी उदयावस्था पूर्वाचार्योंने तीव्र, तीव्रतर, मन्द और मन्दतराके भेदसे चार प्रकारकी कही है ॥१०१॥ न वह काल है और न वह भूभाग है जहाँ कषायसे युक्त मनुष्य सुखको प्राप्त होता हो। इसके विपरीत कषाय रहित मनुष्य सदा सब ओर सुखको प्राप्त होता है ॥१०२॥

इस प्रकार कषायमार्गणा पूर्ण हुई।

अब ज्ञानमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

वसन्ततिलका

संसारसिन्धुतरणिस्तरणिः प्रगाढ–
मिथ्यात्वकृष्णरजनीतिमिरापहान्यै ।
योगीशचित्तकुमुदावलिकौमुदीशो
ज्ञानं सदा विजयते जनपूज्यमानम् ॥१०३॥

अर्थ—जो संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये जहाज है, जो अत्यन्त तीव्र मिथ्यात्वरूपी कृष्णरात्रि सम्बन्धी अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्य है, जो मुनिराजोंके हृदयरूपी कुमुदसमूहको विकसित करनेके लिये चन्द्रमा है तथा मनुष्योंके द्वारा पूज्य है ऐसा ज्ञान सदा सर्वोत्कृष्ट जयवंत प्रवर्तता है ॥१०३॥

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमेव च ।
मनःपर्ययबोधश्च केवलज्ञानमेव च ॥१०४॥
इति ज्ञानानि पञ्चैव वर्णितानि जिनागमे ।
तत्राद्ये द्वे परोक्षे स्तः प्रत्यक्षाणीतराणि तु ॥१०५॥
क्षायोपशमिकं ज्ञानमाद्यज्ञानचतुष्टयम् ।
इतरत्केवलज्ञानं क्षायिकं बुधसम्मतम् ॥१०६॥
क्षयोपशमने जाते मतिज्ञानावृतेः पुनः ।
चेतोहृषीकयोगेन दिव्यालोकादिसन्निधौ ॥१०७॥

सर्वद्रव्येष्वसंपूर्णपरिणामेषु केषुचित् ।
जातं यद् ध्यामलं ज्ञानं तन्मतिज्ञानमिष्यते ॥१०८॥

श्रुतज्ञानावृतेर्जाते क्षयोपशमने पुनः ।
किञ्चित्तत्रैव वैशिष्टयमादाय यत्प्रवर्तते ॥१०९॥

विश्रुतं तच्छ्रुतज्ञानं सूरिभूरिप्रशंसितम् ।
एतज्ज्ञानद्वयं नूनं केवलज्ञानशालिनम् ॥११०॥

अन्तराखिलजीवानां तारतम्येन वर्तते ।
अवधिज्ञानरोधस्य क्षयोपशमने सति ॥१११॥

द्रव्यं क्षेत्रं तथा कालंभावं वा परिमाय च ।
रूपस्पर्शादियुक्तेषु द्रव्याणां निचयेषु वै ॥११२॥

हृषीकसङ्घसाहाय्यमन्तरा यत्प्रवर्तते ।
अवधिज्ञानमाख्यातं तच्छ्रुताम्बुधिपारगैः ॥११३॥

मनःपर्ययरोधस्य क्षयोपशमने सति ।
द्रव्यक्षेत्रादिसीमानं प्रविधाय समन्ततः ॥११४॥

रूपाढ्यं पुद्गलद्रव्यं परकीयमनःस्थितम् ।
यद् विजानाति तज्ज्ञेयं ज्ञानं मानसपर्ययः ॥११५॥

अवधिज्ञानतोऽद्रव्यानन्त्यभागेषु रूपिषु ।
विनेन्द्रियादिसाहाय्यमेतज्ज्ञानं प्रवर्तते ॥११६॥

केवलज्ञानराकेन्दुसैंहिकेयपरिक्षये ।
समं सर्वाणि द्रव्याणि भासन्ते यत्र सन्ततम् ॥११७॥

न्यक्कृतादित्यकोट्यालोकं लोकावभासकम् ।
केवलं तन्महाज्ञानं ज्ञातव्यं मोक्षसाधनम् ॥११८॥

न तत् द्रव्यं न तद् क्षेत्रं न कालो न स भावकः ।
यत्र केवलबोधस्य जायते न गतिः शुभा ॥११९॥

मतिश्रुतावधिज्ञानत्रितयं जायते क्वचित् ।
मिथ्यात्वदैत्यसंसर्गादहो मिथ्यात्वदूषितम् ॥१२०॥
मिश्रमोहस्य संसर्गात् क्वचिन्मिश्राभिधानकम् ।
ज्ञानं भवेद् भवावर्तवर्तिनां भविनां क्वचित् ॥१२१॥
मतिज्ञानादिवैशिष्ट्यं सम्यग्ज्ञानस्य वर्णने ।
गदिष्यामो यथाग्रन्थमिह किञ्चित्प्रदर्शितम् ॥१२२॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच ही ज्ञान जिनागममें कहे गये हैं। इनमें आदिके दो ज्ञान परोक्ष हैं और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं ॥१०४–१०५॥ आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक जानना चाहिये और केवलज्ञान विद्वानोंके द्वारा क्षायिकज्ञान माना गया है ॥१०६॥ मतिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर उत्तम प्रकाश आदिका सन्निधान रहते हुए मन और इन्द्रियोंके योगसे समस्त द्रव्यों तथा उनकी कुछ पर्यायोंमें जो अविशद ज्ञान होता है वह मतिज्ञान माना जाता है ॥१०७–१०८॥ श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम हो जानेपर उसी मतिज्ञानमें कुछ विशेषता लेकर जो प्रवृत्त होता है वह श्रुतज्ञान इस नामसे प्रसिद्ध है। यह श्रुतज्ञान आचार्योंके द्वारा अत्यधिक प्रशंसित है। मति और श्रुत ये दो ज्ञान नियमसे केवलज्ञानीको छोड़कर संसारके समस्त प्राणियोंके हीनाधिक भावसे रहते हैं। अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर द्रव्य क्षेत्र काल और भावका परिणाम कर रूप तथा स्पर्शादि गुणोंसे युक्त द्रव्यों अर्थात् पुद्गल और उससे संबद्ध संसारी जीवोंमें इन्द्रियसमूहकी सहायताके बिना ही जो प्रवर्तता है वह शास्त्रसमुद्रके पारगामी-मुनियोंके द्वारा अवधिज्ञान कहा गया है ॥१०९–११३॥ मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर सब ओरसे द्रव्य क्षेत्र आदिकी सीमा कर दूसरेके मनमें स्थित रूपी—पुद्गल द्रव्यको जो जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान जानना चाहिये ॥११४–११५॥ अवधिज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यके अनन्तवें भागमें यह ज्ञान इन्द्रियादिकी सहायताके बिना प्रवृत्त होता है। तात्पर्य यह है कि यह ज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा अवधिज्ञानके द्वारा जाने हुए द्रव्यके अनन्तवें-सूक्ष्मभागको जान लेता है ॥११६॥ और केवलज्ञानरूपी पूर्णिमाके चन्द्रको ग्रसनेके लिये राहु अर्थात् केवलज्ञानावरणका क्षय हो जानेपर समस्त द्रव्य जिसमें एक साथ निरन्तर प्रतिभासित होते हैं। जिसने करोड़ों सूर्योंके प्रकाशको

तिरस्कृत कर दिया है, जो समस्त लोकको जाननेवाला है और मोक्षका साधन है उसे केवल नामक महाज्ञान जानना चाहिये ॥११७-११८॥ न वह द्रव्य है, न वह क्षेत्र है, न वह काल है और न वह भाव है जिसमें केवलज्ञानकी शुभ गति नहीं है। भावार्थ यह है कि केवलज्ञान, द्रव्य, क्षेत्र-काल और भावकी सीमासे रहित होकर लोकालोकवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायोंको एक साथ जानता है ॥११९॥ आश्चर्य है कि मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान, किसी जीवमें मिथ्यात्वरूपी दैत्यके संसर्गसे मिथ्यात्वदूषित अर्थात् मिथ्याज्ञान हो जाते हैं और संसार-रूपी भँवरमें रहनेवाले जीवोंमें किन्हीं जीवों—मिश्रगुणस्थानवर्ती जीवोंके मिश्रमोहनीयके उदयसे मिश्र ज्ञान कहलाते हैं ॥१२०-१२१॥ मतिज्ञानादिकी विशिष्टता सम्यग्ज्ञानके वर्णनमें आगमानुसार आगे कहेंगे। यहाँ कुछ ही—संक्षिप्त निरूपण किया हैं ॥१२२॥

इस प्रकार ज्ञानमार्गणा पूर्ण हुई।

अब संयममार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते है—

स्रोतःसंघकषायाणां निग्रहो दण्डदण्डनम्।
व्रतानां समितीनां च पालनं संयमो मतः ॥१२३॥

संयमश्च भवेन्नूनं स्थूलसंज्वलनोदये।
सूक्ष्मोदये च मोहस्य शमनक्षययोः सतोः ॥१२४॥

अर्थ—इन्द्रियसमूह तथा कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन, कायके व्यापाररूप दण्डको दण्डित करना—रोकना, तथा व्रतों और समितियोंका पालन करना संयम माना गया है ॥१२३॥ यह संयम नियमसे बादरसंज्वलनका उदय होनेपर, सूक्ष्मसंज्वलनका उदय होनेपर और मोहनीय कर्मका उपशम तथा क्षय हो जानेपर होता है। भावार्थ—संयम, छठवें गुणस्थानसे होता है। छठवेंसे नौवें गुणस्थान तक बादर-संज्वलन कषायका उदय रहता है और दशम गुणस्थानमें सूक्ष्म-संज्वलनका होता है साथ ही प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम होता है। इस क्षयोपशमरूप अन्तरङ्ग कारणसे इन गुणस्थानोंमें संयम होता है। उपशमश्रेणीवाला, चारित्रमोहका उपशम कर ग्यारहवें गुण-स्थानमें पहुँचता है इसलिये उसके औपशमिक चारित्र होता है और

क्षपकश्रेणीवाला चारित्रमोहका क्षय कर बारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है। इसलिए उसे आदि लेकर चौदहवें गुणस्थान तक और उसके अनन्तर सिद्धपर्यायमें भी क्षायिक चारित्र होता है ॥१२४॥

सामायिकं च छेदोपस्थापना परिहारकः।
सूक्ष्मस्तथा यथाख्यातं पञ्चैते संयमाः स्मृताः ॥१२५॥
परिहारविशुद्धिश्च छेदोपस्थापना तथा।
सामायिकं च चारित्रं स्थूलसंज्वलनोदये ॥१२६॥
जायन्ते, परिहारो हि प्रमत्तेतरयोस्ततः।
शिष्टद्वयं प्रमत्ताद्यनिवृत्यन्तेषु धामसु ॥१२७॥
संज्वलनकषायीयसूक्ष्मोदयसमुद्भवः।
संयमः सूक्ष्मको ज्ञेयो दशमे गुणधामनि ॥१२८॥
यथाख्यातं तु चारित्रं शान्तमोहादिषु स्मृतम्।
अप्रत्याख्यानरोषाद्यनुदयाद्देशसंयमः ॥१२९॥
जायते पञ्चमे स्थाने देशसंयतसंज्ञिते।
संयतासंयतो जीवो युगपद्यत्र कीर्त्यते ॥१३०॥
अप्रत्याख्यानसंरोधकषायोदयनोत्थितः।
असंयमो भवेत्तु सामाद्यस्थानचतुष्टये ॥१३१॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये पाँच संयम माने गये हैं ॥१२५॥ इनमेंसे सामायिक छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि ये तीन चारित्र बादरसंज्वलनके उदयमें होते हैं। परिहारविशुद्धि संयम प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन दो गुणस्थानोंमें होता है और सामायिक तथा छेदोपस्थापना प्रमत्त-संयतसे लेकर अनिवृत्तिकरण तक अर्थात् छठवेंसे नौवें गुणस्थान तक होते हैं ॥१२६–१२७॥ संज्वलनकषायके सूक्ष्म उदयमें होनेवाला सूक्ष्म-सांपरायचारित्र दशम गुणस्थानमें जानना चाहिये ॥१२८॥ यथाख्यात चारित्र, उपशान्तमोह आदि गुणस्थानोंमें माना गया है। अप्रत्याख्याना-वरणक्रोधादिके अनुदयमें होनेवाला देशसंयम, देशसंयत नामक पञ्चम गुणस्थानमें होता है जहाँ यह जीव एक साथ संयतासंयत कहा जाता

है अर्थात् त्रसहिंसाका त्यागी होनेसे संयत और स्थावरहिंसाका त्यागी न होनेसे असंयत कहलाता है ॥१२९-१३०॥ अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें होनेवाला असंयम जीवोंके प्रारम्भिक चार गुणस्थानोंमें होता है ॥१३१॥

आगे सामायिक आदि संयमोंके लक्षण कहते हैं—

सर्वसावद्यकार्याणां त्यागो यत्र विधीयते ।
लोकोत्तरः स सामायिकसंयम उदाहृतः ॥१३२॥
पूर्वपर्यायमुच्छिद्य स्वकीयस्थापना पुनः ।
प्रायश्चित्तादिना धर्मे छेदोपस्थापना हि सा ॥१३३॥
परिहारेण सत्त्वं स्याद्विशुद्धिर्यत्र संयते ।
परिहारविशुद्धिः स संयमो यमिसंयतः ॥१३४॥
त्रिगुप्तिमण्डनः पञ्चसमितिव्रतशोभनः ।
त्रिंशद्वर्षेषु यातेषु यातेषु सुखमुत्पत्तिकालतः ॥१३५॥
यावत्पृथक्त्ववर्षाणि तीर्थेशाङ्घ्रिपयोजयोः ।
प्रत्याख्यानानुवादस्य ह्यध्येता भक्तिसंयुतः ॥१३६॥
संध्याकालत्रयं मुक्त्वा गव्यूतियुगसंचरः ।
नित्यं विहरमाणोऽपि जीवानां निकुरम्बके ॥१३७॥
जीवानां घातको न स्यात्परिहारर्द्धिसंयुतः ।
यत्र लोभो भवेद् भिक्षोः संयमेन समं मनाक् ॥१३८॥
स सूक्ष्मसाम्परायः स्यात्संयमो जिनसम्मतः ।
क्षीणे वा ह्युपशान्ते वा मोहनीयाख्यकर्मणि ॥१३९॥
आत्मस्वरूपलब्धिर्या सा यथाख्यातसंयतिः ।
कथ्यते मुक्तिकान्तायाः साक्षात्संगमकारिणी ॥१४०॥

इन्द्रवज्रा

हिंसानृतस्तेयकुशीलसङ्गपापावलीभ्योऽल्पतया विमुक्ताः ।
युक्ताः पुनः सप्तसुशीलभावैर्देशव्रतास्तथ्यदृशा युताः स्युः ॥१४१

षट्कायजीवहिंसायां तत्परा भुवि ये नराः ।
अक्षचेष्टासमुद्युक्तास्त उक्ताः संयतेतरा ॥१४२॥

अर्थ—जिसमें समस्त पापकार्योंका त्याग किया जाता है वह श्रेष्ठ सामायिक संयम कहा गया है ॥१३२॥ पूर्वकी सदोष पर्यायको छोड़कर प्रायश्चित्तादिके द्वारा अपने आपको पुनः संयममें स्थापित करना छेदोपस्थापना है ॥१३३॥ जिसमें साधुके परिहारके साथ साथ एक विशिष्ट प्रकारकी शुद्धि होती है वह परिहारविशुद्धि संयम है। यह संयम मुनिको अत्यन्त प्रिय होता है ॥१३४॥ जो तीन गुप्तियोंसे अलंकृत है, पञ्चसमितियों और पञ्चमहाव्रतोंसे सुशोभित है, जन्मसे लेकर तीस वर्ष सुखसे व्यतीत होनेपर जिसने तीर्थंकरके चरण कमलोंमें रहकर पृथक्त्ववर्ष तक प्रत्याख्यान पूर्वका अध्ययन किया है, जो जिनभक्तिसे सहित है, तीन संध्याकालोंको छोड़कर प्रतिदिन दो कोश गमन करता है और जीवसमूहपर विहार करनेपर भी जीवोंका घात करनेवाला नहीं होता है वह परिहारविशुद्धि संयमसे सहित होता है। जहाँ साधुके संयमके साथ अत्यन्त सूक्ष्म लोभ रह जाता है वह जिनसंमत सूक्ष्मसाम्पराय नामका संयम है। मोहनीय कर्मके उपशान्त अथवा क्षीण हो जानेपर जो आत्मस्वरूपकी उपलब्धि होती है वह मुक्तिकान्ताका साक्षात् संगम करानेवाला यथाख्यात संयम कहलाता है ॥१३५-१४०॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापोंके समूहसे जो एकदेश रहित हैं, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन सात शीलोंसे सहित हैं तथा सम्यग्दर्शनसे सहित हैं वे देशव्रतके धारक हैं ॥१४१॥ पृथिवीपर जो षट्कायिक जीवोंकी हिंसामें तत्पर हैं तथा इन्द्रियोंके व्यापारमें समासक्त हैं वे असंयमी कहे गये हैं ॥१४२॥

इस प्रकार संयममार्गणा पूर्ण हुई।

आगे दर्शनमार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

ग्रहणं सर्वभावानां सामान्यं निर्विकल्पकम् ।
सत्तामात्रपरिग्राहि दर्शनं जिनदर्शितम् ॥१४३॥

चक्षुर्गोचरभूतस्य भावजातस्य दर्शनम् ।
जातं यज्ज्ञानतः पूर्वं तदुक्तं नेत्रदर्शनम् ॥१४४॥

शेषेन्द्रियप्रकाशो यो ज्ञानात्पूर्वं प्रजायते ।
अचक्षुर्दर्शनं प्रोक्तं तत्सर्वज्ञजिनेन्दुना ।।१४५।।
अवधिज्ञानतः पूर्वं यत्सामान्यविलोकनम् ।
अवधिदर्शनं तत्स्यादनक्षोद्योगसंगतम् ।।१४६।।
सार्धं केवलबोधेन जातं सर्वातिगं परम् ।
केवलदर्शनं ज्ञेयं शाश्वतञ्चात्मसंभवम् ।।१४७।।
ज्ञानं छद्मस्थजीवानां मतं दर्शनपूर्वकम् ।
सर्वज्ञस्य जिनेन्द्रस्य जायते तु समं द्वयम् ।।१४८।।

अर्थ—समस्त पदार्थोंको विकल्परहित, सामान्यरूपसे ग्रहण करना दर्शन है। यह दर्शन पदार्थोंकी सत्ता मात्रको ग्रहण करता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है ।।१४३।। चक्षुरिन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंका ज्ञानके पूर्व जो दर्शन (सामान्यावलोकन) होता है वह चक्षुदर्शन कहा गया है ।।१४४।। चक्षुरिन्द्रियके सिवाय शेष इन्द्रियोंका जो प्रकाश उनके ज्ञानके पूर्व होता है उसे सर्वज्ञ जिनचन्द्रने अचक्षुर्दर्शन कहा है ।।१४५।। अवधिज्ञानके पूर्व जो पदार्थोंका इन्द्रियव्यापारसे रहित सामान्य अवलोकन होता है वह अवधिदर्शन है ।।१४६।। और केवलज्ञानके साथ जो पदार्थोंका सर्वातिशायी दर्शन होता है उसे केवलदर्शन जानना चाहिये। यह केवलदर्शन शाश्वत है अर्थात् होकर कभी नष्ट नहीं होता तथा आत्मासे ही उत्पन्न होता है ।।१४७।। छद्मस्थ जीवोंका ज्ञान, दर्शन पूर्वक होता है और सर्वज्ञ जिनेन्द्रका ज्ञान तथा दर्शन—दोनों साथ ही प्रकट होते हैं ।।१४८।।

इस प्रकार दर्शनमार्गणा पूर्ण हुई ।

अब लेश्यामार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

लेश्याका लक्षण—

आत्मानं कर्मपुञ्जेन पुण्यपापात्मना नरः ।
यया लिम्पति लेश्या सा लक्षिता परमात्मना ।।१४९।।
लेश्या योगप्रवृत्तिः स्यात्कषायोदयरञ्जिता ।
कुर्वाणा कर्मणां बन्धचतुष्कं चेति दर्शितम् ।।१५०।।

अर्थ—जिसके द्वारा यह मनुष्य अपने आपको पुण्य-पापरूप कर्म-समूहसे लिप्त करता है। उसे परमात्माने लेश्या कहा है। यह लेश्याका निरुक्त अर्थ है। वाच्यार्थ इस प्रकार है। कषायके उदयसे अनुरञ्जित योगोंकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। यह लेश्या कर्मोंके चतुर्विध बन्धको करनेवाली है ऐसा कहा गया है ॥१४९-१५०॥

लेश्या—

कृष्णनील्याभकापोततेजःपद्मवलक्षिताः ।
विभिन्ना द्रव्यभावाभ्यामिति लेश्याः षडीरिताः ॥१५१॥

अर्थ—मूलमें लेश्या, द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो भेद वाली है। पश्चात् दोनोंके कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल ये छह भेद कहे गये हैं।॥१५१॥

द्रव्यलेश्या—

वर्णोदयेन संजाता याः कलेवरकान्तयः ।
षोढा ता द्रव्यतो भिन्ना लेश्याः कृष्णादयो मताः ॥१५२॥
भृङ्गनीलकपोतस्वर्णाब्जकम्बुमनोहराः ।
भवन्ति वर्णतो लेश्या बहुभेदविशोभिताः ॥१५३॥

अर्थ—वर्णनामकर्मके उदयसे शरीरकी जो कान्तियाँ होती हैं वे कृष्णादिके भेदसे छह प्रकारकी द्रव्यलेश्याएँ मानी गई हैं।।१५२।। वे द्रव्यलेश्याएँ वर्णकी अपेक्षा क्रमसे भ्रमर, नील, कपोत, स्वर्ण, कमल और शङ्खके समान मनोहर हैं तथा अवान्तर बहुत भेदोंसे सहित है ॥१५३॥

भावलेश्या—

तारतम्यं च भावानां कषायोदयनोत्थितम् ।
उपचारसमालब्धकृष्णनीलादिसंज्ञिताः ॥१५४॥
संस्मृता भावतो लेश्याः कर्मबन्धनहेतवः ।
अथासां बाह्यविज्ञानं चेष्टाजातं प्रवक्ष्यते ॥१५५॥

अर्थ—कषायके उदयसे उत्पन्न भावोंका जो तारतम्य है वह भाव-लेश्या है। ये भावलेश्याएँ उपचारसे कृष्ण, नील आदि संज्ञाओंको प्राप्त हैं

तथा कर्मबन्धकी कारण हैं। अब इन लेश्याओंके चेष्टासे उत्पन्न बाह्य चिह्न कहे जाते हैं ॥१५५॥

कृष्णलेश्यावालेकी पहिचान—

चण्डो भण्डनशीलश्च दुष्टो धर्मदयोज्झितः ।
अवशो वैरसंयुक्तः कृष्णलेश्याश्रितो भवेत् ॥१५६॥

अर्थ—जो अत्यन्त क्रोधी हो, बकनेवाला हो, दुष्ट हो, दयाधर्मसे रहित हो, किसीके वशमें न आनेवाला हो और वैरसे संयुक्त हो वह कृष्ण लेश्या वाला है ॥१५६॥

नीललेश्यावालेका लक्षण—

मानी मायी तथालस्यो भेद्यो विषयलम्पटः ।
मन्दो बुद्धिविहीनश्च विज्ञानाभावसंयुतः ॥१५७॥
निद्रावञ्चनसंसक्तस्तीव्रसंज्ञो धनादिषु ।
भणितं लक्षणं ह्येतन्नीललेश्यावतो जिनैः ॥१५८॥

अर्थ—जो मानी हो, मायावी हो, आलसी हो, चाहे जिसके चक्रमें आ जानेवाला हो, विषय लम्पट हो, मन्द हो, बुद्धिहीन हो, विशिष्ट ज्ञानसे रहित हो, निद्रा और प्रतारणा—दूसरोंके ठगनेमें आसक्त हो और धनादिककी तीव्र लालसा रखता हो वह नीललेश्यावाला है। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌ने नील लेश्यावालेका लक्षण कहा है ॥१५७-१५८॥

कापोत लेश्यावालेका लक्षण—

रुष्यति निन्दति स्वैरं बहुशो दुष्यतीतरम् ।
आत्मप्रशंसनोद्युक्तः शोकभीतिवशंगतः ॥१५९॥
मन्यमानः परं लोकमात्मानमिव वञ्चकम् ।
न च प्रत्येति, नो वेत्ति हानिवृद्धी ददाति च ॥१६०॥
स्तूयमानो धनं भूरि मृत्युं प्रार्थयते रणे ।
कर्त्तव्यं चाप्यकर्त्तव्यं नैव जानाति जातुचित् ॥१६१॥
यो लोके स भवेन्मर्त्यो युक्तः कापोतलेश्यया ।
अथाग्रे पीतलेश्याया लक्षणं विनिवेद्यते ॥१६२॥

अर्थ—जो स्वेच्छापूर्वक अनेक बार दूसरेसे रोष करता है, उसकी निन्दा करता है, उसे दोष लगाता है, अपनी प्रशंसा करनेमें उद्यत रहता है, शोक और भयके वशीभूत रहता है, अपने ही समान दूसरेको ठग मानता हुआ उसका विश्वास नहीं करता है, हानि-वृद्धिको नहीं समझता है, स्तुति किये जानेपर बहुत भारी धन देता है, रणमें मरणकी इच्छा करता है और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको कभी नहीं जानता है वह मनुष्य लोक-में कापोतलेश्यासे युक्त होता है। अब आगे पीतलेश्याका लक्षण कहा जाता है ॥१५९-१६२॥

पीतलेश्यावालेका लक्षण—

कार्याकार्ये विजानाति सेव्यासेव्ये च पश्यति ।
दयादानरतो नम्रः पीतलेश्यायुतो जनः ॥१६३॥

अर्थ—जो कार्य अकार्यको जानता है, सेव्य असेव्यको समझता है, दया दानमें तत्पर रहता है और प्रकृतिका नम्र होता है वह मनुष्य पीत लेश्यासे युक्त होता है ॥१६३॥

पद्मलेश्यावालेका लक्षण—

त्यागी भद्रः सुकर्तव्यः क्षमाढ्यः पूज्यपूजकः ।
संसारसुखनिर्विण्णस्तथ्यतत्त्वगवेषकः ॥१६४॥
जिनेन्द्रपादपङ्कजे भृङ्गः स्वात्महितोद्यतः ।
लोको भवति लोकेऽस्मिन् पद्मलेश्याविभूषितः ॥१६५॥

अर्थ—जो दानी हो, भद्र परिणामी हो, उत्तम काम करनेवाला हो, क्षमावान् हो, पूज्य जनोंका पूजक हो, संसारके सुखसे विरक्त हो, सत्य-तत्त्वका अन्वेषक हो, जिनेन्द्र भगवान्के चरण कमलोंका भ्रमर हो, और स्वात्महितमें उद्यत रहता हो ऐसा मनुष्य इस लोकमें पद्मलेश्यासे विभू-षित होता है ।।१६४-१६५॥

शुक्ललेश्यावालेका लक्षण—

वंशस्थवृत्त

न पक्षपातं विदधाति कस्यचित्
न यो निदानं कुरुते च जातुचित् ।
न रागद्वेषोपहतश्च यो भवेत्
स शुक्ललेश्यासहितो जनो भवेत् ॥१६६॥

अर्थ—जो मनुष्य न किसीका पक्षपात करता है, न कभी निदान करता है और न राग-द्वेषसे उपहृत होता है वह शुक्ललेश्यासे सहित होता है ॥१६६॥

आगे गुणस्थानोंमें लेश्याओंका विभाग कहते हैं—

यावत्तुर्यगुणस्थानं लेश्याषट्कं निरूप्यते ।
अप्रमत्तं ततो यावच्छुभलेश्यात्रयी मता ॥१६७॥

ततो लेश्या स्मृता शुक्ला निर्लेश्यो योगवर्जितः ।
येषां क्रोधादयो जाताः खरशृङ्गयुगोपमाः ॥१६८॥

भूतपूर्वगतिन्यायात्तेषां लेश्या समुच्यते ।
अथवा योगजातस्य मुख्यत्वान्न विरुध्यते ॥१६९॥

चिरं सीदन्ति संसारसागरावर्तवर्तिनः ।
युक्ता लेश्याकलापेन कुर्वाणाः कर्मसंचयम् ॥१७०॥

अर्थ—प्रारम्भसे चतुर्थ गुणस्थान तक छहों लेश्याएँ कही जाती हैं, उसके आगे अप्रमत्तसंयत—सातवें गुणस्थान तक तीन शुभलेश्याएँ—पीत, पद्म और शुक्ल मानी गई हैं। उसके आगे शुक्ललेश्या है परन्तु अयोग केवली लेश्यासे रहित हैं। जिनके क्रोधादि कषाय खरशृंगके समान अभावरूप हैं ऐसे ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तकके जीवोंके भूतपूर्वगतिन्यायसे लेश्या कही जाती है अथवा योगकी मुख्यतासे, विरोध नहीं है। भावार्थ—कषायसे अनुरञ्जित योगोंकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं, अतः प्रारंभसे लेकर दशम गुणस्थान तक कषायका सद्भाव रहनेसे लेश्याका लक्षण अच्छी तरह घटित होता है परन्तु ग्यारहवें गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मात्र योगोंकी प्रवृत्ति है अतः लेश्याका लक्षण घटित नहीं होता। यहाँ आचार्यने भूतपूर्वप्रज्ञापननयसे मात्र योगप्रवृत्तिको कषायानुरञ्जित मानकर लेश्याका लक्षण घटित किया है। अथवा योगप्रवृत्तिको मुख्य मानकर लेश्याका सद्भाव स्वीकृत किया है ॥१६७–१६९॥ जो जीव लेश्याओंके समूहमें युक्त हैं वे संसार-सागरकी भँवरमें पड़े तथा कर्मोंका संचय करते हुए चिरकाल तक दुखी रहते हैं ॥१७०॥

आगे लेश्यारहित जीवोंकी स्तुति करते हैं—

उपजाति

कृष्णादिलेश्यारहिता भवाब्धि-
विनिर्गताः सिद्धिपुरं प्रयाताः ।
निरन्तसौख्यामृतसारसिक्ताः
स्वात्मस्थितास्ते सुजना जयन्ति ॥१७१॥

अर्थ—जो कृष्णादि लेश्याओंसे रहित हैं, संसाररूपी सागरसे बाहर निकल चुके हैं, मुक्तिनगरको प्राप्त हैं, अनन्तसुखरूप अमृतके सारसे सिक्त हैं तथा स्वकीय आत्मामें स्थित हैं ऐसे मुक्त जीव जयवंत प्रवर्तते हैं ॥१७१॥

इस प्रकार लेश्यामार्गणा पूर्ण हुई।

आगे भव्यत्वमार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

सम्यक्त्वप्रमुखैर्भावैर्ये भविष्यन्ति जन्तवः ।
स्वर्णोपला इव प्रोक्ता भव्या भगवता हि ते ॥१७२॥
व्यक्ता नैव भविष्यन्ति भावाः संदर्शनादयः ।
येषां ते ह्यन्धपाषाणसदृशोऽभव्यसंज्ञिताः ॥१७३॥
भव्याभव्यत्वभावाभ्यां बहिर्याता शिवेश्वराः ।
सज्ज्ञानचन्द्रिकापूरैर्भ्राजमाना जयन्ति वै ॥१७४॥

अर्थ—जो जीव सम्यग्दर्शन आदि भावोंसे युक्त होंगे वे भगवान्—जिनेन्द्रदेवके द्वारा स्वर्णपाषाणके समान भव्य कहे गये हैं ॥१७२॥ और जिनके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट नहीं होंगे वे अन्धपाषाणके समान अभव्य कहे गये हैं ॥१७३॥ जो भव्य और अभव्य भावसे बहिर्भूत हैं तथा सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रिकासे शोभायमान हैं वे सिद्ध भगवान् निश्चयसे जयवंत प्रवर्तते हैं ॥१७४॥

यह भव्यत्वमार्गणा पूर्ण हुई।

आगे सम्यक्त्वमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका निरूपण करते हैं—

सम्यक्त्वका लक्षण—

जिनचन्द्रोपदिष्टानां जीवाजीवादिसंज्ञिनाम् ।
तत्त्वानां सप्तसंख्यानां श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते ॥१७५॥

अर्थ—जिनचन्द्रके द्वारा कहे हुए जीवाजीवादि सात तत्त्वोंकी श्रद्धा करना सम्यक्त्व कहलाता है ॥१७५॥

सम्यक्त्वके भेद—

दर्शनमोहनीयस्यानचतुष्कविराजिनः ।
क्षये तत्क्षायिकं प्रोक्तं शमे चोपशमोद्भवम् ॥१७६॥
क्षयोपशमने जाते क्षायोपशमिकं भवेत् ।
सम्यक्त्वत्रितयं ह्येतद् वर्णितं परमागमे ॥१७७॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धीकी चौकड़ीसे सहित दर्शनमोहनीयके क्षयसे क्षायिक, उपशमसे औपशमिक और क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है । परमागममें सम्यक्त्वके ये तीन भेद कहे गये हैं ॥१७६–१७७॥

आगे क्षायिकसम्यक्त्वकी महिमा कहते हैं—

अनेककल्पकालानां शते याते न विक्रियाम् ।
क्षायिकं याति सम्यक्त्वं सुवर्णाचलसन्निभम् ॥१७८॥
क्षये दर्शनमोहस्य श्रद्धाभूषाविभूषितः ।
नातिक्राम्यति जीवोऽयं तुरीयं जातुचिद् भवम् ॥१७९॥
कर्मभूमिसमुद्भूतो नरो दर्शनमोहनम् ।
हन्तुं प्रारभते नूनं केवलिद्विकसन्निधौ ॥१८०॥
निष्ठापना तु सर्वत्र सर्वदा तस्य जायते ।
साद्यनन्तमिदं प्रोक्तं दर्शनं वरदर्शनैः ॥१८१॥

अर्थ—सुमेरु पर्वतके समान क्षायिकसम्यग्दर्शन, अनेक कल्पकालोंके शतक बीत जानेपर भी विकारको प्राप्त नहीं होता है ॥१७८॥ दर्शन-मोहका क्षय हो जानेपर श्रद्धारूपी आभूषणसे विभूषित यह जीव, कभी भी चतुर्थ भवका उल्लंघन नहीं करता है अर्थात् चतुर्थ भवमें नियमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥१७९॥ कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ मनुष्य ही केवलिद्विकके सन्निधानमें दर्शनमोहनीयका क्षय करना प्रारम्भ करता है परन्तु उसकी निष्ठापना सब गतियाँ सदा हो सकती है । इस क्षायिक-सम्यग्दर्शनको उत्कृष्ट सम्यक्त्वके धारक जिनेन्द्र भगवान्‌ने सादि अनन्त कहा है ॥१८०–१८१॥

औपशमिकसम्यक्त्वकी विशेषता—

दर्शनमोहनीयस्योपशमे जायते तु यत् ।
प्रसन्नपङ्कपानीयवद्भवेत्क्षणिकं हि तत् ॥१८२॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम होनेपर होता है वह औपशमिकसम्यग्दर्शन कहलाता है। वह सम्यग्दर्शन ऊपरसे स्वच्छ किन्तु भीतर कीचसे युक्त पानीकी स्वच्छताके समान क्षणिक होता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्तमें नियमसे नष्ट हो जाता है ॥१८२॥

वेदक सम्यक्त्वकी विशेषता—

सम्यक्त्वमोहनीयस्योदये दोषविदूषितम् ।
वेदकं हन्त सम्यक्त्वं भविनां भवति ध्रुवम् ॥१८३॥

अर्थ—खेद है कि जीवोंका वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्वमोहनीयके उदयमें चल, मल और अगाढ़ दोषसे निश्चित ही दूषित होता है॥१८३॥

सासादनसम्यग्दृष्टिका लक्षण—

सम्यक्त्वशैलतो भ्रष्टो जीवो मिथ्यात्वभूतलम् ।
यावत्प्राप्तो न स प्रोक्तस्तावत्सासनदर्शनः ॥१८४॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनरूपी पर्वतसे भ्रष्ट हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व-रूपी भूतलपर नहीं आता है तब तक वह सासादनसम्यग्दृष्टि कहा गया है ॥१८४॥

मिश्र और मिथ्यादृष्टिका लक्षण—

मिश्रमोहोदये यस्य तत्त्वानां निकुरम्बके ।
श्रद्धाऽश्रद्धोभयाकारं पृथक्कर्तुमनीश्वरः ॥१८५॥
परिणामो भवेत्स स्यान्मिश्रसंज्ञाविभूषितः ।
मिथ्यात्वमोहनीयस्योदयं यातो हि यो जनः ॥१८६॥
जिनेन्द्रचन्द्रनिर्दिष्टं तत्त्वजातं न जातुचित् ।
प्रत्येति स च विज्ञेयो जीवो मिथ्यात्वसंयुतः ॥१८७॥

अर्थ—मिश्र (सम्यङ्मिथ्यात्व) मोहनीयके उदयमें जिस जीवका परिणाम तत्त्वसमूहके विषयमें श्रद्धा और अश्रद्धाके संमिलित आकारको

पृथक् करनेमें असमर्थ रहता है वह मिश्रसंज्ञासे युक्त है। तथा मिथ्यात्व-मोहनीयके उदयको प्राप्त हुआ जो जीव जिनेन्द्रचन्द्रके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वसमूहकी कभी प्रतीति नहीं करता उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥१८५-१८७॥

इस प्रकार सम्यक्त्वमार्गणाका वर्णन हुआ।

आगे संज्ञीमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

संज्ञाका लक्षण—

नोइन्द्रियावृतेर्नूनं क्षयोपशमने सति।
जायते बोधनं यच्च सा संज्ञा संज्ञिता बुधैः ॥१८८॥

अर्थ—निश्चय ही नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशम होनेपर जो ज्ञान होता है उसे विद्वज्जनोंने संज्ञा कहा है ॥१८८॥

संज्ञीका लक्षण—

उपजाति

मनोवलम्बेन निरन्तरं यः
शिक्षाक्रियालापमुखानुपायान्।
गृह्णाति संज्ञी स हि संज्ञितोऽयं
संज्ञानवद्भिः परमागमेषु ॥१८९॥

अर्थ—जो जीव मनके आलम्बनसे निरन्तर शिक्षा, क्रिया तथा आलाप आदि उपायोंको ग्रहण करता है वह समीचीन ज्ञानके धारक मुनियोंके द्वारा परमागममें संज्ञी कहा गया है ॥१८९॥

असंज्ञीका लक्षण—

उपेन्द्रवज्रा

न यत्र संज्ञा न मनोवलम्बो
न वर्तते काचन तत्त्वचिन्ता।
जनः स संज्ञारहितः प्रगीतो
यशोवलक्षीकृतदिक्समूहैः ॥१९०॥

अर्थ—जिसमें न संज्ञा है, न मनका आलम्बन है, और न कोई तत्त्वकी चिन्ता है उसे यशके द्वारा दिशाओंके समूहको धवल करनेवाले ऋषियोंने असंज्ञी कहा है ॥१९०॥

संज्ञी-असंज्ञी व्यवहारसे शून्य जीवोंका स्तवन—

विजयन्ते जनाः केऽपि संज्ञ्यसंज्ञित्ववर्जिताः ।
आत्मानन्दथुसंभारसंभृताः पुरुषाश्चिरम् ॥१९१॥

अर्थ—जो पुरुष संज्ञी और असंज्ञीके व्यवहारसे रहित हैं तथा चिर-काल तक आत्मोत्थ आनन्दके समीचीन भारसे परिपूर्ण रहते हैं वे कोई अनिर्वचनीय-अरहन्त सिद्ध परमेष्ठी जयवन्त प्रवर्तते हैं।

भावार्थ—एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीव असंज्ञी ही होते हैं। ये नियमसे तिर्यञ्चगतिमें होते हैं और मिथ्यादृष्टिगुण-स्थानमें ही रहते हैं। संज्ञीपञ्चेन्द्रियसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक संज्ञी कहलाते हैं। इनमें देव और नारकियोंके आदिके चार गुणस्थान तथा तिर्यञ्चोंके आदिके पाँच गुणस्थान होते हैं। परन्तु मनुष्योंके प्रारम्भसे लेकर बारह गुणस्थान तक होते हैं। उसके आगे तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवाले मनुष्य तथा सिद्ध भगवान् संज्ञी और असंज्ञीके व्यवहारसे रहित हैं ॥१९१॥

इस प्रकार संज्ञीमार्गणा पूर्ण हुई।

आगे आहारमार्गणाके आलम्बनसे जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

आहारका लक्षण—

देहनामोदयाद्देहवतां संसारवर्तिनाम् ।
नोकर्मपुद्गलादानमाहारो हि समुच्यते ॥१९२॥

अर्थ—शरीरनामकर्मके उदयसे संसारी जीवोंके जो नोकर्मरूप पुद्गलोंका ग्रहण होता है निश्चयसे वह आहार कहलाता है।

भावार्थ—विग्रहगतिके बाद संसारी जीव शरीररचनाके योग्य आहारवर्गणाके परमाणुओंको जो ग्रहण करता है उसे आहार कहते हैं। इन आहारवर्गणाके परमाणुओंसे शरीरकी रचना होती है। द्वीन्द्रियादि जीवोंके इन्हीं आहारवर्गणाके परमाणुओंके साथ भाषावर्गणा-के परमाणुओंका भी संचय होता है उनसे वचनकी उत्पत्ति होती है और संज्ञी पञ्चेन्द्रियोंके मनोवर्गणाके परमाणुओंका भी ग्रहण होता है और उनसे मनकी उत्पत्ति होती है। जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक जीव अपर्याप्तक कहलाता है। अपर्याप्तक अवस्थामें आयु, इन्द्रिय और कायबल ये तीन ही प्राण होते हैं। पर्याप्तक होनेपर श्वासो-

च्छ्वास, वचनबल और मनोबल भी हो जाते हैं। उपर्युक्त आहारको ग्रहण करनेवाले जीव आहारक कहलाते हैं ॥१९२॥

आगे आहारक और अनाहारक कौन होते हैं, यह कहते हैं—

उपजाति

अयोगिनः केवलिनो जिनेन्द्राः
सिद्धाः समुद्घातयुता जिनाश्च ।
नाहारका विग्रहयानयुक्ता
आहारकाः सन्ति तदन्यजीवाः ॥१९३॥

अर्थ—अयोगकेवली जिनेन्द्र, सिद्धपरमेष्ठी, समुद्घातसे सहित सयोगकेवली जिनेन्द्र और विग्रहगति वाले जीव अनाहारक होते हैं। इनसे अतिरिक्त समस्त जीव अहारक होते हैं।

भावार्थ—गुणस्थानोंकी अपेक्षा अनाहारक अवस्था प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, समुद्घातगत त्रयोदश और चतुर्दश गुणस्थानमें ही होती है, अन्य स्थानोंमें नहीं ॥१९३॥

समुद्घातका लक्षण—

जीवस्यात्मप्रदेशानामत्यक्त्वा मूलदेहकम् ।
बहिष्प्रसरणं यत्तत् समुद्घातः समुच्यते ॥१९४॥

अर्थ—मूल शरीरको न छोड़कर जीवके आत्मप्रदेशोंका जो बाहर फैलाना है वह समुद्घात कहलाता है ॥९४॥

समुद्घातके भेद—

कषायवेदनोद्भूतौ वैक्रियो मारणान्तिकः ।
आहारकश्च तेजश्च केवलिनां च सप्तमः ॥१९५॥
एते सप्त समुद्घाताः प्रगीताः परमागमे ।
काष्ठामेकां प्रयात्येवाहारको मारणान्तिकः ॥१९६॥
इतरे पञ्च सर्वत्र गामिनस्तेषु सम्मताः ।
समुद्घातदशा सैषा स्वत एव प्रजायते ॥१९७॥

अर्थ—समुद्घातके सात भेद हैं—१. कषायोद्भूत, २. वेदनोद्भूत, ३. वैक्रियिक, ४. मारणान्तिक, ५. आहारक, ६. तैजस और ७. केवलि-समुद्घात ।

भावार्थ—कषायकी तीव्रताके समय जो आत्मप्रदेश शरीरसे बाहर फैलते हैं वह कषाय-समुद्घात है। विशेष वेदना के समय आत्मप्रदेशोंका बाहर फैलना वेदनासमुद्घात है। पृथक् विक्रियाके समय आत्मप्रदेशोंका जो उत्तरदेहके साथ जाना है वह वैक्रियिकसमुद्घात है। किन्हीं किन्हीं जीवोंके आत्मप्रदेश मरणके पूर्व उस स्थानका स्पर्श करने जाते हैं जहाँ इसे उत्पन्न होना है, यह मारणान्तिकसमुद्घात कहलाता है। प्रमत्तसंयत-गुणस्थानवर्ती किन्हीं किन्हीं मुनिके मस्तकसे निकलनेवाले आहारक-शरीरके साथ जो आत्मप्रदेशोंका जाना है वह आहारकसमुद्घात कहलाता है। लब्धिप्रत्यय तैजसशरीरके साथ जो आत्मप्रदेशोंका जाना है वह तैजससमुद्घात कहलाता है और जिन केवलियोंके आयुकर्मकी स्थिति थोड़ी हो तथा शेष तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति अधिक हो उनके तेरहवें गुणस्थानके अन्तिम मुहूर्तमें जो दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण अवस्था आत्मप्रदेशोंकी होती है वह केवली-समुद्घात कहलाता है। इसमें आठ समय लगते हैं। दण्डभेदमें औदारिककाययोग, कपाटमें औदारिकमिश्रकाययोग और प्रतर तथा लोकपूरणभेदमें कार्मणकाय-योग होता है। इस कार्मणकाययोगके समय अनाहारक अवस्था होती है ॥१९५॥

परमागममें ये सात समुद्घात कहे गये हैं। इनमें आहारक और मारणान्तिक समुद्घात एक दिशामें होते हैं। शेष पांच सभी दिशाओंमें होते हैं। समुद्घातकी यह अवस्था स्वयं ही होती है ॥१९६-१९७॥

इस प्रकार आहारकमार्गणा पूर्ण हुई।

आगे उपयोगप्ररूपणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

हेतुयुग्मवशाज्जातश्चैतन्यानुविधायिकः ।
आत्मनः परिणामः स्यादुपयोगो जिनेरितः ॥१९८॥

स साकारनिराकारभेदाभ्यां द्विविधो मतः ।
साकारश्चाष्टधा तत्र निराकारश्चतुर्विधः ॥१९९॥

मत्यादिपञ्चसंज्ञानान्यज्ञानत्रितयं तथा ।
इत्थमष्टविधः प्रोक्तः साकारो ह्युपयोगकः ॥२००॥

द्रुतविलम्बित

नयनदृष्टिरलोचनदर्शनं
ह्यवधिदर्शनकेवलदर्शने ।
इति पयोधिविकल्पयुतो मतो
गतविकल्पततिर्ह्युपयोगकः ॥२०१॥

द्वादशभेदसम्पन्न उपयोगोऽयमात्मनः ।
लक्षणं लक्षितं वीरजिनचन्द्रमसा चिरम् ॥२०२॥

अर्थ—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला जीवका जो चैतन्यानुविधायी परिणाम है वह जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ उपयोग है ॥१९८॥ वह उपयोग ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका माना गया है। ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका और दर्शनोपयोग चार प्रकारका है ॥१९९॥ मति आदि पांच सम्यग्ज्ञान और कुमति आदि तीन मिथ्याज्ञान, इस प्रकार ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका कहा गया है ॥२०१॥ चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इस प्रकार दर्शनोपयोग चार भेदोंसे सहित माना गया है ॥२०१॥ वीर जिनेन्द्रने यह बारह भेदोंसे सहित उपयोग जीवका चिरकाल व्यापी लक्षण कहा है ॥२०२॥

इस प्रकार उपयोगप्ररूपणा पूर्ण हुई।

आगे जीवतत्त्वके वर्णनका उपसंहार करते हैं—

उपजाति

संसारपाथोधिपयोनिमग्नो
दुःखं चिरं हन्त भरन् समन्तात् ।
विपद्यते यो हि जनः स्वदोषात्
प्ररूपणाविंशतिवर्णितोऽसौ ॥२०३॥

ध्यानोग्रहव्याशशिखासमूह-
प्रदग्धदुःखप्रदकर्मजालाः ।
सुमुक्तिकान्ताकमनीयकण्ठ-
संश्लेषजानन्दनमङ्गलाढ्याः ॥२०४॥

अनन्तविज्ञानलतालवाला
विलोकिताशेषभवान्तरालाः ।
प्ररूपणाभेदबहिःप्रयाता
जयन्ति जैना जगदीश्वरास्ते ॥२०५॥

स्रग्धरा

शैलेषु स्वर्णशैलो जलधिविततिषु क्षीरपाथोनिधानो
देवेन्द्रो देववृन्दे निखिलसुरनुतो ध्यानमन्त्यं तपःसु ।
भूषासु ज्ञानभूषा सुनृषु सुकृतविच्चास्ति यद्वत्प्रधान-
स्तद्वज्जीवः प्रधानः सकलगुणयुतस्तत्त्वराशौ प्रधानः ॥२०६॥

अर्थ—खेद है कि जो प्राणी अपने दोषसे संसारसागरके जलमें निमग्न हो चिरकालसे सब ओर दुःख उठाता हुआ विपन्न हो रहा है उसका बीस प्ररूपणाओंके द्वारा वर्णन किया गया है ॥२०३॥ जिन्होंने ध्यानरूपी प्रचण्ड अग्निकी ज्वालाओंके समूहमें दुःखदायक कर्मसमूह-को अत्यन्त भस्म कर दिया है, जो मुक्तिकान्ताके सुन्दर कण्ठालिङ्गनसे समुत्पन्न आनन्दमङ्गलसे युक्त हैं, जो अनन्तविज्ञानरूपी लताके आलवाल स्वरूप हैं, जिन्होंने समस्त संसारके अन्तरालको देख लिया है तथा जो प्ररूपणाओंके भेदोंसे बहिर्भूत हैं वे जैन जगदीश्वर सिद्ध पर-मेष्ठी सदा जयवन्त प्रवर्तते हैं ॥२०४-२०५॥

जिस प्रकार पर्वतोंमें सुमेरु, समुद्रोंमें क्षीरसागर, देवसमूहमें समस्त देवोंके द्वारा नमस्कृत इन्द्र, तपोंमें शुक्लध्यान, आभूषणोंमें ज्ञानरूप आभूषण और मनुष्योंमें कृतज्ञ मनुष्य प्रधान है उसी प्रकार सब तत्त्वोंमें निखिल गुणोंसे युक्त जीवतत्त्व प्रधान है ॥२०६॥

इस प्रकार सम्यक्त्व-चिन्तामणिमें जीवतत्त्वका वर्णन करनेवाला
चतुर्थ मयूख पूर्ण हुआ ।

पञ्चमो मयूखः

शार्दूलविक्रीडित

मोहक्ष्मापतिरक्षितं बहुविधं कर्मारिसैन्यं हतं
येन ध्यानमयेन खड्गनिचयेनाऽरक्षितं चाहवे ।
सम्यक्त्वप्रमुखात्मशोभनगुणश्रेणिः सदा सौख्यदा
स श्रीमान् वृषभेश्वरो विजयतामिष्टार्थकल्पद्रुमः ॥१॥

अर्थ—जिन्होंने युद्धमें ध्यानरूपी खड्गसमूहके द्वारा मोहरूपी राजासे सुरक्षित बहुत प्रकारकी कर्मशत्रुओंकी सेनाको नष्ट किया तथा सम्यक्त्व आदि आत्माके उत्तमोत्तम, सुखदायक गुणसमूहकी रक्षा की थी, इष्ट अर्थको देनेके लिये कल्पवृक्ष स्वरूप वे श्रीमान् वृषभदेव भगवान् जयवन्त प्रवर्ते ॥१॥

इतोऽग्रे संप्रवक्ष्याम्यजीवतत्त्वमचेतनम् ।
स्वान्ते निधाय पूर्वेषामाचार्याणां वचःक्रमम् ॥२॥
अबोधोऽदर्शनोऽवीर्योऽसुखः सम्यक्त्ववर्जितः ।
चेतनालक्षणाज्जीवादजीवो भिन्न उच्यते ॥३॥

अर्थ—अब इसके आगे पूर्वाचार्योंके वचनक्रमको हृदयमें धारणकर चेतनारहित अजीवतत्त्वका कथन करेंगे ॥२॥ जो ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य और सम्यक्त्वसे रहित है तथा चेतनालक्षण वाले जीवतत्त्वसे भिन्न है वह अजीव कहलाता है ॥३॥

आर्या

पुद्गलधर्माधर्माकाशानेहःप्रभेदसंभिन्नः ।
उक्तः पञ्चविधोऽसौ ग्रन्थाकूपारनिष्णातैः ॥४॥

अर्थ—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे वह अजीव तत्त्व, शास्त्ररूपी समुद्रके अवगाही आचार्योंके द्वारा पाँच प्रकारका कहा गया है ॥४॥

पुद्गलका लक्षण—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तो मूर्ता निरूपितास्तत्र ।
पुद्गला नैकभेदाः पूरणगलनस्वभावसंयुक्ताः ॥५॥

अर्थ—उन पांच भेदोंमें जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसे सहित हैं, मूर्तिक हैं, अनेक अवान्तर भेदोंसे सहित हैं तथा पूरण-गलन स्वभाव वाले हैं वे पुद्गल कहे गये हैं ॥५॥

भावार्थ—जो स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा जाना जावे उसे स्पर्श कहते हैं। इसके आठ भेद हैं—कोमल, कड़ा, हलका, भारी, रूखा, चिकना, शीत और उष्ण। इनमेंसे आदिके चार आपेक्षिक होनेसे परमाणुमें नहीं होते। शेष चार होते हैं। उनमें भी एक परमाणुमें स्निग्ध और रूक्षमेंसे कोई एक तथा शीत और उष्णमेंसे कोई एक, इस प्रकार दो स्पर्श होते हैं। स्कन्धरूप पुद्गलमें सभी स्पर्श हो सकते हैं। जो रसना इन्द्रियके द्वारा जाना जावे उसे रस कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—खट्टा, मीठा, कडुआ कषायला और चिरपरा। खारा रस मीठे रसके अन्तर्गत माना गया है। इन पाँच रसोंमेंसे परमाणुमें कोई एक रस होता है परन्तु स्कन्धमें सभी रस हो सकते हैं। जो घ्राण इन्द्रियके द्वारा जाना जावे उसे गन्ध कहते हैं। इसके दो भेद हैं—सुगन्ध और दुर्गन्ध। इनमेंसे परमाणुमें कोई एक होता है परन्तु स्कन्धमें दोनों हो सकते हैं। जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा देखा जावे उसे रूप कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। हरा रंग पीला और नीलाके संयोगसे बनता है इसलिये उसे मूल भेदोंमें संमिलित नहीं किया है। इन रङ्गोंके परस्पर मेलसे जो अनेक रङ्ग बनते हैं उनकी यहाँ विवक्षा नहीं की है। परमाणुमें एक रङ्ग होता है परन्तु स्कन्धमें सभी रङ्ग हो सकते हैं। पुद्गल मूर्तिक है क्योंकि वह इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आता है। यद्यपि परमाणु और सूक्ष्म स्कन्ध इन्द्रियों द्वारा ग्रहणमें नहीं आते तो भी उन परमाणुओं और सूक्ष्म स्कन्धों के संयोगसे निर्मित बड़े स्कन्धोंके इन्द्रियों द्वारा ग्रहणमें आनेके कारण उन्हें मूर्ति सहित माना जाता है। पुद्गलका स्वभाव पूरण और गलन रूप है अर्थात् उनमेंसे प्रत्येक समय अनेक परमाण बिखरते हैं और नये परमाणु उनमें मिलते हैं। दृश्यमान जगत् पुद्गलद्रव्यका ही विस्तार है ॥५॥

पुद्गलद्रव्यके पर्याय—

शब्दो बन्धस्तथा सौक्ष्म्यं स्थौल्यं संस्थानसंभिदाः ।
तमश्छायातपोद्योतास्तत्पर्यायाः प्रकीर्तिताः ॥६॥

अर्थ—शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत, ये पुद्गल द्रव्यके पर्याय हैं।

भावार्थ—गुण सदा द्रव्यके साथ रहते हैं परन्तु पर्याय क्रमवर्ती होनेसे कादाचित्क होते हैं। जिस प्रकार स्पर्श, रस, गन्ध और रूप सदा साथ रहते हैं उस प्रकार शब्दादिक सदा साथ नहीं रहते। ये शब्दादिक स्कन्धके भेद हैं। आगे इनका विवेचन किया जाता है।

शब्द—जो कर्णेन्द्रियके द्वारा जाना जावे उसे शब्द कहते हैं। शब्दके दो भेद हैं— १ भाषारूप और २ अभाषारूप। भाषारूप शब्दके साक्षर और अनक्षरके भेदसे दो भेद हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि रूप परिणत जो शब्द हैं वे साक्षर हैं। इन साक्षर शब्दोंके द्वारा ही अनेक शास्त्रोंकी रचना होती है। अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादिक जीवोंके होता है। उत्पत्तिकी अपेक्षा केवली भगवान्‌की दिव्यध्वनि भी अनक्षरात्मक है परन्तु अपने अतिशयविशेषसे वह श्रोताओंके कर्णकुहरमें अक्षररूप परिणत हो जाती है। यह अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दोनों प्रकारकी भाषा जीवके प्रयोग—प्रयत्न जन्य होनेसे प्रायोगिक कही जाती है। अभाषात्मक शब्द प्रायोगिक और वैस्रसिकके भेदसे दो प्रकारके हैं। प्रायोगिक शब्द पुरुषके प्रयत्नजन्य होनेके कारण चार प्रकार के हैं—तत, वितत, घन और सौषिर। जिनपर चमड़ा मढ़ा हुआ है ऐसे मृदङ्ग तथा भेरी आदिके शब्दको तत कहते हैं। वीणा आदिके शब्दको वितत कहते हैं। झालर, घण्टा आदिके शब्दको घन कहते हैं और शङ्ख तथा बांसुरी आदिके शब्दको सौषिर कहते हैं।

बन्ध—बन्धके दो भेद हैं—वैस्रसिक और प्रायोगिक। पुरुषप्रयोगकी अपेक्षा न रखकर स्निग्ध और रूक्ष गुणके कारण बिजली, उल्का तथा इन्द्रधनुष आदिके रूपमें जो होता है वह वैस्रसिक कहलाता है और पुरुष प्रयोगके निमित्तसे जो होता है वह प्रायोगिक कहलाता है। यह अजीव विषयक तथा जीवाजीव विषयकके भेदसे दो प्रकारका है। पुरुषके द्वारा जो लाख तथा काष्ठ आदि का बन्ध किया जाता है वह अजीव विषयक बन्ध है और जीवप्रदेशोंके साथ जो कर्म तथा नोकर्म परमाणुओंका बन्ध होता है वह जीवाजीव विषयक बन्ध कहलाता है। अन्यत्र बन्धके

तीन भेद किये गये हैं—१ जीवविषयक, २ अजीवविषयक और ३ जीवा-जीवविषयक। जीवके आत्मप्रदेशोंमें जो राग-द्वेषरूप भावबन्ध होता है वह जीवविषयक बन्ध है। प्राचीन कर्मोंके साथ जो नवीन कर्मोंका सम्बन्ध होता है वह अजीवविषयक बन्ध है और जीव तथा कर्मरूप पुद्गल-प्रदेशों का जो नीर-क्षीरके समान एक क्षेत्रावगाह है वह जीवा-जीवविषयक बन्ध है। परन्तु यह चर्चा बन्धतत्त्वकी है। यहाँ मात्र पुद्गलकी पर्यायोंका प्रकरण होने से उसकी विवक्षा नहीं की गई है।

सौक्ष्म्य—सौक्ष्म्य दो प्रकारका है—१ अन्तिम और २ आपेक्षिक। अन्तिम सौक्ष्म्य परमाणुओंमें होता है क्योंकि उनसे अधिक सूक्ष्म दूसरा पदार्थ नहीं होता और आपेक्षिक बेल, आमला तथा बेर आदिमें पाया जाता है। अर्थात् बेलसे सूक्ष्म आमला है और उससे सूक्ष्म बेर है।

स्थौल्य—स्थौल्य भी अन्त्य और आपेक्षिकके भेदसे दो प्रकारका होता है। तीनसौ तेतालीस राजू प्रमाण जो लोकरूप महास्कन्ध है उसमें अन्त्य स्थौल्य है क्योंकि इससे बड़ा दूसरा स्कन्ध नहीं है। और बेर, आमला तथा बेल आदिमें अपेक्षाकृत होनेसे आपेक्षिक स्थौल्य है।

संस्थान—संस्थान आकृतिको कहते हैं। इसके इत्थंलक्षण और अनित्थंलक्षणके भेदसे दो भेद हैं। जिसका लम्बा, चौकोर तथा गोल आदि आकार शब्दोंके द्वारा कहा जाय वह इत्थंलक्षण संस्थान है और जो शब्दों द्वारा नहीं कहा जाय वह अनित्थंलक्षण संस्थान है, जैसे मेघ आदिका आकार।

भेद—संघटित स्कन्धके बिखरनेको भेद कहते हैं। इसके ६ भेद हैं-१ उत्कर, २ चूर्ण, ३ खण्ड, ४ चूर्णिका, ५ प्रतर और ६ अणुचटन। करोंत-के द्वारा लकड़ी आदिका चीरा जाना उत्कर कहलाता है। जौ तथा गेंहू आदिका जो आटा है उसे चूर्ण कहते हैं। घट आदिके जो टुकड़े हो जाते है उन्हें खण्ड कहते हैं। उड़द तथा मूंग आदि की जो चुनी है उसे चूर्णिका कहते हैं। मेघपटल आदि की तहको प्रतर कहते हैं और संतप्त लोहको घनोंके द्वारा पीटे जानेपर जो आगके कण निकलते हैं उन्हें अणु-चटन कहते हैं।

तम—दृष्टिको रोकनेवाला जो प्रकाशका आवरण है उसे तम कहते हैं। इसके तारतम्य लिये हुए अनेक भेद हैं।

छाया—प्रकाशके आवरणसे जो परछांई पड़ती है उसे छाया कहते हैं। इसके तद्वर्णा और अतद्वर्णा ये दो भेद हैं। जिसमें पदार्थका रूप उसी वर्णके साथ प्रतिबिम्बित हो उसे तद्वर्णा कहते हैं जैसे कि दर्पणमें मयूरादि

का प्रतिबिम्ब उसी वर्णका पड़ता है और जिसमें मात्र आकृति पड़ती है उसे अतद्वर्णा कहते हैं, जैसे धूप अथवा चांदनीमें मनुष्य की छाया पड़ती है।

आतप—सूर्यके प्रकाशको आतप कहते हैं। यह मूलमें शीत तथा प्रभामें उष्ण होता है। यह आतप, सूर्यके विमानमें स्थित बादर पृथिवी-कायिक जीवोंके शरीर से उत्पन्न होता है।

उद्योत—चन्द्रमा, मणि तथा खद्योत आदिके प्रकाशको उद्योत कहते हैं ॥६॥

आगे पुद्गलद्रव्यके भेद कहते हैं—

अणुस्कन्धविभेदेन पुद्गला द्विविधा मताः ।
तत्राणुर्भेदशून्यः स्यात् षोढा स्कन्धस्तु भिद्यते ॥७॥
बादराबादराः बादराश्च बादरसूक्ष्मकाः ।
सूक्ष्मस्थूलाश्च सूक्ष्माश्च सूक्ष्मसूक्ष्माश्च ते मताः ॥८॥

आर्या

पृथिवीसलिलच्छाया चतुरिन्द्रियविषयकर्मसंघाताः ।
द्व्यणुकश्च तत्त्वविज्ञैस्तदुदाहरणानि बोध्यानि ॥९॥

अर्थ—अणु और स्कन्धके भेदसे पुद्गल दो प्रकारके माने गये हैं। उनमेंसे अणु भेदरहित है परन्तु स्कन्ध छह प्रकारका होता है ॥७॥ बादर-बादर, बादर, बादर-सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म। पृथिवी, जल, छाया, चक्षुरिन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंके विषय, कर्म-समूह, और द्व्युक ये उन छह भेदोंके उदाहरण तत्त्वज्ञ मनुष्योंको जानना चाहिये।

भावार्थ—जो स्कन्ध पृथक् करनेपर पृथक् हो जावें परन्तु मिलानेपर पुनः मिल न सकें उन्हें बादरबादर कहते हैं, जैसे पृथिवी। जो स्कन्ध पृथक् करनेपर पृथक् हो जावें और मिलानेसे पुनः मिल जावें उन्हें बादर कहते हैं, जैसे जल। जो स्कन्ध नेत्रोंसे दिखाई देते हैं परन्तु ग्रहण करनेमें नहीं आते उन्हें बादर-सूक्ष्म कहते हैं, जैसे छाया, आतप आदि। जो स्कन्ध, नेत्रोंसे नहीं दिखाई देते परन्तु अन्य इन्द्रियसे जाने जाते हैं उन्हें सूक्ष्म-बादर कहते हैं, जैसे स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द। जो घात-प्रतिघातसे रहित हों उन्हें सूक्ष्म कहते हैं, जैसे—ज्ञानावरणादिकर्मोंका समूह। और दो परमाणुओंके संयोगसे निर्मित द्व्यणुकस्कन्ध सूक्ष्मसूक्ष्म कहलाता है। इससे सूक्ष्म दूसरा

स्कन्ध नहीं होता है। जिन आचार्योंने ये छह भेद पुद्गलसामान्यके कहे हैं उन्होंने सूक्ष्मसूक्ष्मका दृष्टान्त परमाणुको माना है।

अन्यत्र पुद्गलद्रव्यके स्कन्ध, देश, प्रदेश और अणु ये चार भेद भी कहे गये हैं।[1] सर्वांशमें पूर्ण पुद्गलको स्कन्ध कहते हैं। उसके आधे भागको देश, और देशके आधे को प्रदेश तथा अविभागी अणुको परमाणु कहते हैं ॥८-९॥

आगे परमाणुका स्वरूप कहते हैं—

स्कन्धानां खलु सर्वेषां योऽन्त्यो भेदबहिःस्थितः।
परमाणुः स विज्ञेयो द्वितीयांशविवर्जितः ॥१०॥
आदेशमात्रमूर्तोऽयं स्वयं वै शब्दवर्जितः।
परिणामगुणो धातुचतुष्कस्यादिकारणम् ॥११॥
नित्यो नानवकाशश्च सावकाशोऽपि नैव च।
भेत्ता प्रदेशतः स्कन्धानां कर्ता कालभेदकः ॥१२॥
वर्णगन्धरसैकाढ्यो द्विस्पर्शोऽशब्दकारणम्।
विज्ञेयः स्कन्धतो भिन्नः परमाणुः स पुद्गलः ॥१३॥

अर्थ—निश्चयसे जो सब स्कन्धोंका अन्तिम रूप है अर्थात् स्कन्ध संज्ञा समाप्त होनेपर जिसकी उत्पत्ति होती है, जो भेदसे रहित है अर्थात् जिसके अन्य भेद नहीं किये जा सकते और जो द्वितीय अंशसे रहित है उसे परमाणु जानना चाहिये ॥१०॥ यह परमाणु विवक्षामात्रसे मूर्तिक है अर्थात् मूर्तिक पुद्गल द्रव्यका सबसे छोटा अंश होनेके कारण मूर्तिक है वैसे इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें नहीं आता है। स्वयं शब्दसे रहित है। परिणमनशील है अर्थात् अगुरुलघुगुणके कारण अविभागी प्रतिच्छेदोंकी हानि-वृद्धिरूप परिणमन करने वाला है। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन धातुओंकी उत्पत्तिका आदि कारण है अर्थात् अनेक अणुओंके मेलसे ही इनकी उत्पत्ति होती है। द्रव्यस्वभावकी अपेक्षा नित्य है अर्थात् अणुसे छोटी अवस्थारूप परिणमन करने वाला नहीं है। अपनी अवगाहनामें अनेक अणुओंको अवकाश देनेवाला है अतः अनवकाश नहीं है अर्थात् सावकाश है। द्वितीयादि अंशोंसे रहित है अतः सावकाश भी नहीं है। पृथक्-पृथक् प्रदेश रूप बिखर जानेके कारण स्कन्धोंका भेद करने वाला है अर्थात् उनकी स्कन्ध संज्ञाको दूर करने वाला है। अनेक अणु

---

१. खंधं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागी चेव परमाणू ॥—जीवकाण्ड गा० ६०४।

मिलकर स्कन्धरूप हो जाते हैं इसलिये स्कन्धोंका कर्ता है। कालद्रव्यका भेद करने वाला है अर्थात् मन्दगतिसे चलने वाला परमाणु जितने समयमें आकाशके एक प्रदेशसे चलकर दूसरे प्रदेशपर पहुँचता है उसे कालद्रव्यकी समय नामक पर्याय कहते हैं। इस समयनामक पर्यायका परिज्ञान अणुके द्वारा होता है, इस विवक्षासे अणु कालका भेद करने वाला है। एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध तथा दो स्पर्शों (स्निग्ध-रूक्षमेंसे एक तथा शीत, उष्णमेंसे एक) से सहित है। शब्दका कारण नहीं है अर्थात् अणुसे शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती। जब अनेक अणु मिल कर स्कन्ध बन जाते हैं तभी शब्दकी उत्पत्ति होती है अणुसे नहीं। वह परमाणुरूप पुद्गल, स्कन्धसंज्ञासे बहिर्भूत है ॥११-१३॥

आगे स्कन्ध और अणुओंकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है, यह कहते हैं—

संघातात्परमाणूनां भेदात्तदुभयादपि।
जायन्ते पुद्गलस्कन्धा, भेदादेवाणवस्तथा ॥१४॥
लोचनगोचरस्कन्धा भेदसंघातहेतुतः।
उत्पद्यन्ते, क्रमस्तस्य संघातस्याद्य लक्ष्यते ॥१५॥
स्निग्धत्वं चापि रूक्षत्वं संघातस्यादिकारणम्।
एकादयस्त्वनन्तान्ताः स्निग्धरूक्षगुणा मताः ॥१६॥
द्व्यधिकादिगुणानां तु बन्धोऽन्योन्यं समिष्यते।
न जघन्यगुणानां तु बन्धो भवति कुत्रचित् ॥१७॥
सति बन्धेऽधिका हीनं स्निग्धेतरगुणैर्युताः।
अणवः स्वस्वरूपेण नयन्ति परं सदा ॥१८॥

अर्थ—परमाणुओंके संघात, भेद और संघात, भेद—दोनोंसे पुद्गल स्कन्ध उत्पन्न होते हैं परन्तु अणुओंकी उत्पत्ति मात्र भेदसे ही होती है ॥१४॥ चाक्षुष स्कन्ध भेद तथा संघातसे होते हैं मात्र भेदसे नहीं। अब संघात होनेका क्रम कहा जाता है ॥१५॥ स्निग्धता और रूक्षता ही संघातका प्रमुख कारण है। ये स्निग्ध और रूक्षगुण अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा एकसे लेकर अनन्त तक माने गये हैं अर्थात् अणुओंमें रहने वाले स्निग्ध और रूक्षगुणोंमें एकसे लेकर अनन्त तक अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। अगुरुलघुगुणके निमित्तसे उन अविभागप्रतिच्छेदोंमें

अनन्तभागवृद्धि षट्स्थानपतित वृद्धि और हानि होती रहती है ॥१५-१६॥ दो अधिक अविभाग प्रतिच्छेद वाले परमाणुओंका बन्ध परस्पर माना गया है। जघन्य गुणवाले परमाणुओंका बन्ध कहीं नहीं होता है। अर्थात् जिन परमाणुओंमें हानिका क्रम चलनेपर स्निग्धता और रूक्षताका एक ही अविभाग प्रतिच्छेद रह गया है उन परमाणुओंका बन्ध तब तक नहीं होता जबतक वृद्धिका क्रम जारी होनेपर एकसे अधिक नहीं हो जाते।

भावार्थ—यह बन्ध, दो अधिक गुणवाले परमाणुओंका होता है जैसे एक परमाणुमें स्निग्धता या रूक्षताके दो अविभागप्रतिच्छेद हैं और दूसरे परमाणुओंमें चार हैं तो उनका बन्ध हो जावेगा। हीनाधिक रहनेपर नहीं होगा। परमाणुओंका यह बन्ध स्निग्ध और स्निग्ध, रूक्ष और रूक्ष तथा स्निग्ध और रूक्ष—दोनोंका होता है तथा समधारा अर्थात् दो चार, छह आठ आदि पूर्णसंख्यक गुणवाले परमाणुओंका और विषम धारा अर्थात् तीन पाँच, सात नौ आदि ऊनसंख्यक गुणवाले परमाणुओंका भी होता है। एक गुणवाले परमाणुका तीन गुणवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होगा, क्योंकि तीन गुण वाले परमाणुमें बन्धकी योग्यता होनेपर भी एक गुणवाले परमाणुमें बन्धकी योग्यता नहीं है ॥१७॥ बन्ध होनेपर स्निग्धता और रूक्षतासे युक्त अधिक गुणवाले परमाणु, हीनगुण वाले दूसरे परमाणुको सदा अपने रूप परिणमा लेते हैं ॥१८॥

आगे पुद्गलद्रव्यके प्रदेशोंका परिमाण तथा उपकारका वर्णन करते हैं—

आर्या

संख्यातासंख्यातानन्तानन्तप्रदेशसंयुक्ताः ।
पुद्गलाः सन्ति लोके विततः सर्वत्र सर्वदेत्युक्तम् ॥१९॥
शरीरवाङ्मनःप्राणापानदुःखसुखानि च ।
जीवनं मरणं चापि पुद्गलानामुपग्रहाः ॥२०॥

अर्थ—संख्यात, असंख्यात तथा अनन्तानन्त प्रदेशोंसे युक्त पुद्गल, लोकमें सब स्थानोंपर सदा व्याप्त हैं, ऐसा कहा गया है। भावार्थ—पुद्गलद्रव्यके ये प्रदेश स्कन्धोंकी अपेक्षा हैं। जो स्कन्ध छोटा या बड़ा जैसा होता है उसमें उसी प्रकारके प्रदेश होते हैं। सबसे छोटा स्कन्ध द्व्यणुक अर्थात् दो प्रदेश वाला है और सबसे बड़ा स्कन्ध लोकस्कन्ध है, जिसमें अनन्तानन्त प्रदेश होते हैं ॥१९॥ शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्-

वास, दुःख, सुख, जीवन और मरण, ये सब जीवके प्रति पुद्गलोंके उपकार हैं। अर्थात् जीवके शरीर आदिकी रचना पुद्गलद्रव्यके कार्य हैं। इसी प्रकार जीवके सुख, दुःख, जीवन और मरण भी पुद्गलके संयोगसे होते हैं ॥२०॥

आगे धर्म और अधर्म द्रव्यका वर्णन करते हैं—

तरतां जलजन्तूनां तरणे सलिलं यथा ।
चरतां पादचाराणां संचरे संचरो यथा ॥२०॥
जीवानां पुद्गलानाञ्च चलतां स्वेच्छया किल ।
साहाय्यकारकः प्रोक्तो धर्मो धर्मधनेश्वरैः ॥२२॥
अध्वगानां यथा वृक्षः शीतलच्छायशोभितः ।
स्थितौ सहायको यः स्यात्पुद्गलानां च जीवताम् ॥२३॥
अधर्मः स च संप्रोक्तः शास्त्राकूपारपारगैः ।
व्याप्तमेतद्द्वयं लोके दधनीह घृतं यथा ॥२४॥
असंख्येयप्रदेशाढ्यममूर्तमनुपद्रवम् ।
गतिस्थित्युपकारेण संयुतं सार्वकालिकम् ॥२५॥
लोकालोकव्यवस्थानकारकं जिनभाषितम् ।
धर्माधर्मद्वयं ह्येतदेकमेकं विराजते ॥२६॥

अर्थ—जिस प्रकार जल-जन्तुओं—मछली आदिके तैरनेमें जल तथा मार्गमें चलने वाले पादचारी जीवोंके चलनेमें मार्ग सहायक होता है उसी प्रकार स्वेच्छासे चलने वाले जीव और पुद्गलोंके चलनेमें जो सहायता करता है उसे धर्मरूपी धनके धारक गणधरोंने धर्मद्रव्य कहा है ॥ २१–२२॥

जिस प्रकार पथिकोंको ठहरनेमें शीतल छायासे युक्त वृक्ष सहायक होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें जो सहायक होता है उसे शास्त्ररूपी समुद्रके पारगामी आचार्योंने अधर्मद्रव्य कहा है। ये दोनों ही द्रव्य, दहीमें घीके समान समस्त लोकमें व्याप्त हैं। असंख्यात प्रदेशोंसे सहित हैं, अमूर्तिक हैं, अविनाशी हैं, क्रमसे गति और स्थितिरूप उपकारसे सहित हैं, सदा विद्यमान रहते हैं, लोक-अलोककी व्यवस्था

करने वाले हैं, वीतराग-सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रतिपादित हैं और गिनतीमें एक-एक हैं।

भावार्थ—वैशेषिक दर्शनमें धर्म-अधर्म द्रव्यकी सत्ता स्वतन्त्र न मानकर उनका कार्य आकाशद्रव्यसे लिया गया है परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि गति और स्थितिका कार्य यदि आकाशसे होता है तो आकाश, अलोकाकाशमें भी है। वहाँ भी जीव और पुद्गल चले जावेंगे, अतः अलोकका विभाग समाप्त हो जावेगा ॥२३–२६॥

आगे आकाशद्रव्यका स्वरूप कहते हैं—

शालिनी

आकाशन्ते यत्र जीवादिभावा
निर्बाधं वै सन्ततं सन्ततास्ते।
आकाशं तज्ज्ञेयमाद्यन्तशून्यं
रूपस्वादस्पर्शगन्धप्रहीणम् ॥२७॥

अद्वितीयमनाकारमखण्डं बहुदूरगम्।
गगनं द्विविधं प्रोक्तं लोकालोकप्रभेदतः ॥२८॥
लोक्यन्ते यत्र जीवादिद्रव्याणि निखिलान्यपि।
लोकाकाशं हि तज्ज्ञेयमसंख्येयप्रदेशकम् ॥२९॥
यत्रान्तरीक्षमेवास्ते सर्वतो बहुविस्तृतम्।
अलोकव्योम संप्रोक्तं तदनन्तप्रदेशकम् ॥३०॥
लोकाम्बरस्य संप्रोक्तोऽवगाहः स उपग्रहः।
अलोकगगनस्याप्यवगाहो जिनसम्मतः ॥३१॥

अर्थ—जहाँ जीवादि पदार्थ सुविस्तृत हो निर्बाध रूपसे निरन्तर स्थित रहते हैं उसे आकाश जानना चाहिये। यह आकाश आदि अन्तसे शून्य है तथा रूप रस गन्ध और स्पर्शसे रहित है ॥२७॥ गिनतीमें एक, अमूर्तिक, अखण्ड और लोक-अलोकमें व्याप्त है। लोक-अलोकके भेदसे आकाश दो प्रकारका कहा गया है ॥२८॥ जहाँ तक जीवादिक समस्त द्रव्य देखे जाते हैं उसे असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश जानना चाहिये ॥२९॥ और जहाँ सब ओर अत्यन्त विस्तृत आकाश ही आकाश है उसे अनन्तप्रदेशी अलोकाकाश कहा गया है ॥३०॥ लोकाकाशका

उपकार सब द्रव्योंको अवगाह देना है। यह अवगाहरूप उपकार अलोकाकाशका भी जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। भावार्थ—यद्यपि अलोकाकाशमें अवगाहन करने वाले द्रव्योंका अभाव है तथापि अवगाहन देनेकी शक्ति विद्यमान होनेसे उसका अवगाह उपकार माना गया है ॥३१॥

अब कालद्रव्यका वर्णन करते हैं—

वर्तनालक्षणो नूनमणुमात्रकलेवरः ।
लोकाकाशप्रदेशेषु रत्नराशिरिव स्थितः ॥३२॥
उच्यते निश्चयः कालो ह्यमूर्तः शाश्वतस्तथा ।
घट्यादिभेदभिन्नस्तु व्यवहारः प्रणीयते ॥३३॥
वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वके ।
कालस्योपग्रहाः प्रोक्ता मनीषामण्डितैर्नरैः ॥३४॥

अर्थ—निश्चयसे जो वर्तना लक्षणसे सहित है, एक प्रदेशी है, लोकाकाशके प्रदेशोंपर रत्नराशिके समान स्थित है, अमूर्तिक है और शाश्वतस्थायी है वह निश्चयकालद्रव्य कहा जाता है। तथा जो घड़ी, घण्टा आदि भेदसे विभक्त है वह व्यवहारकाल कहा जाता है ॥३२-३३॥ बुद्धिसे सुशोभित मनुष्योंने वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये कालद्रव्यके उपकार कहे हैं ॥३४॥

आगे द्रव्योंकी संख्या और स्वरूप आदिका निरूपण करते हैं—

जीवाश्च पुद्गला धर्मो ह्यधर्मः समयोऽम्बरम् ।
इति द्रव्याणि प्रोक्तानि वीरवासरभूभृता ॥३५॥
अथोत्पादव्ययध्रौव्यसहितं सत्प्रचक्ष्यते ।
द्रव्यं यत्सत्तदेव स्यादुक्तमित्थं जिनेन्दुना ॥३६॥

अर्थ—भगवान् महावीररूपी सूर्यने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य कहे हैं। इनमें जीव अनन्त हैं, पुद्गल उनसे भी अनन्तानन्त हैं, धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक हैं तथा काल असंख्यात हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे जो सहित है वह सत् कहलाता है और जो सत् है वही जिनचन्द्रके द्वारा द्रव्य कहा गया है ॥३५-३६॥

आर्या

अभिनवपरिणामस्योत्पत्तिः परिगीयते समुत्पादः ।
पूर्वपरिणामनाशो व्यय इति च सुसंज्ञितः सद्भिः ॥३७॥
पूर्वोत्तरपरिणामद्वन्द्वे युगपद्विवर्तते यच्च ।
तद् ध्रौव्यं परिगीतं गीताखिलसारवरतत्त्वैः ॥३८॥

अर्थ—नवीन पर्यायकी उत्पत्ति होना उत्पाद और पूर्व पर्यायका नाश होना व्यय, सत्पुरुषोंने कहा है। और जो पूर्व तथा उत्तर पर्यायमें एक साथ रहता है उसे समस्त श्रेष्ठ तत्त्वोंका कथन करने वाले गणधरादिकने ध्रौव्य कहा है ॥३७-३८॥

आगे इन्हीं उत्पाद, व्यय ीर ध्रौव्यके स्वरूपको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

मालिनी

यदपि मनुजभावैः संयुतः कोऽपि जीवो
व्यपगतनरभावः सेन्द्रवृन्देषु जातः ।
अनुभवति स तत्रामन्दसंमोदभारं
तदपि न खलु नष्टो नैजजीवत्वभावैः ॥३९॥

उपजाति

हारस्वभावेन भृतः स कश्चिच्
चामीकरो मेखलया प्रजातः ।
नितम्बबिम्बेषु नितम्बिनीनां
विशोभते यद्यपि मन्द्ररावः ॥४०॥
चामीकरत्वेन यथा तथापि
नष्टो न स स्वर्णभरो जगत्याम् ।
तथा समस्तं किल वस्तुजात—
मुत्पादभावादिमृतं समस्ति ॥४१॥

[युग्मम्]

अर्थ—जैसे कोई जीव मनुष्यभावसे सहित है वह मनुष्यभावके नष्ट होनेपर देवसमूहमें उत्पन्न होकर वहाँके बहुत भारी सुखसमूहका उपभोग करता है तो भी वह अपने जीवत्वभावकी अपेक्षा नष्ट नहीं हुआ है।

भावार्थ यह है कि यद्यपि देवपर्यायका उत्पाद और मनुष्यपर्यायका व्यय हुआ है तथापि जीवत्वसामान्य, दोनों पर्यायोंमें ध्रौव्यरूपसे विद्यमान है ॥३९॥ दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे हारपर्यायसे सहित कोई सुवर्ण मेखला हो गया। अर्थात् हार को मिटाकर किसीने मेखला बनवा ली। वह मेखला यद्यपि गम्भीर शब्द करती हुई स्त्रियोंके नितम्ब स्थलोंपर सुशोभित होती है तथापि पृथिवीपर जिसप्रकार वह सुवर्ण, सुवर्णत्व सामान्यकी अपेक्षा नष्ट नहीं हुआ है उसीप्रकार समस्त वस्तुओंका समूह उत्पादादि पर्यायोंसे सहित है। भावार्थ—हारकी मेखला बनवानेपर यद्यपि हारपर्यायका व्यय और मेखलापर्यायका उत्पाद हुआ है तथापि सुवर्णसामान्य दोनों पर्यायोंमें ध्रौव्यसे विद्यमान है।

विशेषार्थ—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों एक कालमें होते हैं और उनका कथन पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा है। जैन सिद्धान्तमें वस्तुको न तो बौद्धदर्शनके समान सर्वथा क्षणिक ही माना है जिससे उसमें उत्पाद और व्यय होता रहे और न सांख्यदर्शनके समान सर्वथा नित्य माना है, जिससे एक ध्रौव्य ही रहे। वस्तु द्रव्य तथा पर्यायरूप है अतः उसे जैन सिद्धान्तमें नित्यानित्यरूप स्वीकृत किया गया है। उत्पाद और व्यय, वस्तुके अनित्य अंशको ग्रहण करते हैं और ध्रौव्य, नित्य अंशको ग्रहण करता है। वस्तुमें रहनेवाले प्रदेशवत्त्वगुणकी अपेक्षा जब विचार होता है तब वस्तुके आकारमें परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इसी परिवर्तनकी अपेक्षा उत्पाद व्ययका व्यवहार होता है। और जब वस्तुमें रहनेवाले अस्तित्वगुणकी अपेक्षा विचार होता है तब ध्रौव्यका व्यवहार होता है ॥३९-४१॥

आगे ये उत्पादादिक समस्त द्रव्योंमें प्रतिसमय होते हैं, यह कहते हैं—

समये समये नूनं सर्वभावेषु जायते।
सर्वत्र युगपल्लोके ह्युद्भूतिप्रभृतित्रयम् ॥४२॥
धर्मेऽधर्मे तथा काले मुक्तजीवविहायसोः।
इतरत्रापि द्रव्येष्वालम्ब्य कालसहायताम् ॥४३॥
उत्पादादित्रयं लोके स्यादगुरुलघुत्वतः।
एवं न वर्तते कश्चिदुत्पादादित्रयोज्झितः ॥४४॥

अर्थ—जगत्‌में ये उत्पादादि तीन सर्वत्र समस्त द्रव्योंमें प्रत्येक समय एक साथ होते रहते हैं ॥४२॥ धर्म, अधर्म, काल, मुक्तजीव और आकाश तथा संसारी जीव और पुद्गल द्रव्यमें काल द्रव्य की सहायता पाकर अगुरुलघुगुणके कारण उत्पादादि तीनों प्रतिसमय होते हैं। इस प्रकार लोकमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उत्पादादि तीनसे रहित हो। भावार्थ—पुद्गल और उससे सहित संसारी जीवद्रव्यमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सरलतासे समझमें आ जाते हैं परन्तु धर्म, अधर्म, काल, मुक्तजीव और आकाश इन अमूर्तिक द्रव्योंमें होनेवाला उत्पादादिक सरलतासे बुद्धिमें नहीं आते। उनके लिये आचार्योंने कहा कि प्रत्येक द्रव्यमें रहनेवाले अगुरुलघुगुणके कारण उनमें प्रत्येक समय जो षड्गुणी हानि-वृद्धि चलती है उसकी अपेक्षा उत्पादादि तीनों सिद्ध होते हैं। अमूर्तिक द्रव्योंके परिणमनका ज्ञान आगमप्रमाणसे होता है ॥४३-४४॥

आगे शङ्का-समाधानके द्वारा अलोकाकाशमें भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका सद्भाव दिखाते हैं—

शंका

कालाभावे कथं तत्स्यान्नन्वलोकविहायसि।
न कालमन्तरा लोके यस्माद्भावः प्रजायते ॥४५॥
उत्पादादित्रयाभावे द्रव्यत्वं जायते कथम्।
द्रव्याभावे च शून्यत्वं तस्य केन निवार्यताम् ॥४६॥

अर्थ—कोई प्रश्न करता है कि अलोकाकाशमें कालद्रव्यका अभाव होनेपर उत्पादादि कैसे हो सकते हैं? क्योंकि लोकमें कालकी सहायताके बिना कोई पर्याय होती नहीं है। उत्पादादित्रिकके बिना अलोकाकाशमें द्रव्यत्व कैसे हो सकता है और द्रव्यत्वके बिना उसकी शून्यता किसके द्वारा रोकी जा सकती है? ॥४५-४६॥

समाधान

नैवं यतो नभोऽखण्डं द्रव्यमेकं विराजते।
तेनैकांशे परीणामादन्यत्रापि स जायते ॥४७॥
अखण्डवेणुदण्डस्यैकप्रदेशे प्रकम्पनात्।
प्रकम्पन्ते न किं तस्य सर्वेंऽशाः किल सर्वतः ॥४८॥

अर्थ—ऐसा नहीं है, क्योंकि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है अतः उसके एक देशमें परिणमन होनेसे उसके अन्य प्रदेशोंमें भी परिणमन होता है।

जैसे अखण्ड बाँसके एक देशमें कम्पन होनेसे क्या उसके समस्त अंश कम्पित नहीं हो जाते ? अर्थात् अवश्य हो जाते हैं।

भावार्थ—लोकाकाश और अलोकाकाशका भेद होनेपर भी आकाश एक ही अखण्ड द्रव्य है। अतः लोकाकाशमें जो कालद्रव्य है उसीकी सहायतासे अलोकाकाशमें भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध हो जाते हैं। जिस प्रकार अखण्ड बाँसके एक देशमें आघात होनेसे उसके सब प्रदेश कम्पित हो जाते हैं उसीप्रकार लोकाकाशमें कालद्रव्यके सद्भावसे ही अखण्ड अलोकाकाशमें उत्पादादि सिद्ध हो जाते हैं ॥४७-४८

आगे गुणोंका लक्षण कहते हैं—

गुणा द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता निर्गुणाश्च मुनीश्वरैः।
सामान्येतरभेदेन ते पुनर्द्विविधा मताः ॥४९॥
अस्तित्वं चापि वस्तुत्वं द्रव्यत्वं प्रमेयता।
अमूर्तत्वं च मूर्तत्वं चेतनत्वं प्रदेशिता ॥५०॥
चेतनारहितत्वञ्च ह्यगुरुलघुतादयः।
गुणाः साधारणाः प्रोक्ता निरन्ता अन्तकान्तकैः ॥५१॥
ज्ञप्तिदृष्टिरसस्पर्शादयोऽसाधारणास्तु ते।
त एव वस्तुनो वस्तु पृथक् कर्तुं किलेश्वराः ॥५२॥

अर्थ—जो द्रव्यके आश्रय रहें तथा स्वयं दूसरे गुणोंसे रहित हों उन्हें मुनिराजोंने गुण कहा है। वे गुण, सामान्य और विशेषके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं ॥४९॥ अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अमूर्तत्व, मूर्तत्व, चेतनत्व, प्रदेशवत्त्व, अचेतनत्व और अगुरुलघुत्व आदि अनन्त साधारण गुण, मृत्युको जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे गये हैं।

भावार्थ—जिस गुणके द्वारा वस्तु सत् रूप रहे उसे अस्तित्व गुण कहते हैं। जिसके द्वारा वस्तुमें परस्पर विरोधी अनेक धर्म रहें तथा जिसके निमित्तसे वस्तुमें अर्थक्रियाकारित्व रहे उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं। जिससे वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप हो उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं। जिसके कारण वस्तु किसी न किसी प्रमाणका विषय हो उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं। जिसके निमित्तसे वस्तु रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित हो उसे अमूर्तत्व गुण कहते हैं। जिसके कारण वस्तु रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे सहित हो उसे मूर्तत्व गुण कहते हैं। जिसके कारण वस्तु

ज्ञानदर्शनरूप चेतनासे युक्त हो उसे चेतनत्व गुण कहते हैं। जिसके निमित्त से वस्तु एक अथवा अनेक प्रदेशोंसे सहित हो उसे प्रदेशवत्त्व गुण कहते हैं। जिसके निमित्तसे वस्तु चैतन्यगुणसे रहित हो अर्थात् ज्ञान-दर्शनसे रहित हो उसे अचेतनत्व कहते हैं और जिसके निमित्तसे द्रव्यमें षड्गुणी हानि-वृद्धि हो अथवा द्रव्य अपने स्वरूपमें स्थिर रहे, अन्य रूप न हो उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं। इनमें अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्त्व और अगुरुलघुत्व ये छह गुण सब द्रव्योंमें व्याप्त होनेसे साधारण गुण हैं। अमूर्तत्व, जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच द्रव्यों में व्याप्त होनेसे साधारण गुण कहलाता है। मूर्तत्व गुण परमाणुरूप अनन्त पुद्‌गलद्रव्यमें व्याप्त रहनेसे साधारण गुण है और अचेतनत्व, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा कालमें व्याप्त रहनेसे साधारण गुण माना गया है ॥५०–५१॥ ज्ञान-दर्शन तथा रस-स्पर्श आदि असाधारण गुण हैं। ये असाधारण गुण ही वस्तुको अन्य वस्तुसे पृथक् करनेमें समर्थ हैं।

भावार्थ—चेतनत्व जीवद्रव्यका असाधारण गुण है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसे सहित होना पुद्‌गलद्रव्यका असाधारण गुण है। जीव तथा पुद्‌गल द्रव्यके लिए गतिमें सहायक होना धर्मद्रव्यका असाधारण गुण है। जीव और पुद्‌गलके लिये ठहरनेमें सहायक होना अधर्मद्रव्यका असाधारण गुण है। सब द्रव्योंको अवगाह देना आकाशका असाधारण गुण है तथा सब द्रव्योंकी अवस्थाओंके परिवर्तित होनेमें सहायक होना काल द्रव्यका असाधारण गुण है। इन असाधारण गुणोंके द्वारा ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे पृथक् भावको प्राप्त होता है ॥५२॥

आगे पर्यायका लक्षण कहते हैं—

परिणामाः पुनः प्रोक्ता भावा द्रव्यस्य च क्रमात् ।
जायमाना मनुष्याद्या घटमौलिपटादयः ॥५३॥
तत्रादिवर्जिताः केचित् केचन सादयो मताः ।
इत्याद्यनादिमत्त्वेन पर्याया द्विविधाः स्मृताः ॥५४॥

अर्थ—द्रव्यकी क्रमसे होने वाली अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। जैसे जीवकी मनुष्यादि और पुद्‌गलकी घट, मुकुट तथा वस्त्र आदि। उन पर्यायोंमें कितनी ही पर्यायें अनादि हैं और कितनी ही सादि मानी गयी हैं। इस प्रकार सादि और अनादिकी अपेक्षा पर्यायें दो प्रकारकी कही गई हैं।

भावार्थ—मूलमें पर्यायके दो भेद हैं—अर्थ पर्याय और व्यञ्जन-पर्याय। समय-समयमें होने वाली द्रव्यकी सूक्ष्म परिणतिको अर्थपर्याय कहते हैं और अनेक समयमें होनेवाली स्थूल पर्यायको व्यञ्जनपर्याय कहते हैं। अथवा प्रदेशवत्त्व गुणके कारण द्रव्यकी जो आकृति विशेष होती है उसे व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और अन्य गुणोंका जो परिणमन है उसे अर्थपर्याय कहते हैं। इन दोनों पर्यायोंके स्वभाव और विभावके भेदसे दो-दो भेद होते हैं अर्थात् स्वभाव अर्थपर्याय और विभाव अर्थपर्याय। स्वभाव व्यञ्जनपर्याय और विभाव व्यञ्जनपर्याय। जीव और पुद्गल-को छोड़कर शेष चार द्रव्योंकी स्वभाव अर्थपर्याय तथा स्वभाव व्यञ्जन पर्याय ही होती है उनमें विभावरूपता कभी नहीं आती है। परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्यमें दोनों प्रकारकी पर्याय होती है। सिद्ध परमेष्ठीके आत्मप्रदेशोंका जो चरम शरीरसे किञ्चित् न्यून पुरुषाकार परिणमन है यह उनकी स्वभाव व्यञ्जन पर्याय है और संसारी जीवका जो नर-नारकादिरूप परिणमन है यह उनकी विभाव व्यञ्जन पर्याय है। अरहन्त तथा सिद्ध भगवान्के केवलज्ञानादि गुणोंमें जो अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा हानिवृद्धि रूप परिणमन होता है वह स्वभाव अर्थपर्याय है और संसारी जीवोंके मतिज्ञानादि गुणोंमें जो हानिवृद्धिरूप परिणमन होता है वह विभाव अर्थपर्याय है। इसी प्रकार पुद्गलकी पर्यायोंमें भी स्वभाव और विभावका भेद लगा लेना चाहिये ॥५३–५४॥

आगे अस्तिकायका स्वरूप कहते हैं—

अस्तित्वे सति काया ये काया इव भवन्ति हि।
अस्तिकाया निरूप्यन्ते तेऽखिलज्ञजिनेश्वरैः ॥५५॥
अस्तिकायाः पुनः पञ्च भावा जीवादयो मताः।
कालस्त्वणुस्वरूपत्वान्नास्तिकायः प्रचक्ष्यते ॥५६॥

शंका

एकमेकप्रदेशित्वादणूनामस्तिकायता ।
कथं संघटते नाम ब्रूहि मे कृपयाधुना ॥५७॥

समाधान

शक्त्या बहुप्रदेशित्वमणूनामपि वर्तते।
ततो विरुध्यते तेषां न ह्यत्राप्यस्तिकायता ॥५८॥

इत्यजीवाभिधं तत्त्वं यः श्रद्धत्ते सुधीः सदा।
दृढता तस्य सद्दृष्टेर्भवतीति निरूपितम् ॥५९॥

अर्थ—जो द्रव्य अस्तिरूप रहते हुए काय—शरीरकी तरह बहुप्रदेशी होतेहैं वे सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवके द्वारा अस्तिकाय कहे जाते हैं ॥५५॥ जीवादिक पाँच पदार्थ अस्तिकाय माने गये हैं किन्तु काल द्रव्य अणुरूप—एकप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय नहीं कहलाता है ॥५६॥

शंका

इस तरह एकप्रदेशी होनेसे अणुओंमें अस्तिकायपना किस प्रकार घटित होता है ? कृपाकर अब यह कहिये ॥५७॥

समाधान

शक्तिकी अपेक्षा अणुओंमें भी बहुप्रदेशीपना विद्यमान है, इसलिये उनका अस्तिकायपन विरुद्ध नहीं है ॥५८॥ इस प्रकार जो बुद्धिमान् सदा अजीवतत्त्वका श्रद्धान करता है उसके सम्यग्दर्शनकी दृढ़ता होती है ॥५९॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिन्तामणिमें अजीवतत्त्वका वर्णन करने वाला पञ्चम मयूख समाप्त हुआ ॥

षष्ठो मयूखः

आगे आस्रवतत्त्वका वर्णन करनेके पूर्व मङ्गलाचरण करते हैं—

सकलसुरेन्द्रसमूहवन्दितो
विशदविबोधविलोकितावनिः ।
धवलयशोभरपूरिताम्बरो
जयति स कोऽपि जिनो जनाधिपः ॥१॥

अर्थ—जो समस्त इन्द्रसमूहके द्वारा वन्दित हैं, निर्मल ज्ञानके द्वारा जिन्होंने समस्त पृथिवीको देखा है और शुक्लकीर्ति समूहके द्वारा जिन्होंने आकाशको परिपूर्ण किया है वे अनिर्वचनीय जननायक जिनेन्द्र भगवान् जयवंत प्रवर्तते हैं ॥१॥

अब आस्रवका लक्षण तथा उसके भेद बताते हैं—

येनास्रवन्ति कर्माणि जलान्यात्मजलाशये ।
आस्रवः स च संप्रोक्तो निर्गतास्रवबन्धनैः ॥२॥
कश्चिच्छुभास्रवः कश्चिद् वर्तते ह्यशुभास्रवः ।
शुभोऽशुभो निजो भावः कारणं च तयोः क्रमात् ॥३॥
जीवानां सकषायाणामास्रवः साम्परायिकः ।
ईर्यापथश्च विज्ञेयः कषायरहितात्मनाम् ॥४॥
उपशान्तकषायादेर्भवेदीर्यापथास्रवः ।
ततोऽधश्चास्रवः प्रोक्तः साम्परायिकसंज्ञकः ॥५॥
पञ्चेन्द्रियाणि चत्वारः कषायाः पञ्चविंशतिः ।
क्रियाणामव्रतानां च पञ्चकं चेति संभिदाः ॥६॥
साम्परायिकसंज्ञस्य ह्यास्रवस्य निरूपिताः ।
ईर्यापथस्तु निर्भेदो भेदातीतैः प्रकीर्तितः ॥७॥
तीव्रभावात्तथा मन्द-भावतो ज्ञातभावतः ।
अज्ञातभावतो द्रव्यवीर्यस्यापि विशेषतः ॥८॥

विशेषो जायते तस्य भविनामास्रवस्य वै ।
कार्यभेदः कथं न स्याद्धेतुभेदेषु सत्स्वपि ॥९॥

अर्थ—जिसके द्वारा आत्मारूपी सरोवरमें कर्मरूपी जल आता है उसे बन्धसे रहित जिनेन्द्र भगवान्ने आस्रव कहा है ॥२॥ कोई आस्रव शुभास्रव है और कोई अशुभास्रव है अर्थात् आस्रवके शुभ और अशुभके भेदसे दो भेद हैं और उन दोनों भेदोंका कारण क्रमसे आत्माका शुभ अशुभ भाव है ॥३॥ कषायसहित जीवोंका आस्रव साम्परायिक और कषायरहित जीवोंका ईर्यापथ जानना चाहिये ॥४॥ उपशान्त कषायको आदि लेकर तेरहवें गुणस्थान तक ईर्यापथ आस्रव होता है और उसके नीचे साम्परायिक आस्रव कहा गया है। योग और कषाय—दोनों का अभाव हो जानेसे चौदहवें गुणस्थानमें कोई भी आस्रव नहीं होता है ॥५॥ पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पच्चीस क्रियाएँ और पाँच अव्रत ये सांपरायिक आस्रवके भेद कहे गये हैं। भेदसे रहित जिनेन्द्र भगवान्ने ईर्यापथ आस्रव-को भेदातीत कहा है ॥६–७॥

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, द्रव्य—अधिकरण और वीर्यकी विशेषतासे संसारी जीवोंके आस्रवमें विशेषता होती है। ठीक ही है क्योंकि कारणभेद होनेपर कार्यभेद क्यों नहीं होगा? अवश्य ही होगा ॥८–९॥

अब अधिकरणके दो भेद कहते हैं—

आर्या

जीवाजीवाः प्रोक्ता अधिकरणञ्चास्रवस्य तत्राद्यम् ।
संरम्भसमारम्भारम्भैर्योगैस्त्रिभिस्त्रिभिः पुंसाम् ॥१०॥
कृतकारितानुमोदैस्त्रिभिः कषायैश्चतुर्भिरागुणितम् ।
अष्टोत्तरशतभेदैः सुभृतं गीतं जिनेन्द्रचन्द्रेण ॥११॥

उपजाति

निक्षेपसंयोगनिवर्तनाश्च
पयोधियुग्मद्विकभेदयुक्ताः ।
त्रिधा विभिन्नश्च तथा निसर्ग-
आधार एव प्रमतो द्वितीयः ॥१२॥

अर्थ—आस्रवका जो अधिकरण भेद है उसके जीवाधिकरण और अजीवाधिकरणके भेदसे दो भेद कहे गये हैं। उनमें पहला जो जीवाधि-

करण आस्रव है उसे जिनचन्द्रने संरम्भ समारम्भ, आरम्भ, मन, वचन, काय ये तीन योग, कृत, कारित, अनुमोदना ये तीन और क्रोधादि चार कषायोंके द्वारा गुणित होनेपर एक सौ आठ प्रकारका कहा है ॥१०-११॥ दूसरा जो अजीवाधिकरण आस्रव है उसके चार निक्षेप, दो संयोग, दो निवर्तना और तीन निसर्गके भेदसे ग्यारह भेद कहे गये हैं। भावार्थ—अप्रमृष्ट निक्षेप, दुष्प्रमृष्ट निक्षेप, सहसानिक्षेप और अनाभोग निक्षेप, ये निक्षेपके चार भेद हैं। भक्तपान संयोग और उपकरण संयोग ये संयोगके दो भेद हैं। मूलगुणनिर्वर्तना और उत्तरगुणनिर्वर्तना, ये निर्वर्तनाके दो भेद हैं। और मनोनिसर्ग, वाङ्निसर्ग और कायनिसर्ग ये निसर्गके तीन भेद हैं ॥१२॥

आगे आस्रवके विस्तृत और संक्षेप भेद कहते हैं—

आर्या

पञ्चविधं मिथ्यात्वं द्वादशभेदैर्युता तथाऽविरतिः।
पञ्चदशभेदभिन्नस्तथा प्रमादस्तथादृशो योगः ॥१३॥
पञ्चविंशति कषायाश्चेति व्यासो निरूपितस्तस्य।
योगयुतश्च कषायस्तथास्रवस्यायमस्ति संक्षेपः ॥१४॥

अर्थ—पाँच प्रकारका मिथ्यात्व, बारह प्रकारकी अविरति, पन्द्रह प्रकारका प्रमाद, पन्द्रह प्रकारका योग, और पच्चीस कषाय, यह उस आस्रवका विस्तार है तथा योग और कषाय, यह उस आस्रवका संक्षेप है ॥१३-१४॥

आगे मिथ्यात्वके पाँच भेदोंका वर्णन करते हैं—

एकान्तं विपरीतं चाज्ञानं संशयसंयुतम्।
वैनयिकमिति प्रोक्तं मिथ्यादर्शनपञ्चकम् ॥१५॥
इदमेवेत्थमेवेति धर्मधर्मिविनिश्चयः।
एकान्ततां समादायैकान्तमिथ्यात्वमिष्यते ॥१६॥
निखिलं नित्यमस्तीदमनित्यं ह्येकमेव वा।
सर्वो ब्रह्ममयश्चैव लोकस्तत्रेति भावना ॥१७॥
केवली कवलाहारी नारीमोक्षोऽपि जायते।
एवं विरुद्धविश्वासो विपरीतं तदिष्यते ॥१८॥

हिताहितपरीक्षाया विरहो यत्र वर्तते ।
आज्ञानिकत्वमिथ्यात्वं विगीतं तन्महागमे ॥१९॥
सच्छ्रद्धा बोधचारित्रत्रितयं मोक्षपद्धतिः ।
भवेन्न वेति संशीतिर्जायते यत्र चेतसि ॥२०॥
समीरेरितकल्लोलवत् स्थिरं न मनो भवेत् ।
यत्र तत् किल मिथ्यात्वं सांशयिकं समुच्यते ॥२१॥
सर्वे देवास्तथा धर्माः समानाः सौख्यकारकाः ।
रुचिरेवं भवेद्यत्र वैनयिकं भवेत्तु तत् ॥२२॥

अर्थ—एकान्त, विपरीत, अज्ञान, संशय और वैनयिक, ये मिथ्यादर्शनके पाँच भेद कहे गये हैं ॥१५॥ 'यह ही है, ऐसा ही है' इस प्रकार एकान्तपनको लेकर धर्म और धर्मीका निश्चय करना एकान्त मिथ्यात्व माना जाता है ॥१६॥ इस मिथ्यात्वमें ऐसी भावना होती है कि 'समस्त वस्तु नित्य ही है, अथवा अनित्य ही है, एक ही है अथवा अनेक ही है और यह सर्वलोक ब्रह्ममय ही है ॥१७। केवली कवलाहारी है और द्रव्य स्त्रीको मोक्ष भी होता है' इस प्रकारका विरुद्ध विश्वास रखना विपरीत मिथ्यात्व माना जाता है। जिस मिथ्यात्वमें हित-अहितकी परीक्षाका अभाव होता है उसे परमागममें अज्ञानमिथ्यात्व कहा है ॥१९॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मोक्षके मार्ग हैं या नहीं, इस प्रकारका संशय जहाँ चित्तमें होता है तथा वायुसे प्रेरित तरङ्गके समान जहाँ मन स्थिर नहीं होता है वह सांशयिक मिथ्यात्व कहा जाता है ॥२१॥ सब देव और सब धर्म समान हैं तथा सुखके करने वाले हैं ऐसी रुचि जिसमें होती है वह वैनयिक मिथ्यात्व है ॥२०–२२॥

आगे बारह प्रकारकी अविरति कहते हैं—

इलाजलाग्निवातक्ष्माजातजङ्गमजीवताम् ।
हिंसनात् स्रोतसां षण्णां विषयेषु च वर्तनात् ॥२३॥
अविरतिः कषायाणामुदये जायते हि या ।
द्वादशधा समुक्ता साऽविरतिः सूरिसंचयैः ॥२४॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन छहकायके जीवोंकी हिंसा तथा छह इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्तिसे विरत नहीं होना,

यह कषायके उदयमें होनेवाली बारह प्रकारकी अविरति आचार्योंने कही है ॥२३-२४॥

अब पन्द्रह प्रकारके प्रमादका वर्णन करते हैं—

चतस्रो विकथाः प्रोक्ताश्चत्वारश्च कषायकाः ।
पञ्चाक्षी प्रणयो निद्रा प्रमादा दश पञ्च च ॥२५॥
नारीणां नृपतीनां च भक्तस्य विषयस्य च ।
रागद्वेषविशिष्टा याः कथास्ता विकथा मताः ॥२६॥
क्रोधो मानस्तथा माया लोभश्चेति कषायकाः ।
त्वग्जिह्वाघ्राणकर्णाक्षीणीन्द्रियाणि मतानि च ॥२७॥
निद्राकर्मोदयोत्पन्ना नेत्रमीलनकारिणी ।
देहशैथिल्यसंयुक्तावस्था निद्रा समुच्यते ॥२८॥
रतिकर्मसमुद्भूता प्रीतिर्जीवस्य या भवेत् ।
सा प्रीतिः प्रणयः स्नेहो हार्दं रागः समुच्यते ॥२९॥

अर्थ—चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा और स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद हैं ॥२५॥ स्त्रियों, राजाओं, भोजन और देशकी जो रागद्वेष युक्त कथाएँ हैं वे चार विकथाएँ मानी गई हैं ॥२६॥ क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ मानी गई हैं ॥२७॥ निद्रा कर्मके उदयसे उत्पन्न, नेत्रोंको निमीलित करने वाली, शरीरकी शैथिल्य युक्त अवस्था निद्रा कहलाती है ॥२८॥ रतिकर्मके उदयसे उत्पन्न जीवकी जो प्रीति है वह प्रीति, प्रणय, स्नेह, हार्द अथवा राग कहलाती है ॥२९॥

अब पच्चीस कषायोंका वर्णन करते हैं—

कोपादयश्च हास्याद्याः कषायाः पञ्चविंशतिः ।
सन्तीत्थं निगदन्तीह गाहितग्रन्थसिन्धुभिः ॥३०॥
सामान्यतो भवेदैक्यं कषायानवधानयोः ।
नानात्वं तत्र पश्यन्ति प्रपञ्चाञ्चितचक्षुषः ॥३१॥

अर्थ—क्रोधादिक सोलह और हास्यादिक नो—दोनों मिलकर पच्चीस कषाय हैं ऐसा शास्त्ररूपी समुद्रमें अवगाहन करने वाले—ज्ञानी जन कहते हैं।

भावार्थ—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इन चारके क्रोध मान माया और लोभकी अपेक्षा चार-चार भेद होते हैं अतः कषायके सोलह भेद हुए। तथा हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नोकषायके भेद है। दोनों मिलकर कषायके पच्चीस भेद होते हैं ॥३०॥

सामान्यसे कषाय और प्रमादमें एकरूपता है परन्तु विस्तारकी रुचि रखनेवाले नानारूपताको देखते हैं ॥३१॥

आगे योगके पन्द्रह भेद कहते हैं—

चत्वारश्चेतसो योगाश्चत्वारो वचसस्तथा।
काययोगाश्च सप्तैते योगाः पञ्चदश स्मृताः ॥३२॥

अर्थ—सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग, इस प्रकार मनोयोगके चार भेद हैं। सत्यवचनयोग, असत्य वचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभयवचन योग, इस प्रकार वचनयोगके चार भेद हैं। और औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारक-मिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग, ये काययोगके सात भेद हैं। सब मिलकर योगके पन्द्रह भेद हैं ॥३२॥

आगे गुणस्थानोंकी अपेक्षा आस्रवके भेदोंका वर्णन करते हैं—

तत्रादिमे गुणस्थाने सन्त्येतान्यखिलान्यपि।
चतुर्थान्तेषु विद्यन्तेऽविरतिप्रभृतीनि च ॥३३॥
प्रमादादीनि षष्ठान्ते सूक्ष्मान्तेषु च धामसु।
कषाययोगौ विद्येते शान्तमोहादिधामसु ॥३४॥
योगमात्रमयोगे तु नास्ति बन्धस्य कारणम्।
एवं सामान्यतो भेदा ह्यास्रवस्य निरूपिताः ॥३५॥

अर्थ—आस्रवके उपर्युक्त भेदोंमेंसे प्रथम गुणस्थानमें सभी भेद हैं। अविरति आदि चतुर्थ गुणस्थान तक हैं, प्रमादादि, छठवें गुणस्थान तक हैं, सूक्ष्मसाम्पराय तक कषाय और योग दो भेद हैं, उपशान्तमोह आदि-में योग मात्र है और अयोगकेवलीके बन्धका कारण सर्वथा नहीं हैं। इस प्रकार सामान्यसे आस्रवके भेद कहे गये हैं ॥३३-३५॥

अब विशेषरूपसे ज्ञानावरणकर्मके आस्रव कहते हैं—

प्रदोषनिह्नवासादनोपघातान्तरायकाः ।
ईर्ष्या च बोधविषये साभिप्रायं विनिर्मिता ॥३६॥
अकालाध्ययनश्रद्धाऽभावोपाध्यायशत्रुता ।
अभ्यासानवधानत्वं श्रवणानादरस्तथा ॥३७॥
तीर्थरोधो बहुज्ञत्वगर्वो मिथ्योपदेशनम् ।
विदुषाञ्च तिरस्कारः प्रलापोत्सूत्रभाषणे ॥३८॥
लोकोत्तरश्च पाण्डित्यमात्मपक्षपरिग्रहे ।
आत्मपक्षपरित्यागाबद्धः शास्त्रस्य विक्रिया ॥३९॥
साध्यपूर्वकबोधाधिगमप्राणातिपातने ।
इत्यादयश्च विज्ञेया आस्रवा बोधवैरिणः ॥४०॥

अर्थ—ज्ञानके विषयमें किये गये प्रदोष, निह्नव, आसादन, उपघात, अन्तराय, अभिप्रायपूर्वक की गई ईर्ष्या, अकाल अध्ययन, श्रद्धाका अभाव, गुरुजनोंके साथ शत्रुता, अभ्यास करनेमें असावधानी, शास्त्रश्रवणमें अनादर, धर्मप्रवृत्तियोंमें बाधा, अपनी बहुज्ञताका अहंकार, मिथ्या उपदेश, ज्ञानीजनोंका तिरस्कार, निष्प्रयोजन बकवास, शास्त्रविरुद्धभाषण, अपना पक्ष समर्थन करनेमें अत्यधिक पाण्डित्य, अपना मिथ्यापक्ष छोड़नेमें अतत्परता, शास्त्रोंका खराब करना अथवा शास्त्रविक्रय—शास्त्रोंको बेचना, किसी खास वस्तुकी सिद्धिका अभिप्राय रखकर कोई बात बताना और ज्ञानप्राप्तिके उद्देश्यसे प्राणातिपात-जीवघात करना इत्यादि कार्य ज्ञानावरण कर्मके आस्रव जानना चाहिये ॥३६-४०॥

आगे दर्शनावरण कर्मके आस्रव बतलाते हैं—

दर्शने निह्नवासादनोपघातान्तरायकाः ।
प्रदोषो ह्यनुसूया च लोचनोत्पाटनं तथा ॥४१॥
इन्द्रियप्रत्यनीकत्वमायतं शयनं पुनः ।
दिवास्वापस्तथालस्यं नास्तिक्यस्य परिग्रहः ॥४२॥
स्वदृष्टेर्गौरवं सम्यग्दृष्टेः संदूषणं तथा ।
कुतीर्थानां प्रशंसा च प्राणानां व्यपरोपणम् ॥४३॥

जुगुप्सा साधुसंवस्येत्यादयो दर्शनावृतेः ।
आस्रवा गदिताः सम्यग्ज्ञानरत्नाकरैर्जिनैः ॥४४॥

अर्थ—दर्शनके विषयमें किये गये, निह्नव, आसादन, उपघात, अन्तराय, प्रदोष, अनुसूया, नेत्रोंका उत्पाटन, इन्द्रियोंकी शत्रुता-नाश, दीर्घकाल तक शयन, दिनमें सोना, आलस्य, नास्तिकताको स्वीकृत करना, अपनी दृष्टिका गर्व करना, सम्यग्दृष्टिको दूषण लगाना, मिथ्या धर्मोंकी प्रशंसा करना, प्राणाघात और साधुसमूहकी निन्दा करना इत्यादि कार्य, सम्यग्ज्ञानके सागर जिनेन्द्र भगवान्‌ने दर्शनावरणकर्मके आस्रव कहे हैं ॥४१-४४॥

आगे असद्वेद्यके आस्रव कहते हैं—

दुःखं शोको वधस्तापः क्रन्दनं परिदेवनम् ।
आत्मेतरोभयस्थानं प्रयोगोऽप्यशुभस्य च ॥४५॥
परनिन्दातिपैशुन्यानुकम्पाविरहाः पुनः ।
परेषां परितापश्च तदङ्गोपाङ्गसन्ततेः ॥४६॥
छेदनं भेदनं किञ्च ताडनं त्रासनं तथा ।
तर्जनं भर्त्सनं तक्षणं विशंसनबन्धनम् ॥४७॥
रोधनं मर्दनं चापि दमनं वाहनं तथा ।
ह्रेपणं हेडनं कायरौक्ष्यश्चात्मप्रशंसनम् ॥४८॥
संक्लेशस्य समुत्पादो विद्या सत्त्वघातनम् ।
महारम्भो महाग्रन्थो विस्रम्भस्योपघातता ॥४९॥
मायाविशीलतापापजीवित्वानर्थदण्डनम् ।
विषस्य मिश्रणं पाशपञ्जरोपायसर्जनम् ॥५०॥
तथाचलाभियोगश्चेत्यादयो भुवि विश्रुताः ।
ज्ञेया अशुभवेद्यस्य ह्यास्रवा बहुदुःखकाः ॥५१॥

अर्थ—निज और परके विषयमें किये गये दुःख, शोक, वध, ताप, क्रन्दन, परिदेवन, अशुभप्रयोग, परनिन्दा, अतिपैशुन्य, अनुकम्पाका अभाव, दूसरोंको सन्ताप उत्पन्न करना, उनके अङ्गोपाङ्गोंका छेदना भेदना, ताड़ना, त्रास करना, तर्जना, तिरस्कृत करना, छीलना, वस्त्र

करना, बन्धन करना, रोकना, मर्दन करना, दमन करना, वाहन करना, लज्जित करना, अनादृत करना, शरीरको रूक्ष करना, अपनी प्रशंसा, संक्लेशकी उत्पत्ति, निर्दयता, जीवघात, बड़े-बड़े आरम्भ, अत्यधिक परिग्रह, विश्वासघात, मायाचारी, पापपूर्ण व्यापार, अनर्थदण्ड, विष मिलाना, जाल तथा पिंजड़ा आदिके उपाय बताना और उपयोगकी चपलता आदि जगत् प्रसिद्ध, बहुदुःखदायक असद्वेद्यके आस्रव जानना चाहिये ॥४४–५१॥

आगे सद्वेद्यके आस्रव दिखाते हैं—

भूतव्रत्यनुकम्पा च दानं वै रागिसंयमः ।
संयमासंयमोऽकामनिर्जरा बालसंयमः ॥५२॥
एषां योगस्तथा क्षान्तिः शौचं वृद्धतपस्विनाम् ।
वैयावृत्त्यं नमस्या च भूरिभक्तिभृतार्हताम् ॥५३॥
आर्जवो विनयश्चेत्यादयः सद्वेद्यकर्मणः ।
आस्रवा गुरुभिर्गीता भवसौख्यनिबन्धनाः ॥५४॥

अर्थ—संसारके समस्त प्राणी तथा व्रती जनोंपर अनुकम्पा, दान, सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालसंयम (बालतप) इन सबका योग तथा क्षान्ति, शौच, वृद्ध तपस्वियोंकी सेवा, अरहन्तोंकी भक्तिपूर्ण पूजा, आर्जव और विनय इत्यादि सद्वेद्यके आस्रव, गुरुजनोंने कहे हैं। ये आस्रव सांसारिक सुखको प्राप्त करानेवाले हैं ॥५२–५४॥

अब दर्शनमोहके आस्रव कहते हैं—

केवलिश्रुतसङ्घानां धर्मनाकनिवासिनाम् ।
अवर्णवाद इत्युक्ता दर्शनमोहनास्रवाः ॥५५॥

अन्तःकालुष्यदोषेण ह्यसद्भूतमलस्य च ।
उद्भावनं भवेद्वक्रोऽवर्णवादः खलप्रियः ॥५६॥

अर्थ—केवली, श्रुत, सङ्घ, धर्म और देव, इनका अवर्णवाद करना दर्शनमोहके आस्रव हैं ॥५५॥ अन्तरङ्गकी कलुषताके कारण दूसरेके अविद्यमान दोषको प्रकट करना अवर्णवाद है। यह अवर्णवाद, कुटिल तथा दुष्टजनोंको प्रिय होता है ॥५६॥

आगे कषायवेदनीयके आस्रव कहते हैं—

लोकानुग्रहतन्त्राणां सच्छ्रद्धाभावितात्मनाम् ।
तपस्विनां विनिन्दा च धर्मविध्वंसनं तथा ॥५७॥
एकदेशव्रताधारशीलादिगुणशालिनाम् ।
व्रतात्प्रच्यावनं मद्यमासमाक्षिक मोचिनाम् ॥५८॥
मनोविभ्रमकारित्वं वृत्तसंदूषणं तथा ।
संक्लिष्टलिङ्गवृत्ताविधारणं स्वपरात्मनाम् ॥५९॥
कषायोत्पादनं चैते संसारारण्यवारिदाः ।
कषायवेदनीयस्य ह्यास्रवा विनिरूपिताः ॥६०॥

अर्थ—लोकोपकारमें तत्पर तथा समीचीन श्रद्धासे युक्त तपस्वियोंकी निन्दा करना, धर्मका विध्वंस करना, एकदेशव्रतके धारक तथा शीलादि गुणोंसे सुशोभित पुरुषोंको व्रतसे च्युत करना, मद्य मांस मधुके त्यागी पुरुषोंके मनमें व्यामोह उत्पन्न करना, चारित्रमें दूषण लगाना, संक्लेशको बढ़ाने वाला वेष तथा कुचारित्रको धारण करना, और निज तथा परको कषाय उत्पन्न करना, ये सब संसार रूपी वनको हराभरा रखनेके लिये मेघ स्वरूप, कषायवेदनीयके आस्रव कहे गये हैं ॥५७–६०॥

अब अकषायवेदनीयके आस्रव कहते हैं—

उत्प्रहासोऽथ दीनानामभिहासित्वसंयुतः ।
मारोपहसनं भूरिप्रलापश्चापहासिता ॥६१॥
इति प्ररूपिता हास्य-वेदनीयस्य चास्रवाः ।
विचित्रक्रीडनोद्योगः परावर्जनशीलता ॥६२॥
रत्याख्यवेदनीयस्य हेतवो जिनदर्शिताः ।
परेषामरतिप्रादुर्भावनं रतिनाशनम् ॥६३॥
पापात्मजनसंसर्गः पापकार्यप्रवर्तनम् ।
प्रोत्साहो दुष्टकार्याणमकार्यकरणे रतिः ॥६४॥
अरतेर्नोकषायस्य हेतवो भवहेतवः ।
स्वकीयमोदसंगर्वः परदुःखविधायनम् ॥६५॥

परशोके समानन्दः शोकमोहस्य कारणम् ।
आत्मनो हि भयावेशः परस्य भयहेतुता ॥६६॥
भयमोहस्य मूलानि भाषितानि महर्षिभिः ।
रुजादिक्लिन्नजीवानां जुगुप्सागर्हणादयः ॥६७॥
जुगुप्सावेदनीयस्य ह्यास्रवाः समुदीरितः ।
प्रकृष्टक्रोधभावस्य परिणामोऽतिमानिता ॥६८॥
ईर्ष्याव्यापारमिथ्याभिधायिता बहुमायिता ।
परस्त्रीसङ्गसंप्रीतिर्वामाभावानुरूपिता ॥६९॥
भूरिरागश्च विज्ञेया वामावेदस्य हेतवः ।
ऋजुत्वं चाल्पकोपित्वमनहंकारवृत्तिता ॥७०॥
अलोभत्वाङ्गनासङ्गमन्दरागसुशीलताः ।
अनीर्ष्यित्वं बहुस्नानगन्धमालाद्युपेक्षिता ॥७१॥
एते ह्येतादृशश्चान्ये मारव्यथनहेतवः ।
पुंवेदवेदनीयस्य हेतवो मुनिभाषिताः ॥७२॥
प्रचुरक्रोधमानाद्या गुह्यथेन्द्रियविघातनम् ।
परस्त्रीरतिनैपुण्यं तीव्रानाचारयुक्तता ॥७३॥
इत्याद्याः क्लीववेदस्य हेतवोऽभिहिता जिनैः ।
इत्थं चारित्रमोहस्य ह्यास्रवा विनिरूपिताः ॥७४॥

अर्थ—दीन मनुष्योंकी हँसी उड़ाना, निरन्तर हास्यसे संयुक्त रहना, कामको उत्तेजित करनेवाले हास्य वचन बोलना, अत्यधिक बकवास करना, और दुःख-दायक हँसी करना, ये सब हास्यवेदनीयके आस्रव हैं। नाना प्रकारकी विचित्र क्रीडाओंमें तत्पर रहना तथा दूसरोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेका स्वभाव होना, रतिनोकषायके आस्रव जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहे हैं। दूसरोंको अप्रीति उत्पन्न करना, उनकी प्रीतिको नष्ट करना, पापी जनोंका संसर्ग करना, पापकार्योंमें प्रवृत्ति करना, दुष्ट कार्य करने वालोंको प्रोत्साहित करना, और न करने योग्य कार्योंमें प्रीति रखना, अरतिनोकषायके हेतु हैं। ये सब हेतु संसारके कारण हैं। अपने हर्षका गर्व करना, दूसरोंको दुःख उत्पन्न करना, और परके शोकमें

आनन्द मानना, शोकवेदनीयके आस्रव हैं। स्वयं अपने आपको भयभीत रखना तथा दूसरोंको भय उत्पन्न करना, भयनोकषायके कारण महर्षियों-के द्वारा कहे गये हैं। रोग आदिसे पीड़ित जीवोंपर ग्लानि तथा उनकी निन्दा आदि करना, जुगुप्सावेदनीयके आस्रव कहे गये हैं। तीव्र-क्रोधका भाव रखना, अत्यधिक मान करना, ईर्ष्यापूर्ण कार्य करना, मिथ्या भाषण करना, बहुत मायाचार करना, परस्त्रीके समागममें प्रीति करना, स्त्रियों-के समान हावभाव करना, और अत्यधिक राग करना; स्त्रीवेदके कारण हैं। मन, वचन, कायकी सरलता होना, अल्प क्रोध होना, अहंकार नहीं करना, लोभ नहीं करना, स्त्रीसमागममें मन्द रागका होना, ईर्ष्यालु नहीं होना, अधिक स्नान, गन्ध तथा माला आदिमें उपेक्षाभाव होना, ये तथा इनके समान कामपीडाके कारणभूत अन्य कार्य पुंवेद नोकषाय-के कारण मुनियोंके द्वारा कहे गये हैं। अधिक क्रोध तथा मान आदि करना, गुह्येन्द्रियका विघात करना, परस्त्रीके साथ रति करनेमें निपुणता होना, और तीव्र अनाचारसे युक्त होना इत्यादि नपुंसकवेदके आस्रव जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे गये हैं। इस प्रकार चारित्रमोहके आस्रव कहे गये ॥६१–७४॥

अब नरकायुके आस्रव कहते हैं—

मिथ्यादर्शनसंश्लिष्टाचारतोत्कृष्टमानता ।
शैलभेदनिभः क्रोधस्तीव्रलोभानुरागिता ॥७५॥
दैन्यं परस्य संतापवधबन्धनभावना ।
अजस्रं जीवसंघातपरिणामप्रवर्तनम् ॥७६॥
अलीकवचनालापः परस्वहरणं तथा ।
अन्यकान्तारतिस्तीव्रमूर्च्छा स्वच्छन्दचारिता ॥७७॥
निरनुग्रहशीलत्वं बह्वारम्भपरिग्रहः ।
कृष्णलेश्याभिसंजातरौद्रध्यानाभिषङ्गिता ॥७८॥
मृत्युवेलानृशंसत्वं साधुसिद्धान्तभेदनम् ।
नारकस्यायुषः प्रोक्ता इति क्लेशप्रदास्रवाः ॥७९॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन सहित आचारका परिपालन करना, उत्कृष्ट मान रखना, शैलभेदके समान क्रोधका होना, तीव्रलोभमें अनुराग रखना, दीनता करना, दूसरेके संताप, वध और बन्धनकी भावना रखना, निरन्तर

जीवघातके परिणाम करना, असत्य वचन बोलना, परधन हरण करना, परस्त्रीके साथ रति करना, तीव्रमूर्च्छा, स्वच्छन्द प्रवृत्ति, स्वभावसे किसी का उपकार नहीं करना, बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखना, कृष्ण-लेश्यामें होने वाले रौद्र ध्यानमें लीन रहना, मृत्युके समय क्रूरपरिणाम होना, और उत्तम-निर्दोष शास्त्रका खण्डन करना, ये सब, नरकायुके क्लेशदायक आस्रव हैं अर्थात् उपर्युक्त कारणोंसे नरकायुका बन्ध होता है ॥७५-७९॥

आगे तिर्यगायुके आस्रव कहते हैं—

मायामिथ्यात्वसंयुक्तकुधर्मस्याधिदेशना ।
अनल्पारम्भसङ्गत्वं मुग्धमानववञ्चनम् ॥८०॥
कूटकर्ममहीभेदनिभरोषाग्निदग्धता ।
निःशीलतातिसन्धाने पटुत्वं सन्धिभेदनम् ॥८१॥
अनर्थोद्भावनं वर्णवैपरीत्यविकाशनम् ।
जातेः कुलस्य शीलस्य गर्वः पूज्यव्यतिक्रमः ॥८२॥
सहधर्मविसंवादो मिथ्याजीवित्वमेव च ।
सद्गुणव्यपलापश्चासद्गुणस्थापनं तथा ॥८३॥
नीलकापोतलेश्याभिजातार्तध्यानदूषितम् ।
मरणं चेति विज्ञेयास्तिर्यगायुष आस्रवः ॥८४॥

अर्थ—माया और मिथ्यात्वसे सहित कुधर्मका अधिक उपदेश देना, बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहका होना, भोले मनुष्योंको ठगना, कूट-कर्म अर्थात् कपटपूर्ण कार्य करना, पृथिवीभेदके समान क्रोधाग्निसे दग्ध रहना, शीलका अभाव, अधिक ठगनेमें निपुणता, सन्धिको तोड़ना, अर्थ-का अनर्थ करना—विपरीत अर्थ प्रकट करना, किसी वस्तुके वर्ण बदल कर नकलीको असलीका रूप देना, जाति, कुल और शीलका गर्व करना, पूज्यपुरुषोंका अपमान करना, सहधर्मा बन्धुओंसे विसंवाद करना, मिथ्या कर्मोंसे जीविका करना, दूसरेके विद्यमान गुणोंको मेंटना और अपने अविद्यमान गुणोंको स्थापित करना, तथा नील और कापोत लेश्यामें होने वाले आर्त्तध्यानसे मरणका दूषित होना ये, सब तिर्यञ्च आयुके आस्रव जानना चाहिये ॥८०-८४॥

अब मनुष्यायुके आस्रव कहते हैं—

प्रकृत्या भद्रता नम्रशीलता मृदुता तथा ।
सुखप्रज्ञापनीयत्वमार्जवोचितमानसम् ॥८५॥
वालुकाराजिसदृक्षकोपस्तथ्यगवेषिता ।
प्रगुणव्यवहारश्च तुच्छारम्भपरिग्रहः ॥८६॥
संतोषाभिरतिः प्राण्युपघाताद्विरतिः पुनः ।
दुष्टकर्मनिवृत्तत्वं स्वागताद्यभिभाषणम् ॥८७॥
अमौखर्यं निसर्गेण माधुर्यं लोकरञ्जनम् ।
औदासीन्यमनीर्ष्यित्वमल्पसंक्लेशशालिता ॥८८॥
अतिथेः संविभागश्च गुरुदैवतपूजनम् ।
कपोतपीतलेश्याजधर्म्यध्यानसुसंगतम् ॥८९॥
मरणं चेति विज्ञेया मानुषोत्पत्तिहेतवः ।

अर्थ—स्वभावसे भद्रपरिणामी होना, नम्र स्वभावी होना, कोमल परिणामी होना, सुखसे समझाये जानेकी योग्यता, मनका आर्जव, धर्मसे युक्त होना, धूलिरेखाके समान क्रोधका होना, सत्यका अन्वेषी होना, सरल व्यवहार वाला होना, अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहका होना, संतोषमें प्रीति रखना, प्राणिहिंसासे विरत रहना, खोटे कार्योंसे दूर रहना, 'स्वागत' आदि शब्दोंके द्वारा वार्तालाप करना, कम बोलना, स्वभावसे मधुरता तथा लोकोंको अनुरञ्जित करना, उदासीनता, ईर्ष्याका अभाव, अल्प संक्लेशसे युक्त होना, अतिथिको दान देना, गुरु और देवकी पूजा करना, तथा कापोत और पीत लेश्यामें उत्पन्न होनेवाले धर्म्यध्यानके साथ मरण होना, ये मनुष्यायुके आस्रव हैं ॥८५-८९॥

आगे देवायुके आस्रव कहते हैं—

सरागसंयमः किञ्च संयमासंयमोऽपि च ॥९०॥
अकामनिर्जरा बालतपांसि स्वर्गिहेतवः ।
हतशीलव्रतत्वं च सम्यक्त्वं चापि नाकिनाम् ॥९१॥
आयुषः कारणं प्रोक्तं तत्त्वविद्भिर्महर्षिभिः ।

अर्थ—सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, और बालतप ये देवायुके कारण हैं। इनके सिवाय निःशीलव्रतत्व और सम्यक्त्व भी देवायु के कारण तत्त्वज्ञ महर्षियोंके द्वारा कहे गये हैं। ९०-९१॥

शंका

ननु सम्यक्त्वमस्तीदमात्मनः प्रमुखो गुणः ॥९२॥
नैष्कर्म्यहेतुतापन्नः शिवप्रासादपद्धतिः।
कथं संसारहेतुत्वमिह तस्यापि युज्यते ॥९३॥
ध्वान्तारिर्ध्वान्तकर्ता स्यादहो तत्त्वविडम्बना।

प्रश्न—कोई प्रश्न करता है कि यह सम्यक्त्व तो आत्माका प्रमुख गुण है, कर्मरहित अवस्थाकी प्राप्तिका कारण है तथा मोक्षमहलका मार्ग है फिर वह संसारका कारण कैसे हो सकता है? अन्धकारका शत्रु-सूर्य, अन्धकारका करनेवाला हो, यह तत्त्वकी विडम्बना है ॥९२-९३॥

समाधान

सत्यं, सम्यक्त्वकाले यो रागांशो वर्तते नृणाम् ॥९४॥
स एव देवहेतुः स्यात्सम्यक्त्वं तूपचारतः।
मुख्याभावे च सत्यर्थे ह्युपचारः प्रवर्तते ॥९५॥
येनांशेनास्य सद्दृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनम्।
जायते जातुचिन्नैव जगत्यामपि कस्यचित् ॥९६॥
येनांशेनास्य रागांशस्तेनांशेनास्य बन्धनम्।
जायते सततं पुंसामत्र का नु विडम्बना ॥९७॥

अर्थ—प्रश्न ठीक है, परन्तु सम्यक्त्वके कालमें मनुष्योंके जो रागांश होता है वही देवायुका आस्रव है, सम्यक्त्व तो उपचारसे देवायुका कारण कहा जाता है, क्योंकि मुख्यके अभावमें प्रयोजन रहते हुए उपचार प्रवर्तता है। जिस अंशसे इस जीवके सम्यक्त्व है उस अंशसे कभी बन्ध नहीं होता परन्तु जिस अंशसे रागांश होता है उस अंशसे निरन्तर पुरुषोंके बन्ध होता है, इसमें तत्त्वकी क्या विडम्बना है? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—किन्हीं किन्हीं आचार्योंने जघन्य रत्नत्रयको बन्धका कारण कहा है परन्तु वैसा कहनेमें उनकी यही विवक्षा है कि जघन्य रत्नत्रयके कालमें जो रागांश होता है वही बन्धका कारण है, रत्नत्रय

नहीं। जिस प्रकार गर्म घीसे जल जानेके कारण कहा जाता है कि यह घीसे जल गया परन्तु परमार्थसे घी जलनेका कारण नहीं है घीके साथ संयुक्त अग्नि ही जलनेका कारण है। मात्र साहचर्य सम्बन्धसे घीको जलने का कारण कहा जाता है उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये। बन्धके कारण तो योग और कषाय हैं। जघन्य रत्नत्रय न योग रूप है और न कषायरूप, फिर इससे बन्ध कैसे हो सकता है? परपदार्थसे भिन्न आत्मतत्त्वकी श्रद्धा होना सम्यक्त्व है। परपदार्थसे भिन्न ज्ञायकस्वभाव आत्माका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूपमें स्थिर रहना सम्यक्-चारित्र है। इनमें बन्धका कारण है ही क्या? ॥९४–९७॥

आगे अशुभनामकर्मके आस्रव बताते हैं—

विसंवादस्तथा योगत्रयाणां कापि वक्रता।
मिथ्यादर्शनपैशुन्यचलचित्तस्वभावताः ॥९८॥
कूटमानतुलादीनां साधनानां विनिर्मितिः।
सुवर्णमणिरत्नानामनुकारो दुराशया ॥९९॥
मिथ्यासाक्ष्यप्रदायित्वं यन्त्रपञ्जरसर्जनम्।
वर्णगन्धरसस्पर्शान्यथाभावनमेव च ॥१००॥
वस्तुष्वितरवस्तूनां सम्बन्धो बहुमायिता।
अन्यनिन्दा यशोगानमात्मनोऽनृतभाषणम् ॥१०१॥
परवित्तापहारश्च महारम्भपरिग्रहः।
उज्ज्वलवेषरूपाणां मदः कर्कशकीर्तनम् ॥१०२॥
मौखर्याक्रोशसौभाग्योपयोगा भूषणादरः।
वशीकारप्रयोगश्च परकौतुकनिर्मितिः ॥१०३॥
मन्दिरमाल्यधूपादिमोषणं च विडम्बनम्।
उपहासेष्टिकापाकदावपावकयोजनम् ॥१०४॥
प्रतिमायतनादीनां विनाशेष्वभियोगिता।
क्रोधाहंकारमायित्वं लोभिता पापकर्मभिः ॥१०५॥
जीविकाया विधानं चेत्यसतो नामकर्मणः।
कारणानि समुक्तानि जिनचन्द्रमसा किल ॥१०६॥

अर्थ—सहधर्मा बन्धुओंसे कलह करना, तीनों योगोंकी कोई अनिर्वचनीय कुटिलता, मिथ्यादर्शन, चुगलखोरी, चित्तकी चञ्चलताका स्वभाव होना, कमती-बढ़ती मानोन्मान तथा तराजू आदि साधनोंका निर्माण करना, ठगनेकी आशासे सुवर्ण, मणि तथा रत्नोंका कृत्रिम रूप बनाना, झूठी गवाही देना, यन्त्र तथा पिञ्जरोंका बनाना, वर्ण गन्ध रस तथा स्पर्शका परिवर्तन करना, अन्य वस्तुओंमें अन्य वस्तुओंका मिलाना, अधिक मायाचारी करना, दूसरेकी निन्दा करना, अपना यशोगान करना, मिथ्या भाषण करना, दूसरेके धनका अपहरण करना, अत्यधिक आरंभ वाले परिग्रहका रखना, अपने उज्ज्वल वेष तथा रूपका गर्व करना, कठोर वचन बोलना, बकवास करना, गाली आदि कुवचन बोलना, अपने सौभाग्यका प्रकाशन करना, आभूषण धारण करनेमें आदर रखना, वशीकरण मन्त्रका प्रयोग करना, दूसरोंको कौतूहल उत्पन्न करना, मंदिर की माला तथा धूप आदि सामग्रीका चुराना, किसीकी नकल करना, हँसी उड़ाना, ईंट पकानेका भट्टा लगवाना, वनमें आग लगाना, प्रतिमाओं के आयतन—मन्दिरोंके नष्ट करनेमें तत्पर रहना, क्रोध, अहंकार और और मायाचारी करना, तीव्र लोभ करना और पापकार्योंसे आजीविका करना, ये सब अशुभ नामकर्मके आस्रव जिनेन्द्रचन्द्रने कहे हैं ॥९८-१०६॥

आगे शुभनामकर्मके आस्रव कहते हैं—

> ऋजुयोगोऽविसंवादो धार्मिकाणां विलोकनम् ।
> संभ्रमः शुभभावानां धारणं भवभीरुता ॥१०७॥
> प्रमादवर्जनं चेति शुभनामास्रवा मताः ।
> भवन्त्येषां प्रभावेण गतिजात्यादिसौष्ठवम् ॥१०८॥

अर्थ—योगोंकी सरलता, कलहका अभाव, धार्मिक जनोंका आदर पूर्वक साक्षात्कार करना, उनके प्रति हर्ष प्रकट करना, अच्छे भावोंका धारण करना, संसारसे भयभीत रहना और प्रमादका छोड़ना ये सब शुभनामकर्मके आस्रव माने गये हैं। जिनके प्रभावसे उत्तम गति तथा जाति आदिकी प्राप्ति होती है ॥१०७-१०८॥

आगे तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रव कहते हैं—

> अथ वच्मि महापुण्यतीर्थकृत्कर्मकारणम् ।
> दृष्टिशुद्धिर्विनीतत्वं व्रतशीलाव्यतिक्रमः ॥१०९॥

नित्यं ज्ञानोपयोगश्च संवेगः शक्तितस्तपः ।
त्यागः साधुसमाधिश्च वैयावृत्यविनिर्मितिः ॥११०॥
अर्हदाचार्यविज्ञेषु भक्तिः प्रवचनेषु च ।
आवश्यकाक्षतिः सम्यग् जैनधर्मप्रभावना ॥१११॥
सधर्मवत्सलत्वं चेत्येताः षोडश भावनाः ।
व्यस्ता वाथ समस्ता वा तीर्थकृन्नामकर्मणः ॥११२॥
छद्मस्थाचिन्त्यमाहात्म्यवरवैभवकारिणः ।
आस्रवा मुनिभिर्गीता लोकाभ्युदयसाधकाः ॥११३॥

अर्थ—दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतानतिचार, नित्य ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्तप, शक्तितस्त्याग, साधुसमाधि, वैयावृत्य, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, विज्ञ –बहुश्रुतभक्ति, प्रवचन-भक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और सधर्म-वात्सल्य, ये सोलह भावनाएँ पृथक् पृथक् अथवा सब मिलकर छद्मस्थ जीवोंके द्वारा अचिन्तनीय माहात्म्यसे युक्त उत्कृष्ट वैभवको करनेवाले तीर्थंकर नामकर्मके आस्रव मुनियोंके द्वारा कहे गये हैं। ये भावनाएँ सांसारिक अभ्युदयको प्राप्त कराने वाली हैं ॥१०९–११३॥

आगे नीचगोत्रकर्मके आस्रव कहते हैं—

जातेः कुलस्य रूपस्य बलवित्ततपस्तते: ।
श्रुतप्रभावयोश्चापि मदोऽन्येषामनादरः ॥११४॥
उत्प्रहासोऽयशोगानं धार्मिकजननिन्दनम् ।
परकीर्तेर्विलोपश्च निजासत्कीर्तिकीर्तनम् ॥११५॥
गुरूणां च परीभावो दूषणख्यापनं तथा ।
विहेडनावमाने च भर्त्सनं गुणसादनम् ॥११६॥
अञ्जलिस्तुतिसंत्यागोऽनभिवादनमेव च ।
अन्यदीयगुणद्वेषो निजतुच्छगुणादरः ॥११७॥
निर्हेतुतीर्थनाथाक्षेपश्चेत्यादयः पुनः ।
आस्रवा मुनिभिर्गीता नीचैर्गोत्रस्य कर्मणः ॥११८॥

अर्थ—जाति, कुल, रूप, बल, धन, तप, ज्ञान और प्रभावका मद करना, दूसरोंका अनादर, उपहास, अकीर्तिगान, धार्मिकजनोंकी निन्दा,

दूसरेकी कीर्तिका लोप, अपनी असत्कीर्तिका कथन, गुरुओंका पराभव, दोष कथन, अनादर, अपमान, भर्त्सन, गुणोंका नाश, अञ्जलिबन्धन तथा स्तुतिका त्याग, नमस्कारका अभाव, दूसरोंके गुणोंसे द्वेष, अपने तुच्छ गुणोंका आदर और तीर्थंकर आदिकी अकारण निन्दा, इत्यादि नीचगोत्र कर्मके आस्रव मुनियोंके द्वारा कहे गये हैं ॥११४-११८॥

आगे उच्चगोत्रकर्मके आस्रव कहते हैं—

जातिरूपकुलज्ञानतपोवैभवशालिनः ।
आत्मोत्कर्षपरित्यागः परनिन्दादिवर्जनम् ॥११९॥
धर्मात्मनां सुसत्कारो वन्दना प्रणतिस्तथा ।
लोकोत्तरगुणैर्युक्तस्याप्यनुत्सिक्तवृत्तिता ॥१२०॥
अहंकारात्ययो नीचैर्वृत्तिता सदयात्मता ।
वह्नेर्भस्मावृतस्येव निजमाहात्म्यगोपनम् ॥१२१॥
धर्मसाधनवृन्देषु परमः संभ्रमस्तथा ।
इत्येते ह्यास्रवाः प्रोक्ता उच्चैर्गोत्रस्य कर्मणः ॥१२२॥

अर्थ—जाति रूप कुल ज्ञान तप तथा धन सम्पदासे सुशोभित होनेपर भी अपने आपके उत्कर्षका परित्याग करना, दूसरेकी निन्दा आदिको छोड़ना, धर्मात्माओंका उत्तम सत्कार करना, उन्हें वन्दना तथा प्रणाम करना, लोकोत्तर गुणोंसे युक्त होनेपर भी नम्रवृत्ति धारण करना, अहंकार नहीं करना, विनयसे रहना, दयालु होना, भस्मसे छिपी हुए अग्निके समान अपने माहात्म्यको छिपा कर रखना और धर्मात्माओंके समूहमें परम हर्षभाव प्रकट करना, ये सब उच्चगोत्रकर्मके आस्रव कहे गये हैं ॥११९-१२२॥

आगे अन्तरायकर्मके आस्रव कहते हैं—

बोधरोधः सुसत्कारोपघातो दानलाभयोः ।
भोगोपभोगवीर्येषु विघ्नौघस्य विनिर्मितिः ॥१२३॥
उत्तमाचारसम्पन्नगुरुचैत्यतपस्विनाम् ।
नमस्योपद्रवो दीनानाथवस्तुविराधनम् ॥१२४॥
परेषां बन्धनं रोधो गुह्याङ्गस्य विभेदनम् ।
नासिकाचर्मकर्णौष्ठपिच्छानां कर्तनादिकम् ॥१२५॥

विस्मयो भवसम्पत्तौ याचनात्यागवर्जनम् ।
देवद्रव्यपरिग्राहो धर्मतीर्थविनाशनम् ॥१२६॥
निर्दोषवस्तुसंत्यागः परवीर्यापहारणम् ।
निरूपिता जिनैरेते ह्यास्रवा विघ्नकर्मणः ॥१२७॥

अर्थ—दूसरेके ज्ञानमें बाधा करना, सत्कारका विनाश करना, दान लाभ भोग उपभोग और वीर्यमें विघ्नसमूहका उत्पन्न करना, उत्तम आचारसे सहित गुरु तपस्वी तथा प्रतिमाकी पूजामें विघ्न डालना, दीन तथा अनाथ लोगोंकी वस्तुओंकी विराधना करना, दूसरोंको बन्धनमें डालना, किसी स्थानमें उन्हें रोकना, गुह्य अङ्गोंका भेदन करना, नाक, त्वचा, कान, ओंठ तथा पूँछका काटना आदि, सांसारिक सम्पत्तिमें आश्चर्य करना, याचना त्यागको छोड़ना अर्थात् याचना करना, देव-द्रव्यको हड़पना, धर्मतीर्थका विनाश करना, निर्दोष वस्तुओंका त्याग करना और दूसरोंके वीर्यका विघात करना, ये सब अन्तरायकर्मके आस्रव जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहे हैं ॥ १२३–१२७॥

आगे संक्षेपसे शुभास्रवका कथन करते हैं—

जिनपूजाविधानेन विधिवत्पात्रदानतः ।
गुरूणां भक्तितो नित्यं शास्त्रस्वाध्यायकर्मणः ॥१२८॥
हिंसादिपञ्चपापानां देशतः सर्वतस्तथा ।
त्यागेन जायते पुंसामास्रवः शुभकर्मणाम् ॥१२९॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे, विधिवत् पात्रदान देनेसे, गुरुओं-की भक्तिसे, नित्य स्वाध्याय करनेसे तथा हिंसादि पाँच पापोंका एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करनेसे पुरुषोंके पुण्यकर्मका आस्रव होता है ॥ १२८–१२९॥

आगे भिन्न-भिन्न आस्रव बतलानेकी सार्थकता कहते हैं—

आयुःकर्मान्तरा पुंसां सततं सप्तकर्मणाम् ।
आस्रवो जायते हन्त दुरन्तव्याधिकारणम् ॥१३०॥
कथं तर्हि प्रदोषादेर्ज्ञानरोधादिहेतुता ।
विपाकबन्धवैशिष्ट्यकारणाद्युज्यते हि सा ॥१३१॥

अर्थ—कोई प्रश्न करता है कि जब प्रत्येक समय आयुकर्मको छोड़कर सात कर्मोंका अत्यधिक दुःखका कारणभूत आस्रव हो रहा है तब प्रदोषादिक ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रव हैं, यह कैसे बनता है? इस प्रश्नका उत्तर है कि प्रदोषादिक ज्ञानावरणादि कर्मोंके अनुभागबन्धमें विशेषताके कारण हैं, इसलिये सब कर्मोंके भिन्न-भिन्न आस्रवोंका वर्णन करना सार्थक है।

भावार्थ—जब आयुकर्मका बन्ध होते समय आठों कर्मोंका और शेष समय सात कर्मोंका बन्ध होता रहता है तब अमुक कार्य अमुक कर्मके बन्धमें कारण है अथवा उसका आस्रव है, यह कथन कैसे संगत होता है, ऐसा प्रश्न उठाकर उसका उत्तर दिया गया है कि जिस समय जिस कर्मके विशेष आस्रव होते हैं उस समय उस कर्मका स्थिति और अनुभाग बन्ध विशेष होता है। शेष कर्मोंका साधारण होता है ॥१३०-१३१॥

आगे आस्रवकी हेयताका वर्णन करते हैं—

वंशस्थ

सरन्ध्रनौकावरपृष्ठशायिनो
जना ब्रुडन्त्येव यथा महाम्बुधौ ।
तथास्रवाऽऽवर्जितचेतसो जना
ध्रुवं ब्रुडन्तीह महाभवाम्बुधौ ॥१३२॥

उपजाति

यथा जनानामशुभास्रवोऽयं
संसारकान्तारनिपातहेतुः ।
निरूपितो वीतमलैर्मुनीन्द्रै-
स्तथास्रवोऽयं गदितः शुभोऽपि ॥१३३॥

शुम्भत्कनत्काञ्चननिर्मितोऽपि
विचित्रनानामणिचित्रितोऽपि ।
ब्रूहीह पुंसां निगडो न किं स्याद्
दुःखाय लौहो निगडो यथा वै ॥१३४॥

ततो निरन्तं भवसागरं ये
जनास्तितीर्षन्ति निजोद्यमेन ।
मुञ्चन्तु शीघ्रं द्विविधास्रवं ते
सत्यास्रवे नास्ति हितस्य पन्था: ॥१३५॥

अर्थ—जिस प्रकार छिद्र सहित नौकाके उत्तम पृष्ठपर शयन करने वाले मनुष्य नियमसे समुद्रमें डूबते हैं उसी प्रकार आस्रवसे युक्त चित्त-वाले जीव नियमसे इस संसाररूपी महासागरमें डूबते हैं ॥१३२॥ जिस प्रकार यह अशुभास्रव प्राणियोंको संसाररूपी अटवीमें पड़नेका कारण है उसी प्रकार यह शुभास्रव भी वीतराग मुनियोंके द्वारा संसाररूपी अटवी में पड़नेका कारण कहा गया है ॥१३३॥ शोभायमान तथा देदीप्यमान सुवर्णसे निर्मित होकर और नाना प्रकारके मणियोंसे चित्रित भी बेड़ी क्या पुरुषोंके लिये लोहकी बेड़ीके समान निश्चयसे दुःखके लिये नहीं होती ? अर्थात् अवश्य होती है ॥१३४॥ इसलिये जो मनुष्य अपने उद्यम-से अनन्त संसारसागरको पार करना चाहते हैं वे शीघ्र ही दोनों प्रकार-के आस्रवको छोड़ें, क्योंकि आस्रवके रहते हुए हितका मार्ग प्राप्त नहीं होता है ॥ भावार्थ—यहाँ मोक्षप्राप्तिमें बाधक होनेसे शुभास्रवको हेय कहा है परन्तु सांसारिक सुख-सुविधाकी प्राप्तिमें सहायक होनेसे शुभा-स्रवको कथंचित् उपादेय भी कहा है क्योंकि अशुभास्रवके द्वारा नरक और निगोदरूप तिर्यञ्च गतिकी प्राप्ति होती है जहाँ पहुँचनेपर कल्याण-का मार्ग दुर्लभ हो जाता है। शुभास्रवके द्वारा उत्तम मनुष्य तथा देवगति-की प्राप्ति होती है जहाँ पहुँचकर यह जीव सरलतासे सम्यक्त्व आदि गुणोंको प्राप्त कर सकता है। पश्चात् कर्मभूमिका मनुष्य हो मोक्षको प्राप्त होता है ॥१३५॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिन्तामणिमें आस्रवतत्त्वका वर्णन करनेवाला छठवाँ मयूख समाप्त हुआ।

●

सप्तमो मयूखः

मङ्गलाचरण

स्रग्धरा छन्द

मोहग्राहावकीर्णं विविधमनसिजव्याधिनागावलीढं
तृष्णाहव्याशराशिक्वथितजनमनोदुःखपानीयपूर्णम् ।
संसाराब्धिं ह्यपारं निजभुजयुगलामन्दवीर्येण तीर्णा
ये तान्नौमि प्रभक्त्या निखिलगुणयुतान् श्रीजिनेन्द्रान-
निन्द्यान् ॥१॥

अर्थ—मोहरूपी मगर-मच्छोंसे व्याप्त, नाना प्रकारकी कामबाधारूपी सर्पोंसे सहित तथा तृष्णारूपी अग्निके समूहसे खोलते हुए मनुष्योंके मानसिक दुःखरूपी जलसे पूर्ण पाररहित संसार-सागरको जिन्होंने अपने भुजयुगलके बहुत भारी पराक्रमसे पार किया है, मैं समस्त गुणोंसे सहित उन स्तुत्य जिनेन्द्र भगवान्‌की उत्कृष्ट भक्तिसे स्तुति करता हूँ ॥१॥

आगे बन्ध और उसके कारणोंका निरूपण करते हैं—

आत्मनः कर्मभिः साकमेकक्षेत्रावगाहनम् ।
नीरक्षीरमिव प्राहुर्बन्धं सत्सूरिसंचयाः ॥२॥
जीवोऽयं सकषायत्वात्कर्मप्रायोग्यपुद्गलान् ।
समये समये नूनं निरन्तानाददाति च ॥३॥
पुद्गलास्तेऽपि जीवस्य परिणामं निबन्धनम् ।
प्राप्य स्वयं विवर्तन्ते कर्मभावेन सन्ततम् ॥४॥
अर्थोऽयमत्र जीवस्य पुद्गलस्यापि विद्यते ।
कापि वैभाविकी शक्तिर्निरन्ता चादिवर्जिता ॥५॥

स्वभावेन विभावेन द्वेधा तस्याः प्रवर्तते ।
जीवपुद्गलयोर्नूनं परिणामश्चिरन्तनः ॥६॥
परिणामो विभावेन तदीयो यस्तु वर्तते ।
जीवपुद्गलयोर्बन्धकारणं स हि गीयते ॥७॥

अर्थ—आत्माका कर्मोंके साथ जो दूध और पानीके समान एक-क्षेत्रावगाह है उसे उत्तम आचार्योंके समूह बन्ध कहते हैं ॥२॥ यह जीव कषाय सहित होनेसे कर्मरूप होनेके योग्य अनन्त पुद्गलोंको निश्चयसे प्रत्येक समय ग्रहण कर रहा है और वे पुद्गल भी जीवके परिणामरूपी निमित्तकारणको पाकर स्वयं ही सदा कर्मरूप परिणमन करते हैं॥३-४॥ तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गलकी कोई अनादि अनन्त वैभाविकी शक्ति है ॥५॥ जीव और पुद्गलकी उस शक्तिका स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका परिणमन चिरकालसे हो रहा है । जीव और पुद्गल-को उस वैभाविकी शक्तिका जो विभाव परिणमन है निश्चयसे वही बन्ध-का कारण है ॥

भावार्थ—वैभाविकी शक्तिसे जीवमें राग-द्वेषरूप परिणमन करनेकी योग्यता है और कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्यमें कर्मरूप परिणमन करनेकी योग्यता है। अनादि कालसे जीवका कर्मोंके साथ सम्बन्ध चला आ रहा है। पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे जीवमें रागादिभाव उत्पन्न होते हैं और रागादि भावोंके निमित्तसे कार्मणवर्गणा रूप पुद्गलद्रव्यमें कर्मरूप परिणमन होता है। रागादिक तथा कर्मोंमें यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनादिकालसे चला आ रहा है। अनादि वस्तुमें कौन पहले और कौन पीछे, इसका निरूपण नहीं होता है। इसलिये यहाँ यह नहीं कहा जा सकता है कि पहले रागादिक होते हैं या कर्म पहले होते हैं। उपादान कारणकी अपेक्षा रागादिककी उत्पत्तिका उपादानकारण स्वयं आत्मा है और कर्मका उपादानकारण स्वयं पुद्गलद्रव्य है क्योंकि रागादिरूप परिणमन स्वयं आत्माका होता है और कर्मरूप परिणमन स्वयं पुद्गलद्रव्यका। परन्तु निमित्तकारणकी अपेक्षा रागादिकका निमित्तकारण चारित्रमोहकी उदयावस्था है और कर्मका निमित्तकारण जीवका रागादिभाव ॥६-७॥

आगे बन्धके भेद कहते हैं—

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्विधो गीतः ।
बन्धो बन्धविमुक्तैर्जिनचन्द्रैर्दिव्यबोधधरैः ॥८॥

अर्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धके भेदसे बन्धसे रहित तथा दिव्य ज्ञानके धारक जिनेन्द्र भगवान्ने बन्ध चार प्रकारका कहा है ॥८॥

अब प्रकृतिबन्धका लक्षण कहते हैं—

निसर्गः प्रकृतिः शीलं स्वभावः सहभावता ।
एकार्थका मता ह्येते शब्दाः शब्दसरित्पतौ ॥९॥
यथेक्षोर्मधुरं शीलं मिचुमर्दस्य तिक्तता ।
आम्लता बीजपूरस्यामलक्याश्च कषायता ॥१०॥
तथा बोधावृतेर्ज्ञेया प्रकृतिर्बोधरोधिता ।
दर्शनावरणस्यापि दर्शनावृतिता मता ॥११॥
सुखासुखप्रदायित्वं वेदनीयस्य कर्मणः ।
मत्तता मोहनीयस्य परतन्त्रत्वमायुषः ॥१२॥
नाम्नः शरीरवैचित्र्यं गोत्रस्याहीनहीनता ।
विघ्नस्य विघ्नकारित्वं शीलं संकीर्तितं बुधैः ॥१३॥

अर्थ—निसर्ग, प्रकृति, शील, स्वभाव और सहभावता ये शब्द, शब्दार्णव—शब्दरूपी सागरमें एकार्थ वाचक माने गये हैं ॥९॥ जिस प्रकार ईखका स्वभाव मधुर, नीमका कडुआपन, बीजपूर-बिजौराका खट्टा और आँवलाका कषायला है उसी प्रकार ज्ञानावरणका स्वभाव ज्ञानको आच्छादित करना, दर्शनावरणका स्वभाव दर्शनको रोकना, वेदनीय कर्मका सुख-दुःख देना, मोहनीयका मत्त करना, आयुका शरीरमें परतन्त्र करना, नामका शरीरमें विचित्रता-विविधरूपता उत्पन्न करना, गोत्रका उच्च-नीचका व्यवहार उत्पन्न करना और अन्तरायका विघ्न करना स्वभाव, ज्ञानीजनोंके द्वारा कहा गया है ॥९-१३॥

आगे प्रकृतिबन्धके भेद और उनके उदाहरण कहते हैं—

आद्योऽष्टधा भवेत्तत्र ज्ञानदर्शनवैरिणोः ।
वेद्यमोहायुषां नाम्नो भेदतो गोत्रविघ्नयोः ॥१४॥

उपजाति

पटप्रतीहारजनासिमद्यकारालयाश्चित्रकराः कुलालः ।
कोशाधिपश्चेति भवेद्यथैषां भावस्तथैवाखिलकर्मणाञ्च ॥१५॥

अर्थ—पट (परदा), द्वारपाल, खड्ग, मद्य, कारावास, चित्रकार, कुम्भकार और कोशाध्यक्ष—खजानची, इनका जैसा भाव होता है वैसा ही भाव इन ज्ञानावरणादि कर्मोंका होता है ॥१४-१५॥

आगे कर्मोंमें घातिया और अघातिया कर्मोंका भेद कहते हैं—

आवरणद्वयं मोहो विघ्नश्चेति चतुष्टयम् ।
कर्मणां हि भवेत्तत्र घातिसंज्ञासमन्वितम् ॥१६॥
वेद्यायुर्नामगोत्राणां चतुष्कं कर्मणां तथा ।
सिद्धार्थनृपपुत्रेणाघातिनाम्ना प्रकीर्तितम् ॥१७॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिसंज्ञासे सहित हैं ॥१६॥ और वेदनीय आयु नाम तथा गोत्र ये चार कर्म भगवान् महावीर स्वामीके द्वारा अघातिनामसे कहे गये हैं ॥१७॥

आगे घाति और अघाति कर्मोंके कार्य कहते हैं—

दर्शनं केवलज्ञानमनन्तं च पराक्रमम् ।
सम्यक्त्वं प्रक्षयोद्भूतं क्षायोपशमिकांस्तथा ॥१८॥
निघ्नन्ति घातिकर्माणि मत्यादींश्च निरन्तरम् ।
घातीन्येव महाशत्रून् ज्ञात्वा शीघ्रं निवर्तय ॥१९॥

अर्थ—घातियाकर्म, केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्तवीर्य और क्षायिक सम्यक्त्व तथा मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक गुणोंको निरन्तर घातते हैं । इसलिये घातियाकर्मोंको ही महाशत्रु जानकर शीघ्र ही नष्ट करो ॥१८-१९॥

कर्मोदयसमुद्भूतमोहवर्धितसंसृतौ ।
आयुः करोति जीवस्यावस्थानं तुहली यथा ॥२०॥

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गगन्धादिसंगतिम् ।
नामानेकविधं कर्म कुरुते निजशक्तितः ॥२१॥
उच्चैर्नीचैर्भवेद् गोत्रं गोत्रकर्मप्रभावतः ।
सन्तानप्रक्रमायातजीवाचारस्तु गोत्रकम् ॥२२॥
ददाचिच्छर्मसंभारमसातं च कदाचन ।
वेदनीयप्रभावेण नरो वेद्यते भवे ॥२३॥

अर्थ—कर्मोदयसे उत्पन्न और मोहसे बढ़ाये हुए संसारमें आयु कर्म जीवके अवस्थानको उस प्रकार करता है जिस प्रकार काठका खोड़ा मनुष्यका अवस्थान करता है ॥२०॥ अनेक प्रकारका नामकर्म अपनी शक्तिसे जीवका गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग और गन्ध आदिके साथ समागम करता है ॥२१॥ गोत्रकर्मके प्रभावसे इस जीवका उच्च और नीच गोत्र होता है। सन्तानकी परम्परासे आया हुआ जीवका आचरण गोत्र कहलाता है ॥२२॥ वेदनीयकर्मके प्रभावसे यह मनुष्य संसारमें कभी सुख-समूहको और कभी दुःख-समूहका वेदन करता है ॥२३॥

आगे ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्रमका कथन करते हैं—

अर्थराशिमयं दृष्ट्वा पश्चाज्जानाति रोचते ।
ततश्च दर्शनं बोधः सम्यक्त्वं चात्मनो गुणः ॥२४॥
पूर्वमभ्यर्हितं ज्ञानं दर्शनं च ततः परम् ।
सम्यक्त्वं च ततो वीर्यं जीवाजीवगतं स्मृतम् ॥२५॥
घातित्वे विद्यमानेऽपि घातितुल्यं न वर्तते ।
निःशेषशोषणे शक्तिश्चान्तरायस्य कर्मणः ॥२६॥
नामादिमैश्यमासाद्य विदधाति निजेप्सितम् ।
विघ्नं ह्यघातिनां मध्ये प्रगीतं तेन सूरिभिः ॥२७॥
आयुर्बलेन जीवानां भवस्यावस्थितिर्भवेत् ।
विनिर्दिष्टं ततो नामकर्मायुष्कर्मणः परम् ॥२८॥
भवमाश्रित्य नीचैस्त्वमुच्चैस्त्वं वा प्रजायते ।
नामपूर्वं ततो गोत्रं पठितं परमागमे ॥२९॥

वेदनीयं समासाद्य मोहभूपालसंगतिम् ।
घातिवद्धन्ति जीवानामनुजीविगुणोच्चयम् ॥३०॥
घातिनां च ततो मध्ये मोहस्यादौ च पठ्यते ।
उक्त एव क्रमो ज्यायानष्टानां कर्मणां ततः ॥३१॥

अर्थ—यह जीव, पदार्थके समूहको पहले सामान्य रूपसे ग्रहण कर पश्चात् विशेष रूपसे जानता है और उसके बाद उसकी श्रद्धा करता है, इसलिये दर्शन, ज्ञान और सम्यक्त्व ये आत्माके गुण हैं ॥२४॥ इनमें ज्ञान पूज्य है अतः उसे पहले रखा जाता है। उसके पश्चात् दर्शन और सम्यक्त्वका पाठ किया जाता है। वीर्य, जीव और अजीव दोनोंसे सम्बद्ध माना गया है इसलिये उसे सम्यक्त्वके बाद पढ़ा गया है ॥२५॥ अन्तराय कर्ममें यद्यपि घातियापन विद्यमान है तथापि वह घातियाके समान नहीं है क्योंकि उसमें सम्पूर्ण रूपसे गुणोंका शोषण करनेकी शक्ति नहीं है। वह नामादिक कर्मोंकी सहायता प्राप्त कर अपना कार्य करता है इसलिये उसे आचार्योंने अघातिया कर्मोंके बीचमें पढ़ा है ॥२६-२७॥ आयुके बलसे जीवकी नरकादि पर्यायमें स्थिति होती है इसलिये आयुकर्मके बाद नामकर्मको पढ़ा है ॥२८॥ पर्यायका आश्रय करके ही जीवमें नीच और उच्चपना होता है इसलिये परमागममें नामपूर्वक गोत्रकर्मको पढ़ा गया है अर्थात् पहले नाम और उसके बाद गोत्र ॥२९॥ वेदनीय कर्म यद्यपि अघाति है तथापि वह मोहकर्मरूपी राजाकी संगति प्राप्त कर घातियाके समान जीवके अनुजीवी गुणोंके समूहको घातता है इसलिये उसे घातिया कर्मोंके बीचमें और मोहनीय कर्मके आदिमें पढ़ा जाता है। इन सब कारणोंसे आठ कर्मोंका जो क्रम कहा गया है वही श्रेष्ठ है ॥३०-३१॥

आगे ज्ञानावरणादि कर्मोंके उत्तर भेद कहते हैं—

आर्या

पञ्च नव द्वावष्टाविंशतिश्चाथोभयो यथाक्रमशः ।
त्र्युत्तरनवतिर्द्वौ वा पञ्च विभेदा भवन्ति तेषां वै ॥३२॥

अर्थ—उन ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्रमसे पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तेरानवे, दो और पांच उत्तर भेद निश्चयसे होते हैं ॥३२॥

आगे ज्ञानावरण कर्मके पाँच भेद कहते हैं—

मतिश्रुतावधिस्वान्तपर्ययकेवलद्रुहः ।
इति पञ्च विभेदाः स्युर्बोधरोधककर्मणः ॥३३॥

अर्थ—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, ये ज्ञानावरणकर्मके पाँच उत्तर भेद हैं। इन सबका अर्थ नामसे ही स्पष्ट है ॥३३॥

आगे दर्शनावरणकर्मके नौ उत्तर भेद कहते हैं—

लोचनालोकनामित्रमनेत्रालोकनाहितम् ।
अवध्यालोकनद्रोही केवलालोकनावृतिः ॥३४॥
स्त्यानगृद्धिस्ततो निद्रा निद्रानिद्रातिगर्हिता ।
प्रचलाप्रचला चापि प्रचला चेति वर्णिताः ॥३५॥
दर्शनावरणस्यैते भेदा नव महागमे ।
स्त्यानगृद्ध्युदये जीवः शेते सूत्थापितोऽपि च ॥३६॥
कुरुतेऽनेककर्माणि जल्पनं विदधाति च ।
निद्रोदयेन जीवोऽयं गच्छन् सन् तिष्ठति स्वयम् ॥३७॥
कदाचिद् वसति स्वैरं पतति क्वापि भूतले ।
निद्रानिद्रोदयाधीनो न दृष्टियुगलीं नरः ॥३८॥
समुद्घाटयितुं शक्तो यतमानोऽपि जायते ।
पुमानयं पुनः प्राप्तः प्रचलाप्रचलोदयम् ॥३९॥
लालाया वहनञ्चास्यादङ्गानां च प्रकम्पनम् ।
जल्पनं कुरुते रौति स्वैरं हसति जातुचित् ॥४०॥
ईषदुन्मील्य नेत्राणि प्रचलोदयसंगतः ।
नरः स्वपिति सुप्तोऽपि किञ्चित् किञ्चित्प्रबुध्यति ॥४१॥

अर्थ—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और प्रचला, परमागममें दर्शनावरणके ये नौ भेद कहे गये हैं। इनमें स्त्यानगृद्धिका उदय होनेपर यह जीव उठाये जानेपर भी सोता है, अनेक काम करता

है तथा निरर्थक वचन भी बोलता है। निद्राके उदयसे यह जीव चलता चलता स्वयं खड़ा हो जाता है, कदाचित् स्वेच्छानुसार बस जाता है और कहीं पृथिवीपर पड़ जाता है। निद्रानिद्राके उदयके वशीभूत हुआ मनुष्य प्रयत्न करनेपर भी नेत्रयुगलको खोलनेमें समर्थ नहीं होता है। प्रचला-प्रचलाके उदयको प्राप्त हुआ यह पुरुष, मुखसे लारका बहना, अङ्गोंका प्रकम्पित करना तथा निरर्थक वचन बोलना करता है, कभी रोता है और कभी स्वेच्छासे हँसता है ॥३४-४०॥ प्रचलाकर्मके उदयको प्राप्त हुआ मनुष्य सोता है और सोता हुआ भी कुछ-कुछ जागता रहता है ॥४१॥

आगे वेदनीयकर्मके दो भेद कहते हैं—

असद्वेद्यं च सद्वेद्यमिति वेद्यं द्विधा स्मृतम्।
एकं दुःखप्रदं तत्र सुखदं चेतरन्मतम् ॥४२॥

अर्थ—असद्वेद्य और सद्वेद्यके भेदसे वेदनीय कर्म दो प्रकारका माना गया है। उनमेंसे एक दुःखको देनेवाला है और दूसरा सुखका देनेवाला माना गया है ॥४२॥

अब मोहनीयकर्मके भेद कहते हैं—

कर्मणां जगतीपालो मोहोऽहितविधायकः।
दृष्टिचारित्रभेदाभ्यां द्वाभ्यां भिन्नोऽभिधीयते ॥४३॥
मिथ्यात्वं चापि सम्यक्त्वं सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च।
इत्थं दर्शनमोहोऽयं त्रिभिर्भेदैर्विभेदितः ॥४४॥
अतत्त्वप्रत्ययः पुंसामुदये यस्य जायते।
तन्मिथ्यात्वं भवारण्यवारिदः परिगीयते ॥४५॥
यस्योदयो न सम्यक्त्वं हन्तुं शक्नोति सर्वथा।
सम्यक्त्वं तद्धि विज्ञेयं सम्यग्दर्शनदूषकम् ॥४६॥
न मिथ्यात्वं न सम्यक्त्वमुदये यस्य संभवेत्।
सम्यङ्मिथ्यात्वमित्युक्तमुभयाकृतिमत्तु यत् ॥४७॥

अर्थ—अहितकारी मोहकर्म, कर्मोंका राजा कहलाता है। वह दर्शन-मोह और चारित्रमोहके भेदसे दो प्रकारका कहा जाता है ॥४३॥

मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व, इस प्रकारके तीन भेदोंसे दर्शनमोह तीन भेदवाला है ॥४४॥ जिसके उदयसे जीवोंको अतत्त्व श्रद्धान होता है वह मिथ्यात्व कहलाता है। यह मिथ्यात्व संसाररूपी वनको हराभरा रखनेके लिये मेघ स्वरूप है ॥४५॥ जिसका उदय, सम्यग्दर्शनको घातनेके लिये समर्थ नहीं होता किन्तु चल, मल, अगाढ आदि दोषोंसे उसे दूषित करता है वह सम्यक्त्वप्रकृति है ॥४६॥ जिसके उदयमें न तो मिथ्यात्व ही होता है और न सम्यक्त्व ही होता है किन्तु दोनोंकी मिश्रित दशा होती है वह सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति कही गई है ॥४७॥

उपजाति

स वृत्तमोहो द्विविधः प्रगीतः
कषायनोपूर्वकषायभेदात् ।
तत्रादिमः षोडशभेदयुक्त-
परो विभिन्नो नवधा समस्ति ॥४८॥
तत्रानन्तानुबन्धी स्यादप्रत्याख्यानरोधकः ।
प्रत्याख्यानसपत्नश्च संज्वलनाभिधानकः ॥४९॥
एकैको भिद्यते तावदत्र भेदचतुष्टये ।
क्रोधो मानो तथा माया लोभश्चेति चतुर्विधम् ॥५०॥
कषायवेदनीयोऽयं तेन षोडशभेदवान् ।
त्रयो वेदा रतिहास्यजुगुप्साशोकभीतयः ॥५१॥
अरतिश्चेति नोपूर्वकषायो नवधा मतः ।
एवं चारित्रमोहोऽयं पञ्चविंशतिधा भवेत् ॥५२॥

अर्थ—वह चारित्रमोह, कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीयके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। उनमें पहला जो कषायवेदनीय है वह सोलह भेदोंसे सहित है और दूसरा नोकषायवेदनीय नौ प्रकारका है ॥४८॥ कषायवेदनीय, मुख्यरूपसे अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनके भेदसे चार प्रकारका है। इन चार भेदोंमें प्रत्येक भेद क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे चार प्रकारका है। इस कारण यह कषायवेदनीय सोलह भेदोंसे सहित है। तीन वेद,

रति, हास्य, जुगुप्सा, शोक, भय और अरति, इनके भेदसे नोकषायवेदनीय नौ प्रकारका माना गया है। इस तरह यह चारित्रमोहनीय पच्चीस प्रकारका होता है ॥४९-५२॥

आगे आयुकर्मके चार भेदोंका वर्णन करते हैं—

श्वभ्रतिर्यङ्नरामर्त्यप्रभेदा दायुषो मताः ।
श्वभ्रादिहेतवः पुंसां चतस्रश्चायुषो भिदाः ॥५३॥

अर्थ—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवके भेदसे आयुके चार भेद हैं। इन आयुओंका कारण जो आयुकर्म है उसके नरकायु आदि चार भेद माने गये हैं ॥५३॥

आगे नामकर्मकी ९३ उत्तरप्रकृतियोंका वर्णन करते हैं—

श्वभ्रतिर्यङ्नृदेवेति चतस्रो गतयः स्मृताः ।
देहिदैवानुसारेण श्वभ्रावासादिहेतवः ॥५४॥
एकेन्द्रियादिभेदेन जातयः पञ्चधा मताः ।
एकत्वग्राहिका जातिरभेदेन हि देहिनाम् ॥५५॥
शीर्यते तच्छरीरं यन्निमिषे निमिषेऽपि च ।
औदारिकादिभेदेन पञ्चधा भिद्यते तु तत् ॥५६॥
मानवानां तिरश्चां च गात्रमौदारिकं स्मृतम् ।
सुराणां श्वभ्रजानां च वैक्रियिकं प्रचक्ष्यते ॥५७॥
प्रमत्तसंयतस्थानवर्तिनां व्रतिनां पुनः ।
आहारकं शरीरं हि जायते जातुचित् क्वचित् ॥५८॥
यस्योदयेन तेजः स्याद्देहे किमपि देहिनाम् ।
भवेत्तत्तैजसं नाम सर्वेषां भववर्तिनाम् ॥५९॥
अष्टानां कर्मणां पिण्डः शरीरं कार्मणं मतम् ।
इदमेवास्ति जीवानामाजवंजवकारणम् ॥६०॥

अर्थ—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ मानी गई हैं। ये गतियाँ प्राणियोंके कर्मानुसार उनके नरकादि निवासके कारण हैं ॥५४॥ एकेन्द्रियादिके भेदसे जातियाँ पाँच प्रकारकी हैं। प्राणियोंमें अभेदसे जो

एकत्वको ग्रहण करनेवाली है उसे जाति कहते हैं ॥५५॥ जो निमेष निमेषमें शीर्ण होता रहता है वह शरीर कहलाता है। वह शरीर औदारिक आदिके भेदसे पाँच प्रकारका है ॥५६॥ मनुष्य और तिर्यञ्चोंका औदारिक शरीर माना गया है। देव और नारकियोंका वैक्रियिक शरीर कहलाता है ॥५७॥ प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती मुनियोंके क्वचित् कदाचित् आहारक शरीर होता है ॥५८॥ जिसके उदयसे प्राणियोंके शरीरपर कोई अनिर्वचनीय तेज होता है वह तैजसशरीर नामकर्म है। यह तैजसशरीर समस्त संसारी जीवोंके होता है ॥५९॥ आठों कर्मोंका जो समूह है वह कार्मणशरीर माना गया है। यह कार्मणशरीर ही जीवोंके संसारका कारण है ॥६०॥

औदारिकादिकं ज्ञेयमङ्गोपाङ्गस्य कर्मणः।
भेदत्रयं शरीराणामङ्गोपाङ्गनिबन्धनम् ॥६१॥
पादद्वन्द्वं भुजद्वन्द्वं नितम्बं पृष्ठकं शिरः।
उरश्चेति मतान्यष्टावङ्गानीह कलेवरे ॥६२
नासास्यकर्णनेत्रौष्ठरसज्ञाकरभादिकम्।
विग्रहे भविनां ज्ञेयमुपाङ्गानां कदम्बकम् ॥६३॥
औदारिकादिभेदेन संघातो बन्धनं तथा।
प्रोक्तं पञ्चविधं नामकर्म निर्गतकर्मभिः ॥६४॥

अर्थ—अङ्गोपाङ्गनामकर्मके औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गको आदि लेकर तीन भेद हैं। यह कर्म, शरीरोंके अङ्गोपाङ्गका कारण है ॥६१॥ दो पैर, दो भुजा, नितम्ब, पीठ, शिर और वक्षस्थल, ये शरीरमें आठ अङ्ग होते हैं ॥६२॥ नासिका, मुख, कान, नेत्र, ओंठ, जीभ और हथेलियोंकी दोनों बाहरी कोरको आदि लेकर प्राणियोंके शरीरमें उपाङ्गोंका समूह जानना चहिये ॥६३॥ औदारिकबन्धन तथा औदारिकसंघात आदिके भेदसे बन्धन और संघातनामकर्मके पाँच पाँच भेद, कर्मरहित जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहे हैं ॥६४॥

आर्या

समपूर्वं चतुरस्रं न्यग्रोधः स्वातिकुब्जखर्वाश्च।
हुण्डाभिसंज्ञितमिति संस्थानं षड्विधं प्रोक्तम् ॥६५॥

अनुष्टुप्

वज्रर्षभादिनाराचो वज्रनाराच एव च ।
नाराचश्चार्धनाराचः कीलकः पञ्चमस्तथा ॥६६॥
षष्ठः पापात्मभिर्लभ्यो ह्यसंप्राप्तसृपाटिका ।
इत्थं च षड्विधं प्रोक्तं संहननं मुनीश्वरैः ॥६७॥

अर्थ—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक ये छह प्रकारके संस्थान कहे गये हैं ॥६५॥ वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन और असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, मुनिराजोंके द्वारा यह छह प्रकारका संहनन कहा गया है ॥६६-६७॥

कृष्णं नीलं सितं पीतं शोणितं चेति पञ्चधा ।
विभिन्नं वर्णनामास्ति वर्णवैचित्र्यकारणम् ॥६८॥
असत्सद्गन्धभेदेन गन्धो द्वेधा विभिद्यते ।
आम्लस्तिक्तः कषायश्च कटुको मधुरस्तथा ॥६९॥
रसो हि पञ्चधा भिन्नो वर्णितो वरसूरिभिः ।
गुरु स्निग्धं तथा रूक्षं कठिनं कोमलं लघु ॥७०॥
शीतमुष्णमिति स्पर्शो वर्णितो वसुभेदवान् ।
श्वभ्रतिर्यङ्नरामर्त्यगतीनां किल भेदतः ॥७१॥
गीयतेऽत्र गुणागारैश्चतुर्धा चानुपूर्व्यकम् ।
शस्ताशस्तप्रभेदेन द्विविधा खगतिर्मता ॥७२॥
भेदाश्चतुर्दश ह्येते पिण्डिता जिनभाषिताः ।
अष्टाविंशतिसंख्याकास्तदन्येऽपिण्डसंज्ञिताः ॥७३॥
यस्योदयेन निर्माणमङ्गोपाङ्गततेर्भवेत् ।
यथास्थानप्रमाणं च तन्निर्माणं प्रकीर्तितम् ॥७४॥

अर्थ—वर्णकी विचित्रताका कारण जो वर्ण नामकर्म है वह कृष्ण, नील, शुक्ल, पीत और रक्तके भेदसे पाँच प्रकारका है ॥६८॥ दुर्गन्ध और सुगन्धके भेदसे गन्ध नामकर्म दो प्रकारका है। खट्टा, चिरपरा, कषायला, कडुआ और मीठाके भेदसे रस नामकर्म, उत्तम आचार्योंके द्वारा

पाँच प्रकारका कहा गया है। गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, कठिन, कोमल, लघु, शीत और उष्ण इस प्रकार स्पर्शनामकर्म आठ भेदवाला कहा गया है। गुणोंके अगार—महर्षियोंके द्वारा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवके भेदसे आनुपूर्व्य नामकर्म चार प्रकारका कहा जाता है। प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे विहायोगति दो प्रकारकी मानी गई है। गतिको आदि लेकर चौदह पिण्ड प्रकृतियाँ जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कही गई हैं। इनके अतिरिक्त अट्ठाईस प्रकृतियाँ अपिण्ड प्रकृतियाँ हैं। जिसके उदयसे अङ्गोपाङ्ग समूहकी रचना यथास्थान और यथाप्रमाण होती है वह निर्माण नामकर्म कहा गया है ॥६९-७४॥

आर्या

यस्योदयेन देहो न गुरुर्न लघुश्च जायते पुंसाम् ।
सोऽगुरुलघुः प्रगीतः परमागमपाठकैर्मुनिभिः ॥७५॥
ज्ञेयः सतूपघातः पुंसां यस्योदयेन जायन्ते ।
निजगात्रघातनकराण्यङ्गोपाङ्गानि दुष्टानि ॥७६॥
ज्ञेयः स च परघातः पुंसां यस्योदयेन जायन्ते ।
परगात्रबाधनकराण्यङ्गोपाङ्गानि लोकेऽस्मिन् ॥७७॥
यस्योदयेन पुंसामुच्छ्वासो जायते सततम् ।
उच्छ्वासः स हि सूक्तः निखिलागमपारगैर्यतिभिः ॥७८॥

अर्थ—जिसके उदयसे जीवोंका शरीर न गुरु हो और न लघु हो उसे परमागमके पाठी मुनियोंने अगुरुलघु नामकर्म कहा है ॥७५॥ जिसके उदयसे अपने ही शरीरका घात करनेवाले अङ्गोपाङ्ग हों उसे उपघात नामकर्म जानना चाहिये ॥७६॥ जिसके उदयसे दूसरे जीवोंके शरीरका घात करनेवाले अङ्गोपाङ्ग हों उसे इस लोकमें परघात नामकर्म जानना चाहिये ॥७७॥ जिसके उदयसे जीवोंके निरन्तर श्वासोच्छ्वास जारी रहता है उसे समस्त शास्त्रोंके पारगामी मुनियोंने उच्छ्वास नामकर्म कहा है ॥७८॥

आतपात्म भवेद्यस्योदये जीवकलेवरम् ।
आतपः स च विज्ञेय उष्णदीप्त्या समन्वितम् ॥७९॥

इन्द्रवज्रा

उद्योतरूपो ह्युदयेन यस्य
देहो भवेत्प्राणभृतां भवेऽस्मिन् ।
उष्णोनकान्तिर्विनिरूपितोऽसा-
वुद्योतनामा किल कर्मभेदः ॥८०॥
आतपप्रकृतेर्नूनमुदयः संभवेदिह ।
रविबिम्बसमुद्भूतभूमिकायिककायिषु ॥८१॥

आर्या

निजहिमकिरणकलापैरपसारितनिखिललोकसन्तापे ।
कलाधरे खद्योते चोद्योतस्योदयः प्रोक्तः ॥८२॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर आतपस्वरूप होता है तथा उष्ण कान्तिसे सहित होता है उसे आतप नामकर्म जानना चाहिये। **भावार्थ**—आतप नामकर्मके उदयसे इस जीवको ऐसा शरीर प्राप्त होता है जो मूलमें शीतल होता है परन्तु उसकी प्रभा उष्ण होती है ॥७९॥ जिसके उदयसे इस जगत्में प्राणियोंका शरीर उद्योतरूप होता है और उसकी कान्ति उष्णतासे रहित होती है वह उद्योत नामक कर्मका भेद कहा गया है। **भावार्थ**—उद्योत नामकर्मके उदयसे जीवका ऐसा शरीर होता है जिसका मूल और प्रभा—दोनों ही शीतल होते हैं ॥८०॥ आतप नामकर्मका उदय नियमसे सूर्यबिम्बमें उत्पन्न बादर पृथिवीकायिक जीवोंके होता है और उद्योतनामकर्मका उदय, अपनी शीतल किरणोंके समूहसे समस्त लोकके संतापको दूर करनेवाले चन्द्रमाके विमानमें स्थित बादर पृथिवीकायिक जीवों तथा जुगनू आदिके होता है ॥८१-८२॥

उपजाति

जीवस्त्रसस्थावरयोनिषूद्भवेद्
ययोरुदीतेर्वशितां प्रयातवान् ।
जानीहि तन्नामविधेः प्रभेदनं
त्रसं तथा स्थावरसंज्ञया युतम् ॥८३॥

आर्या

घातप्रतिघातमयं गात्रं पुंसां प्रजायते यस्य ।
उदयेन तदभिगदितं बादरनामेति भगवद्भिः ॥८४॥

अनुष्टुप्

सूक्ष्मं यस्योदये गात्रं प्राणिनां किल जायते ।
सूक्ष्मं नाम तदित्याहुः सिद्धान्ताम्बुधिपारगाः ॥८५॥
पर्याप्तो हि भवेज्जीव उदये यस्य कर्मणः ।
पर्याप्तनामकर्मेति प्रख्यातं तन्मुनीश्वरैः ॥८६॥
अपर्याप्तो भवेज्जीव उदये यस्य कर्मणः ।
भाषितं तदपर्याप्तनामकर्म जिनेश्वरैः ॥८७॥
येनैकस्य शरीरस्य ह्येक एव भवेत्प्रभुः ।
प्रत्येकं तत्कथयन्ति शरीरं नाम सूरयः ॥८८॥
साधारणं भवेद् वर्ष्म येन प्राणभृतां भुवि ।
साधारणमिदं तत्स्यान्नामकर्मेति भाषितम् ॥८९॥

अर्थ— जिन कर्मोंके उदयकी वशीभूतताको प्राप्त हुआ जीव क्रमसे त्रस तथा स्थावर योनिमें उत्पन्न होता है उसे त्रस तथा स्थावर नाम-कर्मका भेद जानना चाहिये ।

भावार्थ—त्रस नामकर्मके उदयसे जीव, द्वीन्द्रियादिक त्रसोंमें उत्पन्न होता है और स्थावर नामकर्मके उदयसे पृथिवीकायिकादिक स्थावर जीवोंमें उत्पन्न होता है ॥८३॥ जिस कर्मके उदयसे इस जीवका शरीर घात-प्रतिघातरूप होता है अर्थात् दूसरेसे रुकनेवाला और दूसरेको रोकने वाला होता है उसे भगवान्‌ने बादर नामकर्म कहा है ॥८४॥ जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर सूक्ष्म होता है अर्थात् न किसीसे रुकता है और न किसीको रोकता है उसे सिद्धान्तरूपी सागरके पारगामी आचार्य सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं ॥८५॥ जिस कर्मके उदयसे जीव पर्याप्त होता है अर्थात् उसकी आहार तथा शरीर आदि सभी पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं उसे मुनिराजोंने पर्याप्त नामकर्म कहा है ॥८६॥ जिस कर्मके उदयसे जीव अपर्याप्त होता है अर्थात् उसकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती और अन्तर्मुहूर्तके भीतर नियमसे मरणको प्राप्त होता है उसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने अपर्याप्त नामकर्म कहा है ॥८७॥ जिसके द्वारा एक शरीरका

एक ही जीव स्वामी होता है उसे आचार्य प्रत्येकनामकर्म कहते हैं ॥८८॥ जिसके द्वारा जगत् में प्राणियोंका शरीर साधारण होता है अर्थात् एक शरीरके अनन्त जीव स्वामी होते हैं उसे साधारण नामकर्म कहा है ॥८९॥

धातूपधातवो येन भवन्त्यपघने स्थिराः ।
सुस्थिरं निगदन्तीह तन्नाम किल कोविदाः ॥९०॥
धातूपधातवो येन भवन्त्यपघनेऽस्थिराः ।
अस्थिरं निगदन्तीह तन्नाम किल कोविदाः ॥९१॥
यस्योदयेन कायस्य कम्रता तच्छुभं मतम् ।
तदन्यदशुभं ज्ञेयमकान्तत्वनिबन्धनम् ॥९२॥

अर्थ—जिसके द्वारा शरीरमें धातु और उपधातु स्थिर होते हैं उसे विद्वज्जन स्थिर नामकर्म कहते हैं ॥९०॥ जिसके द्वारा शरीरमें धातु और उपधातु अस्थिर रहती है उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं ॥९१॥ जिसके उदयसे शरीरमें सुन्दरता होती है उसे शुभ नाम और उससे भिन्न असुन्दरताका कारण जो कर्म है उसे अशुभ नामकर्म जानना चाहिये ॥९२॥

द्रुतविलम्बित

सुभगनाम जिना निगदन्ति तद्
यदुदयेन जनप्रियता भवेत् ।
असुभगोऽप्यजनप्रियताकरः
प्रगदितो गदितोच्छ्रितशास्त्रकैः ॥९३॥

अर्थ—जिसके उदयसे लोकप्रियता हो अर्थात् समस्त जीव अपनेसे प्रीति करते हैं उसे जिनेन्द्र भगवान् सुभगनामकर्म कहते हैं और जिसके उदयसे लोकप्रियता न हो उसे उत्तम शास्त्रोंके व्याख्याता आचार्योंने असुभग--दुर्भग नामकर्म कहा है ॥९३॥

स्वरः संजायते येन वेणुवीणापिकोपमः ।
सुस्वरं तत्तु विज्ञेयं तदन्यत् दुःस्वरं स्मृतम् ॥९४॥
जायते येन जीवानां प्रभोपेतं कलेवरम् ।
आदेयं नाम तज्ज्ञेयमनादेयं ततः परम् ॥९५॥

प्रसृता येन कीर्तिः स्याच्चञ्चन्ती चन्द्रिका यथा ।
गदन्ति तद्यशःकीर्तिनामकर्म गणाधिपाः ॥९६॥

अकीर्तिः प्रसरेद्येन त्रिलोक्यां कज्जलोपमा ।
अयशःकीर्तिनामाहुस्तच्च बोधपयोधयः ॥९७॥

अर्हत्त्वकारणं यत्स्यात्तीर्थकृन्नामकर्म तत् ।
एवञ्च नामभेदाः स्युस्त्र्युत्तरनवतिप्रमाः ॥९८॥

अर्थ—जिसके द्वारा बांसुरी, वीणा और कोयलके स्वरके समान मधुर स्वर होता है उसे सुस्वर नामकर्म जानना चाहिये और जिसके द्वारा इससे विपरीत स्वर होता है उसे दुःस्वर नामकर्म माना गया है ॥९४॥ जिसके द्वारा जीवका शरीर एक विशिष्ट प्रकारकी प्रभासे सहित होता है उसे आदेय नामकर्म और इससे विपरीतको अनादेय नामकर्म कहते हैं ॥९५॥ जिसके उदयसे इस जीवकी चाँदनीके समान शोभायमान कीर्ति होती है उसे गणधरदेव यशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं ॥९६॥ जिसके उदयसे कज्जलके समान काली अपकीर्ति फैलती है उसे ज्ञानके सागर आचार्य अयशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं ॥९७॥ और अर्हन्तपदका जो कारण है उसे तीर्थंकर नामकर्म कहते हैं । इस प्रकार नामकर्मके तेरानवे भेद होते हैं ॥९८॥

आगे गोत्रकर्मके दो भेदोंका वर्णन करते हैं—

उच्चैर्गोत्रं तथा नीचैर्गोत्रमित्येव भेदतः ।
द्विविधं गोत्रकर्म स्यादुच्चैर्नीचैस्त्वकारणम् ॥९९॥

अर्थ—उच्चगोत्र और नीचगोत्रके भेदसे गोत्रकर्म दो प्रकारका है । यह गोत्रकर्म, जीवके उच्च और नीच व्यवहारका कारण है । तात्पर्य यह है कि उच्चगोत्रके उदयसे यह जीव ऐसे कुलमें उत्पन्न होता है जिसमें मोक्षमार्गका प्रचलन हो और नीचगोत्रके उदयसे ऐसे कुलमें उत्पन्न होता है जिसमें मोक्षमार्गका प्रचलन नहीं होता है ॥९९॥

अब अन्तरायकर्मके पाँच भेदोंका निरूपण करते हैं—

दानं लाभश्च भोगश्चोपभोगश्च पराक्रमः ।
एतेषां विघ्नकारित्वादन्तरायोऽस्ति पञ्चधा ॥१००॥

आर्या

सकृदेव भुज्यमाना भोजनताम्बूलपूगदुग्धाद्याः ।
अर्था भोगा उक्ता दधिसर्पिःशर्कराद्याश्च ॥१०१॥
भुक्त्वा ये पुनरर्था भूयोभूयो जनैः प्रभुज्यन्ते ।
उपभोगास्ते गदिता घटपटमुकुटादयो लोके ॥१०२॥

अर्थ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इनमें विघ्न करनेसे अन्तरायकर्म पाँच प्रकारका है ॥१००॥ एक ही बार भोगमें आनेवाले भोजन, पान, दाल, दूध, दही, घी तथा शक्कर आदि पदार्थ भोग कहे गये हैं और जो एक बार भोगकर बार-बार भोगनेमें आते हैं, जैसे घट पट तथा मुकुट आदि पदार्थ, वे उपभोग कहे गये हैं ॥१०१-१०२॥

आगे कर्मप्रकृतियोंके भेदोंका उपसंहार करते हुए भेदाभेद विवक्षामें उनके भेदोंका निर्धार करते हैं—

तदेवं चाष्टचत्वारिंशत्सहितं शतं ध्रुवम् ।
सर्वकर्मप्रभेदानां भाषितं जिनशासने ॥१०३॥
नाम्नि वर्णचतुष्के तु गृहीतेऽभेदवार्तया ।
बन्धे तथोदये भेदचतुष्कञ्चैव गृह्यते ॥१०४॥
अविनाभाविनौ देहे संघातो बन्धनं तथा ।
नास्ति तेन तयोर्बन्ध उदयश्चापि वर्ण्यते ॥१०५॥
दृष्टिमोहेऽपि सम्यक्त्वं सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च ।
वर्णिते यतिभूपालैर्बन्धवार्ताबहिःस्थिते ॥१०६॥
एवं पञ्च नव द्वन्द्वं षड्विंशतिरपि क्रमात् ।
चत्वारः सप्तषष्टिश्च द्वौ च पञ्च च वर्णिताः ॥१०७॥
प्रभेदास्तत्र बन्धार्हाः प्रभेदानां कदम्बके ।
भेदे द्व्यूनाष्टपञ्चाशच्छतसंख्यासमन्विताः ॥१०८॥
विंशतिश्च शतं चाप्यभेदे वै बन्धसन्मुखाः ।
निगद्यते श्रुतज्ञानपारावारीयपारगैः ॥१०९॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त कर्मप्रकृतियोंके उत्तरभेद जिनागममें एक सौ अड़तालीस कहे गये हैं ॥१०३॥ नामकर्ममें वर्णादिके चार भेद, अभेद

विवक्षासे लिए गये हैं इसलिए बन्ध और उदयके प्रकरणमें उनके बीस भेद न लेकर चार ही भेद ग्रहण किये जाते हैं ॥१०४॥ पाँच बन्धन और पाँच संघात शरीर नामकर्मके अविनाभावी हैं, इसलिए बन्ध और उदयके प्रकरणमें उनका वर्णन नहीं होता है ॥१०५॥ दर्शनमोहनीयमें भी सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिको मुनिराजोंने बन्धसे बाह्य वर्णन किया है अर्थात् इन दो प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है ॥१०६॥ इस प्रकार अभेदविवक्षाको लेकर ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंके समूहमें बन्धयोग्य प्रकृतियाँ क्रमसे पाँच, नौ, दो, छब्बीस, चार, सड़सठ, दो और पाँच कही गई हैं। श्रुतज्ञानरूपी सागरके पारगामी आचार्योंके द्वारा भेदविवक्षामें एक सौ अड़तालीस और अभेदविवक्षामें एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्धके योग्य कही जाती हैं ॥१०७-१०९॥

आगे गुणस्थानोंमें बन्धकी चर्चा करते हुए कुछ प्रकृतियोंके बन्धकी विशेषता बताते हैं—

यस्मिन् कस्मिंश्च सम्यक्त्वे केवलिनोरुपाश्रये ।
भावनाविषयीभूतदृष्टिशुद्धयादिभावनाः ॥११०॥
असंयतादिचत्वारो नराः कर्ममहीभवाः ।
तीर्थकृत्प्रकृतेर्बन्धमारभन्ते शुभोदयात् ॥१११॥
आहारकस्य बन्धोः नु प्रमादातीतधामसु ।
मिश्रोनेष्वायुषो बन्धः सप्तमान्तेषु वर्णितः ॥११२॥
प्रकृतीनां तदन्यासां मिथ्यादृष्टयादिभूमिषु ।
बन्धनं च यथायोग्यं भणितं यतिभूमिपैः ॥११३॥

अर्थ—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन सम्यक्त्वोंमें से जिस किसी सम्यक्त्वके रहते हुए केवली और श्रुतकेवलीके सन्निधानमें जिन्होंने दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओंका चिन्तवन किया है ऐसे असंयत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानवर्ती कर्मभूमिज मनुष्य पुण्योदयसे तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धका प्रारम्भ करते हैं ॥११०-१११॥ आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्गका बन्ध प्रमादातीत सप्तम और अष्टम-गुणस्थानमें होता है। आयुकर्मका बन्ध मिश्र गुणस्थानको छोड़कर पहलेसे सातवें गुणस्थान तक होता है और शेषप्रकृतियोंका बन्ध मिथ्या-

दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें यथायोग्य होता है, ऐसा मुनिराजोंने कहा है ॥११२-११३॥

आगे मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियोंकी संख्या कहते हैं—

उपजाति

अथो जिनेन्द्रैर्विदिताखिलार्थै-
रनन्तसद्दृष्टियुतैः समुक्ताः।
कर्मप्रभेदाः किल बन्धहीना
मिथ्यात्वभूम्यादिषु बोधनीयाः ॥११४॥
अष्टद्विकं, पञ्च च त्रिंशतिश्च,
नभो दशाम्भोनिधयः षडेकः।
षडाहताः षडपि च पञ्च षोड-
श योगिनस्त्वेकमितः क्रमेण ॥११५॥

अर्थ—अब इसके बाद समस्त पदार्थोंको जाननेवाले तथा अनन्तदर्शन—केवलदर्शनसे सहित जिनेन्द्र भगवान्‌ने मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें क्रमसे सोलह, पच्चीस, शून्य, दश, चार, छह, एक, छत्तीस, पाँच, सोलह और संयोगकेवली गुणस्थानमें एक इस प्रकार बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ कही हैं ॥११४-११५॥

आगे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें जिन सोलह प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति कही है उनके नाम कहते हैं—

मिथ्यात्वहुण्डकक्लीबासंप्राप्तैकाक्षसंज्ञकाः।
सूक्ष्मोऽपर्याप्तकातापौ विकलत्रितयं तथा ॥११६॥
श्वभ्रायुः स्थावरः श्वभ्रगतियुग्मं भयप्रदम्।
साधारण इति प्रोक्ता अबन्ध्याः प्रथमात्परम् ॥११७॥

अर्थ—मिथ्यात्व, हुण्डकसंस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, एकेन्द्रियजाति, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, आतप, विकलत्रय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, नरकायु, स्थावर, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और साधारण ये सोलह प्रकृतियाँ प्रथमगुणस्थानके आगे नहीं

बँधती हैं अर्थात् इनकी प्रथम गुणस्थानमें बन्धव्युच्छित्ति होती है ॥११६-११७॥

अब द्वितीय गुणस्थानमें जिनकी बन्धव्युच्छित्ति होती है उन पच्चीस प्रकृतियोंके नाम कहते हैं—

निद्रानिद्रा तथा स्त्यानं प्रचलाप्रचला पुनः ।
दुर्भगो दुःस्वरश्चानचतुष्कं मृगजीवितम् ॥११८॥
नीचैर्गोत्रं तथोद्योतस्तिरश्चां गमनद्विकम् ।
अप्रशस्तं नभोयानं चतुष्कं चान्तसंहृतेः ॥११९॥
न्यग्रोधादिकसंस्थानचतुष्कं ललनास्मरः ।
अनादेयो द्वितीयाया अबन्ध्याः परतो ध्रुवः ॥१२०॥

अर्थ—निद्रानिद्रा, स्त्यानगृद्धि, प्रचलाप्रचला, दुर्भग, दुस्वर, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, तिर्यगायु, नीचगोत्र, उद्योत, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्व्य, अप्रशस्तविहायोगति, अन्तके चार संहनन, न्यग्रोध-परिमण्डल आदि चार संस्थान, स्त्रीवेद और अनादेय ये २५ प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थानके आगे अबन्धनीय हैं अर्थात् इनका बन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है ॥ १८-१२०॥

आगे चतुर्थगुणस्थानमें बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियोंके नाम कहते हैं—

वज्रर्षभश्च नाराचो द्वितीयश्च कषायकः ।
औदारिकं शरीरञ्च तदङ्गोपाङ्गनाम च ॥१२१॥
मनुष्यायुर्मनुष्याणां गमनद्वितयं तथा ।
एषां तुर्यगुणस्थाने बन्धविच्छेदनं भवेत् ॥१२२॥

अर्थ—वज्रर्षभनाराचसंहनन, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, औदारिकशरीर, औदारिकशरीराङ्गोपांग, मनुष्यायु, मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्व्य इन दश प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति चतुर्थगुण-स्थानमें होती ॥१२१-१२२॥

आगे पञ्चमगुणस्थानमें बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियाँ कही जाती हैं—

पञ्चमे च गुणस्थाने प्रत्याख्यानचतुष्टयम् ।
बन्धाद् व्युच्छिद्यते नूनमित्थमुक्तं मनीषिभिः ॥१२३॥

अर्थ—पञ्चम गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति ज्ञानीजनोंने कही है ॥१२३॥

अब षष्ठ गुणस्थानमें बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियाँ कही जाती हैं—

षष्ठेऽस्थिराशुभासातवेदनीयायशांसि च ।
व्युच्छिद्यन्तेऽरतिः शोकश्चापि बन्धनदुर्ग्रहात् ॥१२४॥

अर्थ—छठवें गुणस्थानमें अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशस्कीर्ति, अरति और शोक ये छह प्रकृतियाँ बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होती हैं ॥१२४॥

आगे सप्तम और अष्टम गुणस्थानमें बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियाँ कहते हैं—

अप्रमत्ते गुणस्थाने सुरायुश्छिद्यते पुनः ।
निवृत्तेः प्रथमेऽमृत्यौ निद्रा च प्रचला तथा ॥१२५॥
षष्ठे भागे पुनस्तीर्थनिर्माणे खगतिः शुभा ।
पञ्चेन्द्रियं तथाहारद्वितयं तेजसो द्विकम् ॥१२६॥
समादिचतुरस्रं च सुराणां गमनद्विकम् ।
विक्रियाञ्चशरीरस्य द्वयं वर्णचतुष्टयम् ॥१२७॥
त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरसुस्वराः ।
शुभश्च सुभगश्चापि ह्यादेयोच्छ्वासनामनी ॥१२८॥
परघातोपघातौ च ह्यगुरुलघुकं तथा ।
अन्तिमे च रतिर्भीतिर्जुगुप्सा हसनं पुनः ॥१२९॥
व्युच्छिद्यन्ते पुनर्बन्धात् षट्त्रिंशत् कर्मणां भिदाः ।
प्रोक्तमित्थं गणाधीशसेवितैर्जिनभूमिपैः ॥१३०॥

अर्थ—अप्रमत्त गुणस्थानमें एक देवायुकी बन्धव्युच्छित्ति होती है । अपूर्वकरण गुणस्थानके मृत्यु रहित प्रथम भागमें निद्रा और प्रचलाकी, छठवें भागमें तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पञ्चेन्द्रियजाति, आहारकशरीर, आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग, तैजस, कार्मण, समचतुरस्रसंस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग, वर्णादिचतुष्टय, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक, स्थिर, सुस्वर, शुभ, सुभग, आदेय, श्वासोच्छ्वास, परघात, उपघात और अगुरुलघु इन

तीसकी तथा अन्तिम भागमें रति, भय, जुगुप्सा और हास्य इन चारकी इस प्रकार सब मिलाकर छत्तीस प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति गणधरोंके द्वारा सेवित जिनेन्द्रभगवान्‌ने कही है ॥१२५-१३०॥

आगे नवम गुणस्थानमें बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होनेवाली प्रकृतियाँ कही जाती हैं—

अनिवृत्तौ गुणस्थाने संज्वलनचतुष्टयम् ।
बन्धाद् व्युच्छिद्यते नूनं मानुजो मीनकेतनः ॥१३१॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें संज्वलनकी चार तथा पुरुषवेद ये पाँच प्रकृतियाँ नियमसे बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होती हैं ॥१३१॥

अब दशम गुणस्थानमें बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियाँ कहते हैं—

सूक्ष्मान्ते प्रथमं विघ्न उच्चैर्गोत्रं तथा यशः ।
व्युच्छिद्यते तथा बन्धाद् दर्शनस्य चतुष्टयम् ॥१३२॥

अर्थ—ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तरायकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, उच्चगोत्र और यशस्कीर्ति ये सोलह प्रकृतियाँ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होती हैं ॥१३२॥

आगे सयोगकेवलीजिनके बन्धव्युच्छित्तिका वर्णन करते हैं—

सयोगकेवलिजिने सातवेद्यं विभिद्यते ।
बन्धनादन्यतोऽभावो व्युच्छित्तेः संप्रचक्ष्यते ॥१३३॥

अर्थ—सयोगकेवलीजिनके एक सातावेदनीयकी बन्धव्युच्छित्ति होती है। अन्यत्र अर्थात् तृतीय, एकादश, द्वादश और चतुर्दश गुणस्थानोंमें बन्धव्युच्छित्तिका अभाव कहा जाता है ॥१३३॥

अब मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें बन्धयोग्य प्रकृतियोंकी संख्या कहते हैं—

मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने शतं सप्तदशोत्तरम् ।
द्वितीये चैकसंयुक्तं चत्वारः सप्ततिस्तथा ॥१३४॥
तृतीये हि गुणस्थाने, चतुर्थे सप्तसप्ततिः ।
पञ्चमे सप्तषष्टिश्च त्रिषष्टिः षष्ठधामनि ॥१३५॥
सप्तमे नूनषष्टिश्च द्व्यूनषष्टिस्तथाष्टमे ।
नवमे विंशतिर्द्वे च सूक्ष्मे सप्तदशैव च ॥१३६॥

एकैका च तथैका च शान्तमोहादिधामसु ।
बन्धार्हाः प्रभिदा ज्ञेयाः कर्मणां च त्वयोगिनि ॥१३७॥
अबन्ध एव बोद्धव्यो बन्धकारणसंक्षयात् ।
अथो वक्ष्ये ह्यबन्धार्हगणनां गुणधामसु ॥१३८॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ११७, द्वितीय गुणस्थानमें १०१, तृतीय गुणस्थानमें ७४, चतुर्थ गुणस्थानमें ७७, पञ्चम गुणस्थानमें ६७, षष्ठ गुणस्थानमें ६३, सप्तम गुणस्थानमें ५९, अष्टम गुणस्थानमें ५८, नवम गुणस्थानमें २२, दशमगुणस्थानमें १७, एकादश गुणस्थानमें १, द्वादश गुणस्थानमें १ और त्रयोदश गुणस्थानमें १ प्रकृति बन्धके योग्य हैं। अयोग-केवलीजिनगुणस्थानमें बन्धके कारणोंका अभाव होनेसे पूर्ण अबन्ध जानना चाहिये। अर्थात् उनके एक भी प्रकृतिका बन्ध नहीं होता है। आगे गुणस्थानोंमें अबन्धके योग्य प्रकृतियोंकी संख्या कहेंगे ॥१३४-१३८॥

आद्ये तथा द्वितीये च तिस्रश्चैकोनविंशतिः ।
तृतीयेऽभ्यूनपञ्चाशच्छतार्धं सप्तवर्जितम् ॥१३९॥
चतुर्थे, त्र्युत्तरं किञ्च पञ्चमे सप्तसंगतम् ।
षष्ठे च सप्तमे सैका षष्टिर्युग्मयुताष्टमे ॥१४०॥
युग्महीनं त्रिभिः पूर्णं नवमे दशमे शतम् ।
शतमेकोनविंशत्यधिकं शान्तादिषु त्रिषु ॥१४१॥
अन्ते किन्तु गुणस्थाने शतं विंशतिसंयुतम् ।
अबन्ध्याः प्रभिदा ह्येताः कीर्तिताः क्रमतो जिनैः ॥१४२॥

अर्थ—प्रथम गुणस्थानमें ३ द्वितीय गुणस्थानमें १९ तृतीय गुणस्थानमें ४६, चतुर्थ गुणस्थानमें ४३, पञ्चममें ५३, षष्ठमें ५७, सप्तममें ६१, अष्टममें ६२, नवममें ९८, दशममें १०३, उपशान्तमोह आदि तीन गुण स्थानोंमें ११९ और अन्तिम अर्थात् चतुर्दश गुणस्थानमें १२० प्रकृतियाँ अबन्ध योग्य जिनेन्द्र भगवान्‌ने कही हैं।

विशेषार्थ—अभेदविवक्षामें बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ कही गई हैं। उनमेंसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारकयुगलका बन्ध न होनेसे एक सौ सत्तरह प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। सासादनगुण-स्थानमें, मिथ्यात्वगुणस्थानकी बन्धव्युच्छित्तिकी सोलह प्रकृतियाँ घट

जानेसे एक सौ एक प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। मिश्रगुणस्थानमें, सासादनकी बन्धव्युच्छित्तिकी २५ प्रकृतियाँ तथा आयुबन्धकी योग्यता न होनेके कारण मनुष्यायु और देवायु इस प्रकार सत्ताईस प्रकृतियाँ घट जानेसे चौहत्तर प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। चतुर्थ गुणस्थानमें, तीर्थंकर, मनुष्यायु और देवायुके मिल जानेसे सतहत्तर प्रकृतियाँ बन्धके योग्य हैं। पञ्चम गुणस्थानमें, चतुर्थ गुणस्थानकी बन्धव्युच्छित्तिकी दश प्रकृतियाँ घट जानेसे सड़सठ प्रकृतियाँ बन्धके योग्य हैं। षष्ठ गुणस्थानमें, पञ्चम गुणस्थानकी बन्धव्युच्छित्तिकी चार प्रकृतियाँ घट जानेसे बन्धयोग्य त्रेशठ प्रकृतियाँ हैं। सप्तम गुणस्थानमें, षष्ठ गुणस्थानकी बन्धव्युच्छित्तिकी छह प्रकृतियाँ घटाने और आहारकयुगलके मिलानेसे उनसठ प्रकृतियाँ बन्धके योग्य हैं। अष्टम गुणस्थानमें, सप्तम गुणस्थानकी बन्धव्युच्छित्तिकी एक प्रति घटानेसे अंठावन प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। नवम गुणस्थानमें, अष्टम गुणस्थानकी बन्धव्युच्छित्तिकी छतीस प्रकृतियाँ घटानेसे बाईस प्रकृतियाँ बन्धयोग्य रहती हैं। दशम गुणस्थानमें, नवम गुणस्थानकी बन्धव्युच्छित्तिकी पाँच प्रकृतियाँ घटानेसे सत्तरह प्रकृतियाँ बन्धयोग्य होती हैं। एकादश गुणस्थानमें, दशम गुणस्थानकी बन्धव्युच्छित्तिकी सोलह प्रकृतियाँ घटानेसे एक प्रकृति बन्धके योग्य है। यही एक प्रकृति द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानमें भी बन्धयोग्य रहती है। चतुर्दश गुणस्थानमें, त्रयोदश गुणस्थानकी बन्धव्युच्छित्तिकी एक प्रकृति घटानेसे एक भी प्रकृतिका बन्ध नहीं होता—पूर्ण अबन्ध हो जाता है। प्रकृत गुणस्थानकी बन्धयोग्य प्रकृतियोंमेंसे उसकी बन्धव्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ घटाने तथा बन्धके योग्य प्रकृतियोंके मिलाने और बन्धके अयोग्य प्रकृतियोंके घटानेसे आगामी गुणस्थानकी बन्धयोग्य प्रकृतियाँ निकलती हैं ॥१३९-१४२॥

इस प्रकार प्रकृतिबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ।

आगे स्थितिबन्धका वर्णन करनेके लिये उद्यत हो सर्वप्रथम ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

सप्ततिर्मोहनीयस्य विंशतिर्नामगोत्रयोः।
त्रिघातिवेदनीयानां कर्मणां च परा स्थितिः ॥१४३॥
कोटीकोटयो हि विज्ञेयास्त्रिंशत्स्रोतस्विनीश्वराः।
आयुषः कर्मणः शुद्धास्त्रयस्त्रिंशत्तु सागराः ॥१४४॥

अर्थ—मोहनीयकर्मकी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर, नाम और गोत्रकी बीस कोड़ाकोड़ी सागर, ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मों तथा वेदनीयकर्मकी तीस कोड़ाकोड़ी सागर और आयु कर्मकी मात्र तेतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है ।।१४३-१४४।।

आगे उत्तरप्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

असद्वेद्यत्रिघातीनां त्रिंशत्सरिदधीश्वराः ।
कोटीकोटयस्तदर्धं तु सातस्त्रीनरयुग्मयोः ।।१४५।।
सप्ततिर्दृष्टिमोहस्य चत्वारिंशद्यमावृतेः ।
संस्थानसंहतीनां तु विंशतिश्चान्तजातयोः ।।१४६।।
पुनश्च प्रथमं यावद् द्वाभ्यामपगतास्तथा ।
सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणहीनेन्द्रियदेहिनाम् ।।१४७।।
अष्टादशारतेः शोकषण्ढवेदाभिधानयोः ।
तिर्यक्तेजोमयस्वऔदारिकगात्रयुग्मयोः ।।१४८।।
वैगूर्विकातपद्वन्द्वनीचैर्गोत्राख्यकर्मणाम् ।
त्रसवर्णागुरूणां च चतुष्कस्यापि कर्मणाम् ।।१४९।।
एकपञ्चेन्द्रियस्थावरनिर्माणाभिसंज्ञिनाम् ।
अस्थिरषट्कदुर्गत्योर्विंशती रतिहासयोः ।।१५०।।
प्रशस्ताकाशयानस्य चोच्चैर्गोत्रनृवेदयोः ।
स्थिरप्रभृतिषट्कस्य वृन्दारकयुगस्य च । १५१।।
कोटीकोटयो दश प्रोक्ताः सागराः स्थितिरुत्तमा ।
सज्ज्ञानचन्द्रिकाचारुपूरचर्चितदिग्भुवा ।।१५२।।

आर्या

आहारकद्विकस्य तीर्थकृतो नामकर्मणश्चापि ।
अन्तःकोटीकोटीसागरसुमिता स्थितिर्ज्ञेया ।।१५३।।

अनुष्टुप्

सुरश्वभ्रायुषोर्ज्ञेया त्रयस्त्रिंशत्पयोधयः ।
त्रीणि पल्यानि च ज्ञेया मानवतिर्यगायुषोः ।।१५४।।

अर्थ—असातावेदनीय और तीन घातिया कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर है। सातावेदनीय, स्त्रीवेद तथा मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्यं इनकी पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर है ॥१४५॥ दर्शनमोहकी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर और चारित्रमोहकी चालीस कोड़ाकोड़ी सागर है। छह संस्थान और छह सहननोंमें अन्तके संस्थान और संहननोंकी बीस कोड़ाकोड़ी सागर है। पश्चात् प्रथम संस्थान और संहनन तक दो दो कोड़ाकोड़ी सागर कम होती जाती है। सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, और विकलत्रय जातिकी अठारह कोड़ाकोड़ी सागर है। अरति, शोक, नपुंसक वेद, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, तैजस शरीर, भय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक शरीराङ्गोपाङ्ग, आतप, उद्योत, नीचगोत्र, त्रसादि चार, वर्णादि चार, और अगुरुलघु आदि चार, एकेन्द्रिय जाति, पञ्चेन्द्रिय जाति, स्थावर, निर्माण, अस्थिर आदि छह और अप्रशस्तविहायोगति, इनकी बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है। रति, हास, प्रशस्तविहायोगति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिर आदि छह, देवगति और देवगत्यानुपूर्व्यं, इनकी दश कोड़ाकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट स्थिति, सम्यग्ज्ञानरूपी चाँदनीके सुन्दर पूरसे दिग्दिगन्तको व्याप्त करनेवाले जिनेन्द्र भगवान्‌ने कही है ॥१४६-१५२॥ आहारकशरीर, आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग, और तीर्थंकर प्रकृति इनकी अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति जानना चाहिये ॥१५३॥ देवायु और नरकायुकी तेंतीस सागर तथा मनुष्यायु और तिर्यञ्च आयुकी तीन पल्य उत्कृष्ट स्थिति जाननेके योग्य है ॥१५४॥

आगे उत्कृष्ट स्थितिबन्धका कारण कहते हैं—

इन्द्रवज्रा

आयुस्त्रयीवर्जितसर्वकर्म-
जालस्थितीनां परमो हि बन्धः।
उत्कृष्टसंक्लेशयुतैर्भवेद् वै
भावैस्तदन्यैश्च भवेज्जघन्यः ॥१५५॥

अर्थ—तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन तीन शुभ आयु कर्मोंको छोड़कर शेष समस्त कर्मसमूहका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्टसंक्लेशयुक्त भावोंसे और जघन्य स्थितिबन्ध उनसे विपरीत भावोंके द्वारा होता है ॥१५५॥

अब उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामी कहते हैं—

इन्द्रवज्रा

आहारयुग्मं किल तीर्थनाम
देवस्थितिं वा परिमुच्य लोकः ।
सर्वस्थितीनां वरबन्धकर्ता
मिथ्यादृगेवायमहो समुक्तः ॥१५६॥

अर्थ—आहारकशरीर, आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग, तीर्थंकर प्रकृति और देवायुको छोड़कर शेष समस्त कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करनेवाला आश्चर्य है कि मिथ्यादृष्टि जीव ही कहा गया है ॥१५६॥

आगे इसी उत्कृष्ट स्थितिबन्धकी विशेषता बतलाते हैं—

उपजाति

यतिः प्रमत्तस्त्रिदशस्थितिं स
आहारयुग्मं च हतप्रमादः ।
तीर्थं मनुष्योऽविरतः सुदृष्टि-
र्बध्नाति तीव्रस्थितिसंगतं तम् ॥१५७॥

अर्थ—देवायुका उत्कृष्टस्थितिबन्ध प्रमत्तसंयत—छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि और आहारकयुगलका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अप्रमत्तसंयत अर्थात् सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि करते हैं। तीर्थंकर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य करता है ॥१५७॥

आगे शेष कर्मप्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टिकी विशेषता बताते हैं—

इन्द्रवज्रा

देवेतरायुर्विकलत्रयं वा
सूक्ष्मत्रयं वैक्रियिकाख्यषट्कम् ।
मर्त्या मृगा वा बध्नन्ति नूनं
नान्ये सुराः श्वभ्रभवाश्च तीव्रम् ॥१५८॥

तिर्यगौदारिकद्वन्द्वमुद्योतान्तिमसंहती ।
निर्जरा नारकाश्चैव बध्नन्तीह परस्थिती ॥१५९॥

उपजाति

एकेन्द्रियस्थावरकातपानां
परां स्थितिं व्याकुलभावपूर्णाः ।
मिथ्यादृशो निर्जरयोनिजाता
बध्नन्त्यहो कर्मविचित्रपाकात् ॥१६०॥

आर्या

उत्कृष्टेषन्मध्यमसंक्लिष्टा अखिलगतिषु संजाताः ।
शेषाणां प्रकृतीनां स्थितिं परामत्र चिन्वन्ति ॥१६१॥

अर्थ—देवायुके सिवाय तीन आयु, विकलत्रय, सूक्ष्मत्रय—सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण तथा वैक्रियिकषट्क—वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिक शरीराङ्गोपाङ्ग, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, देवगति और देवगत्यानुपूर्व्य इन पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्च ही करते हैं, देव और नारकी नहीं ॥१५८॥ तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्व्य, औदारिकशरीर, औदारिकशरीराङ्गोपाङ्ग, उद्योत और असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, इन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देव और नारकी ही करते हैं ॥१५९॥ एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध व्याकुल परिणामोंसे युक्त मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। आश्चर्य है कि कहाँ देवपर्याय और कहाँ एकेन्द्रियादिकका बन्ध। कर्मोदयकी विचित्रतासे ही ऐसा होता है ॥१६०॥ शेष ९२ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध. उत्कृष्ट अथवा ईषन्मध्यम संक्लेश परिणामवाले चारों गतियोंके जीव करते हैं ॥१६१॥

आगे मूल प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध कहते हैं—

मुहूर्ता द्वादश क्षुद्रा वेदनीयस्य कर्मणः ।
मुहूर्ताश्चाष्ट गोत्रस्य नाम्नश्चापि निगद्यते ॥१६२॥
स्थितिर्भिन्नमुहूर्तस्तु पञ्चानां शेषकर्मणाम् ।
अथोत्तरप्रभेदानां वच्मि हीनतरां स्थितिम् ॥१६३॥

अर्थ—वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त तथा शेष पाँच कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त है। अब उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य स्थिति कहते हैं ॥१६२-१६३॥

उच्चैर्गोत्रयशस्कीर्त्योर्मुहूर्ताष्टकसंमिता ।
मुहूर्तद्वादशी सातवेदनीयस्य कर्मणः ॥१६४॥

ज्ञानारिविघ्नलोभानां चतुर्दर्शनरोधिनाम् ।
मुहूर्तो, मर्त्यवेदस्य त्वष्टौ वर्षाणि भाषिता ॥१६५॥

क्रोधाहङ्कारमायानां द्विकैकदलमासकाः ।
मृगमर्त्यायुषोर्भिन्नमुहूर्तः, श्वभ्रनाकिनाम् ॥१६६॥

दशवर्षसहस्राण्याहारतीर्थकृतां तथा ।
कोटीकोटी च भिन्ना स्याज्जघन्या कर्मणां स्थितिः ॥१६७॥

अर्थ—उच्चगोत्र और यशस्कीर्तिकी जघन्यस्थिति आठ मुहूर्त, साता वेदनीयकी बारह मुहूर्त, ज्ञानावरण, अन्तराय, लोभ और चक्षुर्दर्शनावरण आदि चार दर्शनावरणोंकी अन्तर्मुहूर्त, पुरुषवेदकी आठ वर्ष, क्रोध मान और मायाकी क्रमसे दो माह, एक माह और अर्ध माह, तिर्यञ्च और मनुष्यायुकी अन्तर्मुहूर्त, देवायु और नरकायुकी दश हजार वर्ष तथा आहारकशरीर, आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग और तीर्थंकर प्रकृतिकी अन्तः-कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है ॥१६४-१६७॥

आगे इस जघन्य स्थितिबन्धको करनेवाले जीवोंका वर्णन करते हैं—

मिथ्यात्वं विक्रियाषट्कं मुक्त्वा निःशेषकर्मणाम् ।
बध्नाति सर्वतो हीनां स्थितिं स्वप्रतिभागतः ॥१६८॥

एकेन्द्रियो विशुद्धो हि पर्याप्तो बादरस्तथा ।
उच्चैर्गोत्रयशस्कीर्तिसद्वेद्यज्ञानवैरिणाम् ॥१६९॥

अन्तरायचतुर्दृष्टिरोधिनोर्दशमस्थितः ।
संज्वलनचतुष्कस्य पुंवेदस्यापि बादरः ॥१७०॥

तीर्थाहारद्विकानां च ह्यपूर्वकरणस्थितः ।
देवगत्यादिषट्कस्यामनस्कस्त्वायुषां तथा ॥१७१॥

असंज्ञी वापि संज्ञी वा जघन्यां लभते स्थितिम् ।
मृगमर्त्यसुरायुष्कं मुक्त्वा निःशेषकर्मणाम् ॥१७२॥

शुभानामशुभानां वा सर्वास्तु स्थितयोऽशुभाः।
मतस्तीव्रकषाय्येव तासामुत्कृष्टबन्धकः ॥१७३॥

अर्थ—[बन्ध योग्य १२० प्रकृतियोंमें से २९ प्रकृतियोंका जघन्यस्थिति-बन्ध ऊपर कहा जा चुका है। शेष रहीं ९१ प्रकृतियां] उनमें भी वैक्रियिक षट्क और मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंको छोड़कर शेष समस्त कर्मों—८४ प्रकृतियोंकी सर्वजघन्य स्थितिको अपने योग्य विशुद्ध परिणामोंको धारण करने वाला बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ही बांधता है। उच्च गोत्र, यशस्कीर्ति, सातावेदनीय, पांच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय और चार दर्शनावरण इन सत्तरह प्रकृतियोंकी जघन्यस्थितिको दशम गुणस्थानवर्ती जीव बाँधता है। संज्वलनकी चौकड़ी और पुरुषवेदकी जघन्य स्थितिको बादरसाम्पराय—नवम गुणस्थानवर्ती बाँधता है ॥१६८-१७०॥

तीर्थंकर, आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग इन तीनकी जघन्यस्थितिको अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव बाँधता है। वैक्रियिक षट्ककी जघन्यस्थितिको असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव बांधता है किन्तु आयु-कर्मकी जघन्यस्थितिको संज्ञी तथा असंज्ञी दोनों जीव बांधते हैं। तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायुको छोड़कर सभी कर्मोंके समस्त स्थिति विकल्प अशुभ ही हैं। अतः उनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करने वाला तीव्र-कषायवान् जीव ही माना गया है ॥१७१–१७३॥

आगे आबाधाका लक्षण तथा उसकी व्यवस्थाका वर्णन करते हैं—

यावत्कर्ममयं द्रव्यमुदयं चाप्युदीरणाम्।
नैव गच्छति सा तावदाबाधा संप्रचक्ष्यते ॥१७४॥
यदि स्थितिर्भवेत्कोटीकोट्येका हि सरस्वताम्।
तदा वर्षशतं तस्या आबाधा भवति ध्रुवम् ॥१७५॥
एवं तत्प्रतिभागेनेतरेषामपि कर्मणाम्।
आबाधा संप्रबोद्धव्या स्थितीनां तद्बुभुत्सुभिः ॥१७६॥
कोटीकोटीस्थितिर्भिन्ना कर्मणो यस्य बध्यते।
अन्तर्मुहूर्तकं तस्याबाधा सूरिनिरूपिता ॥१७७॥
संख्यातगुणहीना तु भवेद्धीनतरस्थितेः।
आबाधा चायुषः प्रोक्ता संक्षेपाद्धावलीप्रमा ॥१७८॥

त्रिभागात्पूर्वकोटीनां प्रतिभागविवर्जिता ।
उदीरणां समाश्रित्य ह्याबाधा सप्तकर्मणाम् ॥१७९॥
आवलीप्रमिता प्रोक्ता सूरिभिर्बहुबुद्धिभिः ।
बध्यमानायुषः किन्तूदीरणा नैव जायते ॥१८०॥
इति संक्षेपतः पूर्वग्रन्थादाकृष्य गुम्फितः ।
स्थितिबन्धोऽथ वक्ष्याम्यनुभागं कर्मणामिह ॥१८१॥

अर्थ—कर्मरूप द्रव्य जब तक उदय या उदीरणाको प्राप्त नहीं होता है तब तकका काल आबाधा कहा जाता है ॥१७४॥ जिस कर्मकी स्थिति एक कोड़ाकोड़ी सागरकी बँधती है उदयकी अपेक्षा उसकी आबाधा सौ वर्षकी होती है ॥१७५॥ इसी प्रतिभागके अनुसार अन्यकर्मोंकी स्थितिकी आबाधा भी उसे जाननेके इच्छुक पुरुषोंको जान लेना चाहिये ॥१७६॥ जिस कर्मकी स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है उसकी आबाधा आचार्योंने अन्तर्मुहूर्तकी कही है ॥१७७॥ जघन्य स्थितिकी आबाधा, स्थितिसे संख्यातगुणी कम होती है अर्थात् स्थितिके संख्यातवें भाग होती है। आयुकर्मकी आबाधा एक कोटी वर्षपूर्वके त्रिभागसे लेकर असंक्षेपाद्धा आवली प्रमाण होती है। आयुकर्मकी आबाधा स्थितिके प्रतिभागके अनुसार नहीं होती है।

भावार्थ—कर्मभूमिज मनुष्यकी उत्कृष्ट स्थिति एक कोटी वर्षपूर्वकी है। इसके आयुका बन्ध, वर्तमान आयुके दो भाग निकल जानेपर तृतीय भागके प्रारम्भमें होता है। यदि आयुबन्धके योग्य लेश्याके अंशोंकी अनुकूलता न होनेसे इस समय बन्ध नहीं होता है तो जितनी आयु शेष रहती है उसके दो भाग निकल जाने पर तीसरे भागके प्रारम्भमें होती है। इस प्रकारके आठ अपकर्ष काल होते हैं। यदि किसी जीवके आठों अपकर्ष काल आयुबन्धके विना निकल जाते हैं तो वर्तमान आयुमें जब असंक्षेपाद्धा आवली प्रमाण-काल बाकी रह जाता है तब नियमसे आयुका बन्ध हो जाता है। आयुका बन्ध हो जाने पर वर्तमान आयुका जितना काल शेष रहता है उतनी ही आयु कर्मकी आबाधा होती है। देव और नारकियोंकी स्थिति यद्यपि अधिक होती है तथापि उनके आयुबन्धका प्रथम अपकर्षकाल वर्तमान आयुमें छह माह शेष रहनेपर ही आता है पहले नहीं। इसी प्रकार भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोंके वर्तमान आयुके नौ माह शेष रहनेपर ही प्रथम अपकर्ष काल आता है पहले नहीं। इसीलिये आयुकर्मकी आबाधा एक कोटि वर्षपूर्वके त्रिभागसे लेकर असंक्षेपाद्धा आवली प्रमाण तक ही कही है।

उदीरणाकी अपेक्षा समस्त कर्मोंकी आबाधा विशाल बुद्धिके धारक आचार्योंने अचलावली प्रमाण कही है अर्थात् इसके पहले किसी कर्मकी उदीरणा नहीं हो सकती। बध्यमान अर्थात् परभव सम्बन्धी आयुकी उदीरणा नियमसे नहीं होती है। इस प्रकार पूर्वग्रन्थोंसे लेकर संक्षेपसे स्थितिबन्धका वर्णन किया है। अब आगे यहाँ कर्मोंके अनुभाग बन्धका कथन करूँगा ॥१७८-१८१॥

विशेषार्थ—जिस कर्मकी जितनी स्थिति बँधी है उसमेंसे आबाधा कालको घटानेपर जो शेष रहती है उतने काल तक वे कर्म निषेक रचनाके अनुसार फल देते हुए निर्जीर्ण होते रहते हैं। आबाधा पूर्ण होनेपर पहले समयमें सबसे अधिक कर्मपरमाणु फल देकर निर्जीर्ण होते हैं। पश्चात् क्रमसे कम होते जाते हैं। यह क्रम, स्थितिके अन्त तक चलता रहता है। यह सविपाक निर्जराका क्रम है यदि किसी जीवके तपश्चरण आदिसे अविपाक निर्जराका योग मिलता है तो उसके शेष कर्मपरमाणुओंकी निर्जरा युगपत् हो जाती है। आयुकर्मके निषेक अपनी स्थिति प्रमाण हैं।

इस प्रकार स्थितिबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ।

अजागोमहिषीक्षीरे गुडखण्डसितासु च।
यथा माधुर्यसंभारस्तारतम्येन वर्तते ॥१८२॥
कर्मणां च तथा पिण्डे विविधा फलदायिता।
वर्तते या विपाकः स बन्धः संकीर्त्यते बुधैः ॥१८३॥
स्वनामसदृशी तेषामखिलानाञ्च कर्मणाम्।
बोधरोधादिका शक्तिर्वर्तते फलदायिनी ॥१८४॥

अर्थ—जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंसके दूधमें तथा गुड़ खांड और मिश्रीमें माधुर्य गुणका समूह हीनाधिकरूपसे रहता है उसी प्रकार कर्मोंके समूहमें जो विविध प्रकारकी फल देनेकी शक्ति है वह अनुभाग-बन्ध विद्वज्जनोंके द्वारा कहा जाता है। सब कर्मोंकी ज्ञान आदि गुणोंको आवृत करने वाली जो शक्ति है वह अपने नामके सदृश है। अर्थात् जिस कर्मका जैसा नाम है वैसी ही उनकी अनुभाग शक्ति है ॥१८२-१८४॥

आगे चतुर्विध बन्धका कारण कहते हैं—

आर्या

प्रकृतिप्रदेशबन्धौ योगात्पुंसां प्रजायेते।
भवतः स्थितिरनुभागः कषायहेतोः सदा बन्धौ ॥१८५॥

उपजाति

यथानुभागो भविनां स्थितिश्च
बन्धो ह्यनर्थस्य निदानमस्ति ।
तथा प्रदेशः प्रकृतिश्च बन्धो
नानर्थतामूलमिहास्ति पुंसाम् ॥१८६॥

अर्थ—जीवोंके जो प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं वे सदा योगोंके निमित्तसे होते हैं और स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषायके निमित्तसे होते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रारम्भसे लेकर दशम गुणस्थान तक चारों प्रकारके बन्ध होते हैं परन्तु ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक कषायके अभावमें योगके निमित्तसे मात्र प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं, स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं। चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी अभाव हो जाता है अतः वहां बन्धका सर्वथा अभाव होता है ॥१८५॥ जिस प्रकार स्थिति और अनुभागबन्ध जीवोंके अनर्थके कारण हैं उस प्रकार प्रकृति और प्रदेश बन्ध अनर्थके कारण नहीं हैं ॥१८६॥

आगे अनुभाग बन्ध की सामग्री और उत्कृष्ट अनुभाग बन्धके स्वामी कहते हैं—

अनुभागो भवेत्तीव्रो विशुद्ध्या शुभकर्मणाम् ।
अतिसंक्लेशभावे न तदन्येषां च कर्मणाम् ॥१८७॥

आर्या

संक्लेशेन शुभानाशुभानां चाप्यसंक्लेशात् ।
भवत्यनुभागबन्धो हीनतरः सर्वभेदानाम् ॥१८८॥
द्व्युत्तरचत्वारिंशत्संख्यानां पुण्यकर्मभेदानाम् ।
उत्कटविशुद्धियुक्तोऽनुभागबन्धं करोति वै तीव्रम् ॥१८९॥
द्व्यग्राशीतिमितानामशुभानां कर्मभेदानाम् ।
मिथ्यादृक् संक्लिष्टोऽनुभागबन्धं वरं कुरुते ॥१९०॥

अर्थ—शुभ कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोंसे होता है और पाप कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध अत्यन्त संक्लेशभावसे होता है ॥१८७॥ समस्त शुभप्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध संक्लेश परिणामोंसे होता है और समस्त पापप्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध

असंक्लेश—संक्लेश रहित परिणामोंसे होता है ।।१८८।। ब्यालीस पुण्य प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध, उत्कट—अत्यधिक विशुद्धिसे युक्त जीव करता है और ब्यासी पापप्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध संक्लेश परिणामोंका धारक मिथ्यादृष्टि जीव करता है ।।१८९-१९०।।

आतपश्च तथोद्योतो मानवतिर्यगायुषी ।
एषां विपाकबन्धः स्याद्वरो मिथ्यादृशां नृणाम् ।।१९१।
इतरेषां च भेदानां शुद्धदर्शनशालिनाम् ।
प्रकृतिषु प्रशस्तासु भवतीति निरूपितम् ।।१९२।
सम्यग्दृष्टिप्रबन्ध्यास्वष्टत्रिंशत्कर्मजातिषु ।
मनुष्यौदारिकद्वन्द्वं प्रथमां चापि संहतिम् ।।१९३।
विशुद्धोऽसंयतः सम्यग्दृष्टिः श्वाभ्रस्तथा सुरः ।
देवायुश्च प्रमत्तस्थस्तदन्यान् क्षपणोद्यतः ।।१९४।
परमेण विपाकेन बन्धेनाभिचिनोति च ।
सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणहीनेन्द्रियसंज्ञितम् ।।१९५।
श्वभ्रायुः श्वभ्रगत्यानुपूर्व्यं श्वभ्रगतिं तथा ।
मिथ्यादृशो मृगा मर्त्यास्तीव्रसंक्लिष्टचेतसः ।।१९६।
मृगमर्त्यायुषी मर्त्या मृगा वा शुद्धमानसाः ।
अतिसंक्लिष्टभावेनैकेन्द्रियं स्थावरं तथा ।।१९७।
आतपं तु विशुद्धया च देवो मिथ्यात्वदूषितः ।
सर्वोत्कृष्टानुभागेन प्रबध्नाति भवार्णवे ।।१९८।
महातमःप्रभाजातो विशुद्धो नरकोद्भवः ।
उद्योतं, नारका देवा मिथ्यात्वविषमूर्च्छिताः ।।१९९।
असंप्राप्तं तथा तिर्यग्गतिद्वन्द्वमिति त्रयम् ।
अष्टाग्रषष्टिसंख्यानास्तदन्याः प्रकृतीः पुनः ।।२००।
गतिचतुष्कसंजाता अतिसंक्लिष्टमानसाः ।
मिथ्यादृशो विपाकेन बध्नन्तीह परेण तु ।।२०१।

अर्थ—ब्यालीस पुण्यप्रकृतियोंमेंसे आतप, उद्योत, मनुष्यायु और तिर्यंगायु इन चार प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्यों-के होता है और शेष अड़तीस प्रकृतियोंका सम्यग्दृष्टि जीवोंके होता है, ऐसा कहा गया है ।।१९१-१९२।। सम्यग्दृष्टिके द्वारा बांधने योग्य अड़तीस प्रकृतियोंमेंसे मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, औदारिकशरीर, औदारिक-शरीराङ्गोपाङ्ग और वज्रवृषभनाराचसंहनन, इन पांच प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोंका धारक अविरतसम्यग्दृष्टि देव या नारकी करता है। (इसमें भी विशेषता यह है कि जो विशुद्ध-परिणाम वाला अविरतसम्यग्दृष्टि देव या नारकी, अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेके लिये तीन करण करता हुआ अनिवृत्तिकरणके अन्त समयमें स्थित होगा वही इनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है अन्य देव या नारकी नहीं) देवायुको अप्रमत्तगुणस्थानवाला तीव्र अनुभाग सहित बांधता है। शेष [1]बत्तीस प्रकृतियोंको क्षपकश्रेणीवाला मनुष्य, उत्कृष्ट अनु-भागके साथ बांधता है। सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतु-रिन्द्रिय जाति, नरकायु, नरकगति और नरकगत्यानुपूर्व इन नौ प्रकृतियों-का प्रकृष्ट अनुभागबन्ध, उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च करते हैं ।।१९३-१९६।। मनुष्यायु और तिर्यंगायु का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध, विशुद्ध—मन्द कषायरूप परिणामोंके धारक मनुष्य अथवा तिर्यञ्च करते हैं। एकेन्द्रिय तथा स्थावरका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध, मिथ्यादृष्टि देव, तीव्र संक्लेशभावसे करता है और आतपप्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध कुछ विशुद्ध परिणामोंका धारक मिथ्यादृष्टि देव इस संसारसागरमें करता है ।।१९७-१९८।। महातमःप्रभा नामक सातवें नरकमें उत्पन्न हुआ विशुद्ध परिणामोंका धारक मिथ्यादृष्टि नारकी उद्योतप्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है। असंप्राप्तसृपाटिकासंह-नन, तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चगत्यानुपूर्व्य इन तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट

---

१. अपूर्वकरण गुणस्थानके छठवें भागमें बन्धव्युच्छिन्न होनेवाली ३० प्रकृतियों में उपघातको छोड़ने तथा उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति और सातवेदनीयके मिलानेसे ३२ प्रकृतियां होती हैं। तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, तैजस, कार्मण, आहारक और आहारक अङ्गोपाङ्ग, सम-चतुरस्रसंस्थान, वर्णादिककी चार, अगुरुलघु आदि चार और त्रसादिक नौ, ये अपूर्वकरणके छठवें भागमें बन्धव्युच्छिन्न होने वाली ३० प्रकृतियां हैं।

अनुभागबन्ध मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित देव और नारकी करते हैं। और शेष रहीं अड़सठ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध, चारों गतियोंमें उत्पन्न हुए तीव्र संक्लेश परिणामोंके धारक मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।।१९९-२०१।।

आगे जघन्य अनुभागबन्धके स्वामी कहते हैं—

ज्ञानावृतिस्तथा विघ्नं चतुष्कं दर्शनावृतेः।
जुगुप्सा प्रचला हास्यं निद्रा भीती रतिस्तथा ।।२०२।।
संज्वलनं नृवेदश्चोपघातः स्पर्शनादयः।
एतासामवरो बन्धः प्रकृतीनां प्रकीर्तितः ।।२०३।।
स्वस्वव्युच्छेदनस्थाने विपाको जिनभूमिपैः।
अनस्त्यानत्रयं मिथ्यात्वं मिथ्यात्वमहीतले ।।२०४।।
अप्रत्याख्यानकोपाद्यास्तुरीये गुणधामनि।
प्रत्याख्यानकषायाश्च संयमगुणसन्मुखे ।।२०५।।
संयतासंयते, ह्याहारद्विकं किल सप्तमे।
शोकारत्योस्तथा शुद्धे प्रमत्ते गुणधामनि ।।२०६।।
सूक्ष्मादित्रितयं हीनहृषीकत्रितयं तथा।
देवगत्यादिकं षट्कमायुषां च चतुष्टयी ।।२०७।।
मृगे वापि मनुष्ये वाप्युद्योतौदारिकद्वयम्।
निर्जरे नारके वापि नीचैर्गोत्रं मृगद्विकम् ।।२०८।।
महातमःप्रभाभूमावेकाक्षः स्थावरस्तथा।
सुरे मृगे नरे वापि मध्यमभावसंश्रिते ।।२०९।।
सौधर्मस्वर्गपर्यन्तमातपस्तीर्थकृत्तथा।
असंयते नरे श्वभ्रगतिसंगतिसम्मुखे ।।२१०।।
उच्छ्वासः परघातश्च तैजसद्वितयं तथा।
पञ्चेन्द्रियं च निर्माणं त्रसवर्णचतुष्टयम् ।।२११।।
अगुरुलघुकं देवे नारके मानुषे मृगे।
उभयप्रकृतिर्वेदो वेदः सीमन्तिनी तथा ।।२१२।।

विशुद्धपरिणामेषु येषु केष्वपि देहिषु ।
स्थिरं यशः शुभं सातं स्वप्रतिपक्षसंयुतम् ॥२१३॥
अघोटमानमध्यस्थपरिणामवशं गते ।
मिथ्यात्वेनापि सम्यक्त्वेनापि शालिनि देहिनि ॥२१४॥
उच्चैर्गोत्रं नभोयानयुगलं सुभगद्वयम् ।
नरदेवगतिद्वन्द्वमादेयस्य युगं तथा ॥२१५॥
षट्कं संस्थानसंहृत्योर्मिथ्यादृश्येव देहिनि ।
सुघोटमानमध्यस्थपरिणामविशोभिते ॥२१६॥
हीनानुभागसंयुक्तं बध्यते जगतीतले ।
इत्यनुभागबन्धोऽयं संक्षेपेण प्रदर्शितः ॥२१७॥

अर्थ—ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तरायकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, जुगुप्सा, प्रचला, निद्रा, हास्य, भय, रति, संज्वलनकी चौकड़ी, पुरुषवेद, उपघात और अशुभ स्पर्शादिको चार, इन तीस प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध, अपनी-अपनी बन्धव्युच्छित्तिके स्थानमें होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। अनन्तानुबन्धीकी चार, स्त्यानगृद्धि आदि तीन तथा मिथ्यात्व इन आठका मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानमें, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका संयमगुणके सन्मुख संयतासंयत नामक पञ्चम गुणस्थानमें, आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्गका सप्तम गुणस्थानमें तथा शोक और अरतिका विशुद्धपरिणामोंके धारक प्रमत्तसंयतगुणस्थानमें जघन्य अनुभागबन्ध बँधता है ॥२०२-२०६॥ सूक्ष्मादि तीन, विकलत्रयकी तीन, देवगति आदि छह और आयुकी चार, इन सोलह प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध तिर्यञ्च तथा मनुष्यके होता है। उद्योत, औदारिक शरीर तथा औदारिकशरीरांगोपांग इन तीनका देव और नारकीके, नीचगोत्र, तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चगत्यानुपूर्व्य इन तीनका महातमःप्रभा नामक सातवीं पृथिवीमें जघन्य अनुभागबन्ध बँधता है। एकेन्द्रिय और स्थावर इन दोका मध्यमपरिणामोंको प्राप्त देव, तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमें होता है। आतपका भवनत्रिकसे लेकर सौधर्म-ऐशान स्वर्ग तक तथा तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध नरकगतिके सन्मुख अविरतसम्यग्दृष्टि

मनुष्यके होता है ॥२०७-२१०॥ उच्छ्वास, परघात, तैजस, कार्मण, पञ्चेन्द्रियजाति, निर्माण, त्रसादि चार, वर्णादि चार और अगुरुलघु इन पन्द्रह प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध संक्लेशपरिणामोंके धारक देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यञ्च—चारों गतिसम्बन्धी मिथ्यादृष्टिके होता है। नपुंसकवेद और स्त्रीवेद इन दो प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध विशुद्धपरिणामवाले चातुर्गतिक मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। स्थिर, अस्थिर, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, शुभ, अशुभ, साता वेदनीय और असातावेदनीय इन आठ प्रकृतियोंका अपरिवर्तमान मध्यम परिणामके वशीभूत सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीवके जघन्य अनुभाग बँधता है ॥२११-२१४॥ उच्चगोत्र, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, सुभग, दुर्भग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, आदेय, अनादेय, छह संस्थान और छह संहनन ये तेईस प्रकृतियाँ परिवर्तमान मध्यम परिणामोंसे सुशोभित मिथ्यादृष्टि जीवके ही जगत्में जघन्य अनुभागके साथ बँधती हैं। इस प्रकार संक्षेपसे यह अनुभागबन्धका निरूपण किया है ॥२१५-२१७॥

आगे दृष्टान्त-द्वारा घातियाकर्मोंकी शक्ति दिखाते हैं—

अनुभागमथो वक्ष्ये कर्मणां घातिसंज्ञिनाम् ।
वल्लीदार्वस्थिशैलाभा शक्तिर्वै घातिकर्मणाम् ॥२१८॥

दार्वनन्तिमभागान्तं स्पर्द्धका देशघातिनाम् ।
ततो भूधरभागान्तं स्पर्द्धकाः सर्वघातिनाम् ॥२१९॥

मिथ्यात्वप्रकृतेर्वल्लीविभागादार्वनन्तिमम् ।
सम्यक्त्वप्रकृतेर्यावत्स्पर्द्धका देशघातिनः ॥२२०॥

दार्वनन्तविभागानामनन्त्योद्भागसंमिताः ।
विचित्राः स्पर्द्धका मिश्रप्रकृतेः संभवन्ति हि ॥२२१॥

शेषा अनन्तभागाश्च कीकशशैलसन्निभाः ।
मिथ्यात्वप्रकृतेर्गीताः स्पर्द्धकाः परमागमे ॥२२२॥

मतिश्रुतावधिस्वान्तपर्ययारिचतुष्टयम् ।
अन्तरायो नृवेदश्च दर्शनावरणत्रयम् ॥२२३॥

संज्वलनचतुष्कं चेत्येतेषां किल कर्मणाम् ।
चतुर्विधश्च संचारः शेषाणां त्रिविधस्तु सः ॥२२४॥

अर्थ—अब आगे घातियाकर्मोंकी अनुभागशक्तिका निरूपण करते हैं। निश्चयसे घातियाकर्मोंकी अनुभागशक्ति लता, काष्ठ, हड्डी और शैल (पाषाणसमूह) के समान है। अर्थात् जिस प्रकार लता आदिमें उत्तरोत्तर कठोरता है उसी प्रकार घातियाकर्मोंके स्पर्द्धकोंमें भी उत्तरोत्तर फल देनेकी कठोरता—अधिकता है। इनमें दारु—लकड़ीके अनन्तवें भाग तक देशघातिके स्पर्द्धक हैं और उसके आगे शैलके अन्ततक सर्वघातिके स्पर्द्धक हैं ॥२१८-२१९॥ मिथ्यात्वप्रकृतिके लताभागसे लेकर दारुके अनन्तवें भागतक सम्यक्त्वप्रकृतिके देशघाति स्पर्द्धक हैं तथा दारुके अनन्त बहुभागोंके अनन्तवें भाग प्रमाण मिश्रप्रकृतिके विचित्र स्पर्द्धक हैं ॥२२०-२२१॥ शेष अनन्त बहुभाग भाग, हड्डी तथा शैलभागरूप स्पर्द्धक परमागममें मिथ्यात्वप्रकृतिके कहे गये हैं ॥२२२॥ मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण इस प्रकार ज्ञानावरणकी चार, अन्तरायकी पांच, पुरुषवेद, दर्शनावरणकी तीन और संज्वलनकी चार इन सत्तरह कर्मप्रकृतियोंका लता, दारु, हड्डी और शैलके भेदसे चारों प्रकारका अनुभागसम्बन्धी परिणमन होता है और शेष कर्मप्रकृतियोंमें लतारूप परिणमन न होनेसे तीन प्रकारका ही होता है ॥२२३-२२४॥

आगे अघातियाकर्मोंमें अनुभागकी विचित्रता कही जाती है—

अघातिस्पर्द्धका ज्ञेया घातिस्पर्द्धकसन्निभाः ।
घातिकाः पापरूपा हि शेषाः स्युरुभयात्मकाः ॥२२५॥

वंशस्थ

अघातिका ऐक्षवखण्डशर्करा-
सुधासमानाः शुभरूपविग्रहाः ।
हृषीकसंयोद्भवसौख्यहेतवः
प्रिया भवावर्तविवर्तिदेहिनाम् ॥२२६॥

निम्बकाञ्जीरसंतुल्या विषहालाहलोपमाः ।
मुनिभिर्निन्दनीयाः स्युः पापरूपा अघातिकाः ॥२२७॥

अर्थ—अघातियाकर्मोंके स्पर्द्धक भी घातियाकर्मोंके स्पर्धकके समान जानना चाहिये। परन्तु विशेषता यह है कि घातियाकर्म पापरूप ही होते हैं और अघातियाकर्म पाप-पुण्य दोनों रूप होते हैं ॥२२५॥ जो इन्द्रियसमूहसे उत्पन्न होनेवाले सुखके हेतु हैं तथा संसाररूप भँवरमें रहनेवाले जीवोंको प्रिय हैं ऐसे पुण्यरूप अघातिथाकर्म गुड, खाँड़, शर्करा और अमृतके समान हैं। तात्पर्य यह है कि अघातियाकर्मोंमें जो पुण्य प्रकृतियाँ हैं वे गुड़, खाँड़, शक्कर और अमृतके समान अनुभाग शक्ति वाली हैं ॥२२६॥ और मुनियोंके द्वारा निन्दनीय जो पापरूप अघाति कर्म हैं वे नीम, काञ्जीर, विष तथा हालाहलके समान हैं अर्थात् इनका अनुभाग नीम आदिके समान उत्तरोत्तर कटुक होता है ॥२२७॥

आगे अघातियाकर्मोंमें जो पुण्यप्रकृतियाँ हैं उन्हें गिनाते हैं—

सातं तिर्यङ्नृदेवायुरुच्चैर्गोत्रं नरद्विकम्।
सुरद्विकं शरीराणि बन्धसंघातपञ्चकम् ॥२२८॥
अङ्गोपाङ्गत्रयं शस्तवर्णादीनां चतुष्टयम्।
पञ्चेन्द्रियं तथा जातिराद्यसंस्थानसंहती ॥२२९॥
उच्छ्वासः परघातश्च ह्यगुरुलघुकातपौ।
उद्योतः सुनभोयानं द्वादश जङ्गमादयः ॥२३०॥
अष्टषष्टिमिता ह्येताः प्रशस्ता भेदतो मताः।
अभेदे द्व्यग्रचत्वारिंशत्संख्यासहिताश्च ताः ॥२३१॥

अर्थ—सातावेदनीय, तिर्यगायु, मनुष्यायु, देवायु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, तीन अंगोपांग, शुभवर्णादि चार, पञ्चेन्द्रिय जाति, वज्रवृषभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, उच्छ्वास, परघात, अगुरुलघु, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति और त्रसको आदि लेकर बारह, ये सब मिलाकर भेदविवक्षासे अड़सठ और अभेदविवक्षासे ब्यालीस पुण्य प्रकृतियाँ हैं ॥२२८-२३१॥

आगे पापप्रकृतियोंका नामोल्लेख करते हैं—

नीचैर्गोत्रमसातं च श्वभ्रायुर्नरकद्विकम्।
तिर्यग्द्विकं च संस्थानसंहत्योः पञ्चपञ्चकम् ॥२३२॥

जातिवर्णचतुष्कं चोपघातो घातिसंचयः।
असद्गतिर्दश स्थावराद्यः पापविग्रहाः ॥२३३॥

अर्थ—नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, अन्तके पाँच संस्थान, पाँच संहनन, प्रारम्भकी चार जातियाँ, उपघात, घातियाकर्मोंकी सैंतालीस प्रकृतियाँ, अप्रशस्तविहायोगति और स्थावरको आदि लेकर दश ये पापप्रकृतियाँ हैं। भेदविवक्षासे इनमें ९८ का बन्ध होता है और १०० का उदय होता है तथा अभेद विवक्षासे ८२ का बन्ध होता है और ८४ का उदय होता है ॥२३२-२३३॥

आगे सर्वघातिप्रकृतियोंका नामोल्लेख करते हैं—

केवलबोधविद्वेषी केवलदर्शनावृतिः।
पञ्चकं चापि निद्राणां कषायद्वादशी तथा ॥२३४॥
मिथ्यात्वं चेति कर्माणि सर्वघातीनि बुध्यताम्।
अबन्धे मिश्रमोहोऽपि सर्वघाती प्रचक्ष्यते ॥२३५॥

अर्थ—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, पाँच निद्राएँ, संज्वलनको छोड़ कर बारह कषाय और मिथ्यात्व ये बीस सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं। इनके सिवाय सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति भी सर्वघाती प्रकृति कहलाती है परन्तु उसका बन्ध नहीं होता है। २३४-२३५॥

आगे देशघाती प्रकृतियाँ कही जाती हैं—

चतुष्कं ज्ञानशत्रूणां दर्शनत्रितयं तथा।
नवकं नोकषायाणां सम्यक्त्वं विघ्नपञ्चकम् ॥२३६॥
संज्वलनं च विज्ञेयं देशघातिकदम्बकम्।

अर्थ—ज्ञानावरणकी चार, दर्शनावरणकी तीन, नौ नोकषाय, सम्यक्त्वप्रकृति, अन्तरायकी पाँच और संज्वलनकी चौकड़ी, यह देशघाति प्रकृतियोंका समूह है। भावार्थ—छब्बीस देशघातिप्रकृतियाँ हैं ॥२३६॥

आगे पुद्गलविपाकी प्रकृतियाँ कहते हैं—

देहाद्याः स्पर्शनामान्ताः पञ्चाशद् ह्यगुरुत्रयम् ॥२३७॥
आतपश्च तथोद्योतो निर्माणं सेतरं शुभम्।
प्रत्येकस्थिरयोर्युग्ममित्यासां फलसंचरः ॥२३८॥

द्व्यग्रषष्टिमितानां हि पुद्गले किल जायते ।

अर्थ—शरीरको आदि लेकर स्पर्शनाम तककी पचास (पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, तीन अंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन और वर्णादिककी बीस), अगुरुलघु आदि तीन, आतप, उद्योत, निर्माण, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, साधारण, स्थिर और अस्थिर इन बासठ प्रकृतियों-का विपाक पुद्गलपर होता है अर्थात् ये ६२ पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ हैं ॥२३७-२३८॥

आगे क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियोंका उल्लेख करते हैं—

चतुष्कमानुपूर्वीणां ज्ञेयं क्षेत्रविपाककम् ॥२३९॥
भवे विपच्यते नूनमायुषां च चतुष्टयम् ।
जीवेष्वेव विपच्यन्तेऽवशेषा अष्टसप्ततिः ॥२४०॥
वेदनीयस्य गोत्रस्य घातिनामपि कर्मणाम् ।
एकोत्तरं च पञ्चाशन्नाम्नो वै सप्तविंशतिः ॥२४१॥
ज्ञेया जीवविपाकिन्यस्ता एता अष्टसप्ततिः ।
सुस्वरादेयपर्याप्तबादरत्रसयुग्मकम् ॥२४२॥
यशो विहायसो द्वन्द्वं सुभगद्वितयं तथा ।
उच्छ्वासस्तीर्थकृज्जातिगतिपञ्चचतुष्टयम् ॥२४३॥
प्रोक्ताः प्रकृतयो नाम्नस्ता एताः सप्तविंशतिः ।
एवं विपाकबन्धोऽयं वर्णितो वरसूरिभिः ॥२४४॥

अर्थ—आनुपूर्वियोंकी चार प्रकृतियोंको क्षेत्रविपाकी जानना चाहिए । तथा चार आयुकर्म, भवविपाकी कहलाते हैं । शेष बचीं अड़सठ प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं ॥२३९-२४०॥ वेदनीय २ ,गोत्र २ और घातिया ४७ इन सबकी इक्यावन और नामकर्मकी सत्ताईस, दोनों मिलकर अठहत्तर जीवविपाकी प्रकृतियाँ हैं । सुस्वर, आदेय, पर्याप्तक, बादर और त्रसका युगल, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्त-विहायोगति, सुभग, दुर्भग, उच्छ्वास, तीर्थंकर, पाँच जाति और चार गति ये नामकर्मकी सत्ताईस प्रकृतियाँ उत्तम आचार्योंने कही हैं ॥२४१-२४४॥

इस प्रकार अनुभागबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ ।

आगे प्रदेशबन्धका निरूपण करनेके लिए सबसे पहले प्रदेशबन्धका स्वरूप बताते हैं—

इन्द्रवज्रा

आत्मा प्रदेशैर्निखिलैः समन्तात्
योगादिभिः कर्मसुयोग्यद्रव्यम् ।
बध्नाति यन्नाम मिथः प्रविष्टं
बन्धं प्रदेशं तु तमावदन्ति ॥२४५॥

अर्थ—आत्मा, योगादिके कारण सब ओरसे समस्त प्रदेशोंके द्वारा आत्मप्रदेशोंमें परस्पर प्रविष्ट, कर्मरूप होनेके योग्य कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्यको जो बाँधता है उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥२४५॥

मालिनी छन्द

सकलसुरभिरूपस्वादयुक्तं चतुर्भि-
र्ललितमथ समन्तादन्तिमैः स्पर्शसङ्गैः ।
गतभवमनुजेभ्योऽनन्तभागं त्वभव्या-
दपि गुणितमनन्तैर्द्रव्यमाबध्यते तत् ॥२४६॥

अर्थ—समस्त गन्ध, वर्ण और रसोंसे युक्त तथा अन्तिम चार स्पर्शोंसे सहित, सिद्धोंके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणित द्रव्य प्रत्येक समय बँधता है यही समयप्रबद्ध कहलाता है ॥२४६॥

आगे इस समय प्रबद्धका मूल प्रकृतियोंमें किस प्रकार विभाग होता है, यह कहते हैं—

आयुषः सर्वतः स्तोकस्ततो वै नामगोत्रयोः ।
समोऽधिकस्ततो विघ्नबोधदृष्टिविरोधिनाम् ॥२४७॥
ततोऽधिकश्च विज्ञेयो मोहनीयस्य कर्मणः ।
सर्वस्मादधिको ज्ञेयो वेदनीयस्य कर्मणः ॥२४८॥
प्रदेशानां विभागोऽयं सञ्चिते, कर्मसञ्चये ।
अयं प्रदेशबन्धः स्याज्जीवानां योगहेतुकः ॥२४९॥

अर्थ—सञ्चित कर्मराशिरूप समयप्रबद्धमें प्रदेशोंका यह विभाग सबसे कम आयुकर्मका होता है। उससे अधिक नाम और गोत्रका होता

है जो परस्पर समान होता है। उससे अधिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका होता है जो परस्पर समान होता है। उससे अधिक मोहनीयकर्मका होता है और सबसे अधिक वेदनीयकर्मका होता है। जीवोंका यह प्रदेशबन्ध योगनिमित्तक होता है ॥२४७-२४९॥

आगे कर्मप्रदेशोंमें हीनाधिकताका कारण बताते हैं—

सुखदुःखनिमित्तत्वाद्वेदनीयस्य भूयसी ।
निर्जरा जायते तस्माद्द्रव्यं तस्याधिकं भवेत् ॥२५०॥
प्रकृतीनां च शेषाणां स्वस्थितिप्रतिभागतः ।
कर्मद्रव्यविभागः स्यादित्याहुः समयस्थिताः ॥२५१॥
आवल्यसंख्यभागस्तु प्रतिभागो हि सम्मतः ।
बहुभागे समो भागो ह्यष्टानामपि कर्मणाम् ॥२५२॥
एकभागे तु कर्त्तव्यो भूयोऽपि कथितः क्रमः ।
तत्रापि बहुको भागी दातव्यो बहुकस्य वै ॥२५३॥

अर्थ—सुख-दुःखका कारण होनेसे वेदनीयकर्मकी निर्जरा अधिक होती है इसलिए उसका द्रव्य सबसे अधिक होता है और शेष कर्म प्रकृतियोंके द्रव्यका विभाग अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार होता है। अर्थात् जिस कर्मकी स्थिति अधिक है, उसे अधिक भाग मिलता है और जिन कर्मोंकी स्थिति अल्प होती है उन्हें अल्प मिलता है। साथ ही जिनकी स्थिति तुल्य होती है उन्हें तुल्य भाग प्राप्त होता है। सबसे अल्प भाग आयुकर्मको मिलता है ऐसा आगमके ज्ञाता कहते हैं ॥२५०-२५१॥ समयप्रबद्धका विभाग करनेके लिए आवलीके असंख्यातवें भागको प्रतिभाग माना गया है। समयप्रबद्धमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देनेपर जो लब्ध आता है वह एक भाग कहलाता है उस एक भागको समयप्रबद्धके प्रमाणमेंसे घटा देनेपर शेष बचा हुआ समय-प्रबद्धका द्रव्य बहुभाग कहलाता है। इस बहुभागमें आठों कर्मोंका बराबर बराबर भाग होता है और जो एक भाग था उसमें पुनः वही क्रम करना चाहिये अर्थात् उसमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देना चाहिये। भाग देनेपर जो लब्ध आता है उसे एक भाग कहते हैं। उस एक भागको भाज्यराशिमेंसे घटानेपर जो द्रव्य रहता है। वह बहुत भागवाले कर्मको देना चाहिये। शेष भागमें यही क्रम पुनः करना चाहिये ॥२५२-२५३॥

विशेषार्थ—प्रदेशबन्धमें समयप्रबद्धका यह विभाग निम्नलिखित दृष्टान्तसे स्पष्ट हो जाता है। मान लो, समयप्रबद्धका प्रमाण ६५५३६ है और आवलीके असंख्यातवें भागका प्रमाण ४ है। ६५५३६ में ४ का भाग देनेपर १६३८४ आते हैं, यह एक भाग है। इसे ६५५३६ मेंसे घटाने-पर ४९१५२ रहे, यह बहुभाग हुआ। इसमें ८ का भाग देकर आठों कर्मोंको बराबर-बराबर ६१४४, ६१४४ दे दिया। पश्चात् एक भाग १६३८४ में पुनः ४ का भाग दिया ४०९६ आये, यह एक भाग हुआ। इसे १६३८४ मेंसे घटानेपर १२२८८ बहुभाग आया, इसे वेदनीयकर्मको दे दिया। पुनः ४०९६ में ४ का भाग देनेपर १०२४ एक भाग आया, इसे ४०९६ मेंसे घटानेपर ३०७२ बहुभाग रहा, इसे मोहनीयकर्मके लिए दे दिया। पश्चात् एक भाग १०२४ में पुनः ४ का भाग दिया, एक भाग २५६ आया। इसे १०२४ मेंसे घटानेपर ७६८ बहुभाग आया, इसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायको बराबर-बराबर २५६, २५६ के रूपमें दे दिया। पश्चात् एक भाग २५६ में पुनः ४ का भाग दिया एक भाग ६४ आया इसे २५६ मेंसे घटानेपर १९२ बहुभाग आया। इसे नाम और गोत्रके लिए ९६, ९६ के रूपमें दे दिया। शेष रहा एक भाग ६४ आयु कर्मको दिया गया। इस प्रकारका विभाग करनेसे आठ कर्मोंको निम्नलिखित द्रव्य प्राप्त हुआ—

वेदनीय	६१४४ + १२२८८ =	१८४३२
मोहनीय	६१४४ + ३०७२ =	९२१६
ज्ञानावरण	६१४४ + २५६ =	६४००
दर्शनावरण	६१४४ + २५६ =	६४००
अन्तराय	६१४४ + २५६ =	६४००
नाम	६१४४ + ९६ =	६२४०
गोत्र	६१४४ + ९६ =	६२४०
आयु	६१४४ + ६४ =	६२०८
		६५५३६

आगे उत्तरप्रकृतियोंमें समयप्रबद्धके विभागका क्रम कहते हैं—

आद्ययोर्मोहनीयस्योत्तरभेदाः पुनर्मताः।
हीनक्रमा नामविघ्नास्त्वधिकक्रमसंयुताः ॥२५४॥
भञ्जनं न च शेषे स्याद् भाषितं चेति सूरिभिः।
मूलप्रकृतिसंभागेऽनन्तेनोद्वर्तिते सति ॥२५५॥

एकभागो भवेत्तत्र सर्वावरणकर्मणाम् ।
शेषा अनन्तभागास्तु भवेयुर्देशघातिनाम् ॥२५६॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ हीनक्रमको और नाम तथा अन्तराय कर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ अधिक क्रमको लिये हुए हैं। शेष वेदनीय और गोत्र कर्मकी प्रकृतियोंमें विभाग नहीं होता, क्योंकि परस्पर विरोधी दो प्रकृतियोंमेंसे एक कालमें एक ही प्रकृतिका बन्ध होता है। अतः जिसका बन्ध होता है संपूर्ण द्रव्य उसीको मिलता है, ऐसा आचार्योंने कहा है। मूलप्रकृतिके द्रव्यमें अनन्तका भाग देनेपर जो एक भाग आता है वह सर्वघातिका द्रव्य है और जो शेष बहुभाग है वह देशघातिका द्रव्य होता है ॥२५४-२५६॥

देशावरणभेदानामन्योन्याभ्यस्तसंचयः ।
अनन्तगणनामानो भण्यते यो महागमे ॥२५७॥
सर्वावरणसम्पत्त्यै प्रतिघातः स घातिनाम् ।
सर्वावरणसम्पत्तिरुभयत्र विभज्यताम् ॥२५८॥
देशावरणद्रव्यं तु न देयं सर्वघातिषु ।
संविभागविधिश्चात्र यथापूर्वं हि वर्तते ॥२५९॥

आर्या

मोहे मिथ्यात्वादिसप्तदशानां प्रदीयते हीनम् ।
संज्वलनभागसदृश पञ्चानां नोकषायाणाम् ॥२६०॥

अर्थ—देशावरणप्रकृतियोंकी जो अन्योन्याभ्यस्त राशि परमागममें अनन्तभाग प्रमाण कही जाती है वही घातियाकर्मोंमें सर्वघातिका द्रव्य निकालनेके लिए प्रतिभाग होता है। सर्वघातिका द्रव्य सर्वघाति और देशघाति दोनोंमें विभक्त करना चाहिए। परन्तु देशघातिका द्रव्य देशघातिके लिए ही दिया जाता है सर्वघातिके लिए नहीं। इनके विभागका क्रम जैसा पूर्वमें कहा गया है वैसा ही है। मोहनीयकर्ममें सत्तरह अर्थात् मिथ्यात्व और चारों प्रकारका लोभ, माया, क्रोध, मानका द्रव्य क्रमसे हीन हीन दिया जाता है और पांच नोकषायोंका भाग संज्वलनके भागके समान जानना चाहिए ॥२५७-२६०॥

आगे उसीके विभागका क्रम स्पष्ट करते हैं—

मोहे कर्ममहीपाले द्रव्यं यद्देशघातिनाम् ।
आवल्यसंख्यभागेन तस्मिन् संभाजिते सति ॥२६१॥
एकभागं पृथक्कृत्य बहुभागं द्विधा कुरु ।
तत्राधं नोकषायाणामेकभागयुतं पुनः ॥२६२॥
भवेदर्धं चतुर्णां च संज्वलनाभिधायिनाम् ।
तन्नोकषायभागश्च युगपद्बन्धसंगते ॥२६३॥
पञ्चके नोकषायाणां हीनहीनक्रमाद्भवेत् ।
देशघातिप्रभेदेषु देशावरणकस्वरम् ॥२६४॥
देयमुक्तक्रमादेव भाषितं चेति सूरिभिः ।
मर्त्यवेदे हि बन्धस्य कालो भिन्नमुहूर्तकः ॥२६५॥
योषायां हसनद्वन्द्वेऽरतिद्वन्द्वे तथा ततः ।
संख्यातगुणितः क्लीबे वेदे वै साधिकश्च सः ॥२६६॥
दानादिष्वन्तरायेषु सार्धं बन्धयुतेषु च ।
गतीन्द्रियादिपिण्डेषु नामभेदेषु वै तथा ॥२६७॥
निर्माणादिष्वपिण्डेषु क्रमः स्याद्विपरीतकः ।
एवं प्रदेशबन्धस्य संकलितः क्रमो मया ॥२६८॥

अर्थ—कर्मोंका राजा कहे जाने वाले मोहनीय कर्ममें देशघातिका जो द्रव्य है उसे आवलीके असंख्यातवें भागसे भाजित करे। एक भागको पृथक् कर बहुभागके दो भाग करो। उनमेंसे आधा तथा एकभाग दोनों मिलकर नोकषायोंका द्रव्य है और आधा चार संज्वलनकी प्रकृतियोंका भाग है। वह नोकषायोंका भाग एक साथ बँधने वाली पाँच नोकषायोंको हीन क्रमसे दिया जाता है। इसी प्रकार देशघाति संज्वलन कषायका जो देशघातिसम्बन्धी द्रव्य है वह एक कालमें बँधनेवाली प्रकृतियोंमें उपर्युक्त क्रमसे देने योग्य है ऐसा आचार्योंने कहा है। पुरुषवेदका निरन्तर बन्ध होनेका काल अन्तर्मुहूर्त है। उससे संख्यातगुणा स्त्रीवेदका, उससे भी संख्यातगुणा हास्य और रतिका, उससे भी संख्यातगुणा अरति और शोकका और उससे भी कुछ अधिक नपुंसक-

वेदका है। दानान्तराय आदि पाँच प्रकृतियोंमें, तथा एक साथ बँधने वाली नामकर्मकी गति आदि पिण्ड प्रकृतियों और निर्माण आदि अपिण्ड प्रकृतियोंमें विपरीत क्रम जानना चाहिए अर्थात् अन्तसे लेकर आदि तक क्रम जानना चाहिए। इस प्रकार प्रदेशबन्धका क्रम संकलित किया गया है ॥२६१-२६८॥

अब उत्कृष्ट प्रदेशबन्धकी सामग्री और उसके स्वामी कहते हैं—

उत्कृष्टयोगसंयुक्तः संज्ञी पर्याप्तकस्तथा ।
अल्पप्रकृतिबन्धाढ्यः कुरुते कोऽपि मानवः ॥२६९॥
प्रदेशबन्धमुत्कृष्टं तद्भिन्नस्तु जघन्यकम् ।
उत्कृष्टमायुषो बन्धं प्रदेशं सप्तमस्थितः ॥२७०॥
कुरुते मोहनीयस्य मानवो नवमस्थितः ।
शेषाणां सूक्ष्मलोभस्थः करोत्युत्कृष्टयोगतः ॥२७१॥

अर्थ—जो उत्कृष्ट योगसे सहित है, संज्ञी है, पर्याप्तक है तथा अल्प-प्रकृतिबन्धसे युक्त है ऐसा कोई मनुष्य उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है और उससे भिन्न मनुष्य जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सप्तम गुणस्थानवर्ती करता है। मोहनीयका उत्कृष्ट प्रदेश-बन्ध नवम गुणस्थानवर्ती करता है और शेष ज्ञानावरणादि कर्मोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें रहनेवाला जीव उत्कृष्ट योगसे करता है ॥२६९-२७१॥

आगे उत्तरप्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी कहते हैं—

उच्चैर्गोत्रयशस्कीर्तिज्ञानदर्शनवैरिणाम् ।
विघ्नसद्वेद्ययोर्द्रव्यमुत्कृष्टं दशमस्थितः ॥२७२॥
नरवेदादिपञ्चानां नवमस्थानसुस्थितः ।
प्रत्याख्यानचतुष्कस्य संयतासंयतस्थितः ॥२७३॥
अप्रत्याख्यानपिण्डं तु तुरीयस्थानसंगतः ।
षण्णोकषायनिद्राणां प्रचलातीर्थयोस्तथा ॥२७४॥
सम्यग्दृष्टिर्नरामर्त्यायुषोः शस्तनभोगतेः ।
समादिचतुरस्रस्य सुभगादित्रिकस्य च ॥२७५॥

देवगतिचतुष्कस्यासद्वेद्यस्याद्यसंहते: ।
सम्यग्दृष्टिः कुदृष्टिर्वाहारकयुगलस्य तु ॥२७६॥
अप्रमत्तगुणस्थानसंगतः परमो यतिः ।
प्रदेशबन्धमुत्कृष्टं कुरुते जगतीतले ॥२७७॥

आर्या

षट्षष्टिप्रमितानामवशिष्टानां पुनः प्रभेदानाम् ।
मिथ्यात्वगरलदूषितचेताः कुरुते परं बन्धम् ॥२७८॥

अर्थ—उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति, ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, अन्तरायकी पाँच और सातावेदनीय इन सत्तरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध दशमगुणस्थानवर्ती जीव करता है। पुरुषवेदादि पाँचका नवमगुणस्थानवर्ती, प्रत्याख्यानावरणकी चौकड़ीका संयतासंयत गुणस्थानवर्ती, अप्रत्याख्यानावरणकी चार प्रकृतियोंका चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, छह नोकषाय, निद्रा, प्रचला और तीर्थंकरप्रकृतिका सम्यग्दृष्टि, मनुष्यायु, देवायु, प्रशस्त विहायोगति, समचतुरस्रसंस्थान, सुभगादि तीन, देवगतिचतुष्क, असाता वेदनीय और वज्रवृषभनाराचसंहनन इन तेरह प्रकृतियोंका सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि—दोनों ही और आहारक युगलका अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती उत्तम मुनि पृथिवीतलपर उत्कृष्ट बन्ध करते हैं ॥२७२-२७७॥ उपर्युक्त चौंवन प्रकृतियोंके सिवाय शेष छयासठ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध, मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित चित्तवाला अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव करता है ॥२७८॥

आगे जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामी कहते हैं—

अपर्याप्तस्तथा सूक्ष्मो निगोदः सप्तकर्मणाम् ।
आद्ये जघन्यके योगे कुरुतेऽवरबन्धनम् ॥२७९॥
भवत्यायुष्कबन्धेऽपि स एव क्षुद्रजन्तुकः ।
जघन्यमायुषश्चापि द्रव्यं संचिनुतेतराम् ॥२८०॥

अर्थ—अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीव पर्यायके प्रथम समयमें जघन्य योगके रहते हुए आयुको छोड़कर शेष सात कर्मोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है और जब आयुका बन्ध होता है तब वही क्षुद्रजीव आयुकर्मका भी जघन्य द्रव्य संचित करता है ॥२७९-२८०॥

आगे उत्तरप्रकृतियोंके जघन्य बन्धके स्वामी कहते हैं—

असंज्ञी चलयोगश्च श्वभ्रदेवायुषोस्तथा ।
श्वभ्रद्विकस्य वै तुच्छं बन्धं बध्नातिभूतले ॥२८१॥

आहारकयुगस्याथ षष्ठस्थोऽसंयतस्थितः ।
कुरुते बन्धनं हीनं तीर्थदेवचतुष्कयोः ॥२८२॥

चरमापूर्णजन्मस्थश्चाद्यविग्रहसुस्थितः ।
सूक्ष्मसाधारणो जीवो ह्यधमो जीवराशिषु ॥२८३॥

नवोत्तरशताङ्कानां भवकक्षपयोमुचाम् ।
शेषाणां प्रकृतीनाञ्चाऽवरं बध्नाति बन्धनम् ॥२८४॥

समासतः समासाद्य ग्रन्थान्तरसहायताम् ।
इत्थं प्रदेशबन्धोऽयं भाषितः सुरभाषया ॥२८५॥

अर्थ—परिणामयोगस्थानका धारक असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव नरकायु, देवायु, नरकगति और नरकगत्यानुपूर्व्य इन चारका जघन्य प्रदेशबन्ध पृथिवीतलपर करता है ॥२८१॥ आहारकयुगलका षष्ठ गुणस्थानवर्ती और तीर्थंकर तथा देवगतिचतुष्क इन छहका असंयतगुण-स्थानवर्ती जघन्य प्रदेशबन्ध करता है ॥२८२॥ अपर्याप्तक एकेन्द्रियके छह हजार बारह क्षुद्रभवोंमेंसे जो अन्तिम भवमें स्थित है तथा तीन मोड़ावाली विग्रह गतिके प्रथम मोड़ामें स्थित है ऐसा सूक्ष्म अपर्याप्तक साधारण सबसे अधम जीव, उपर्युक्त ग्यारह प्रकृतियोंमेंसे शेष बची उन एकसौ नौ प्रकृतियोंका, जोकि संसाररूपी वनको पल्लवित करनेके लिये मेघके समान हैं, जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। इस प्रकार अन्य ग्रन्थोंकी सहायतासे यह प्रदेशबन्ध संक्षेपसे संस्कृत-भाषामें कहा गया है ॥२८३-२८५॥

इस प्रकार प्रदेशबन्ध पूर्ण हुआ।

आगे बन्धके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार भेदोंका वर्णन करनेके बाद अन्य प्रकारसे उसके भेद कहते हैं—

अनादिसादिभेदेन पुण्यपापविभेदतः ।
द्रव्यभावविभेदाद्वा बन्धोऽयं भिद्यते द्विधा ॥२८६॥

यह बन्ध अनादि और सादि, पुण्य और पाप तथा द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकार का है। अनादि कालसे जो बन्ध चला आ रहा है वह अनादि बन्ध कहलाता है। जो बन्ध कुछ समयके लिये उपरितन गुण-स्थानोंमें जानेके कारण रुक जाता है तथा पश्चात् पुनः प्रतिपात होनेसे नीचे आनेपर होने लगता है वह सादि बन्ध कहलाता है। सांसारिक सुख देनेवाली सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध होना पुण्यबन्ध तथा नरकादि गतियोंका दुःख देनेवाला असातावेदनीय आदि पाप प्रकृतियोंका बन्ध होना पापबन्ध कहलाता है। ज्ञानावरणादि पौद्गलिक पिण्डका बन्ध होना द्रव्यबन्ध है तथा उसके कारणभूत आत्माके रागादि परिणाम भावबन्ध हैं ॥२८६॥

आगे बन्ध ही दुःखका कारण है यह कहते हैं—

शिखरिणी छन्द

यथा सिंहो नानाकठिननिगडैर्बद्धचरणः
प्रचण्डायोदण्डाऽचितसदनावासनमितः ।
चिरं दुःखं भुङ्क्ते विविधविधिसंबद्धहृदय-
स्तथा काये काराभुवि बत वसन् देहिनिचयः ॥२८७॥

अर्थ—अनेक प्रकारकी कठिन बेड़ियोंसे जिसके चरण बँधे हुए हैं, जो प्रचण्ड लोहदण्डोंसे निर्मित घरमें निवासको प्राप्त है तथा विविध कर्मबन्धोंसे जिसका हृदय संबद्ध है ऐसा सिंह जिस प्रकार चिरकालसे दुःख भोगता है उसी प्रकार शरीररूपी कारागारमें निवास करता हुआ यह जीव खेद है कि चिरकालसे दुःख भोग रहा है ॥२८७॥

वंशस्थ

यथा पयोदालितिरोहितो रवि-
श्चकास्ति नो जातु निरुद्धदीधितिः ।
तथायमात्मापि निरुद्धचेतनो
न शोभते कर्मकलापसंगतः ॥२८८॥

अर्थ—जिसप्रकार मेघमालाके द्वारा आच्छादित सूर्यकिरणोंके रुक जानेसे कभी शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार कर्मसमूहसे युक्त यह जीव चेतना—ज्ञानादि शक्तिके निरुद्ध हो जानेसे कभी— संसार दशामें शोभाय-मान नहीं होता है ॥२८८॥

आगे सिंहकी अन्योक्तिके द्वारा आत्माके कर्तव्य का निर्देश करते हैं—

मालिनी

प्रखरनखरशस्त्रोद्भिन्नवैतण्डगण्डो-
द्गलितरुचिरमुक्तामण्डलाकीर्णभूमे ।
अयि नृप हरिणानां किं किमेवंविधस्त्वं
ह्यनुभवसि निरन्तं दुःखसंभारमुग्रम् ॥२८९॥
कुरु कुरु पुरुषार्थं मुञ्च मुञ्चाद्य तन्द्रां
झटिति विकटरावैः पूरयारण्यमेतत् ।
अचिरमिह भवेस्त्वं बन्धनाद् विप्रमुक्तो-
ह्यतुलबलनिधानस्याद्य किं दुष्करं ते ॥२९०॥

अर्थ—अत्यन्त तीक्ष्ण नखरूपी शस्त्रोंके द्वारा विदीर्ण हाथियोंके गण्डस्थलसे निकले हुए सुन्दर मोतियोंके समूहसे जिसने पृथिवीको व्याप्त कर दिया है ऐसा हे मृगराज ! तू इस प्रकारका होता हुआ बहुत भारी अनन्त दुःखसमूहको क्यों भोग रहा है ? पुरुषार्थ कर, आज अपनी तन्द्रा को छोड़, शीघ्र ही विशाल गर्जनासे इस वनको भर दे, तू शीघ्र ही बन्धनसे मुक्त हो सकता है, निश्चयसे अतुल्य बलके स्थानस्वरूप तेरे लिये आज कठिन क्या है ? यहाँ सिंहके माध्यमसे अनन्त बलके धारक आत्मा को संबोधित किया गया है ॥२८९-२९०॥

आगे प्रश्नोत्तर की रीतिसे बन्धके कारणका कथन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित

भो स्वामिन् किमयं जनो भववने दुःखं भरन् भ्राम्यति
सद्यः प्राह स कर्मबन्धनिरतः कस्मात् स संजायते ।
रागद्वेषवशादहो प्रभवतः कस्माद् गुरो तावपि
त्विष्टानिष्टविकल्पनात्तत इदं संसारमूलं परम् ॥२९१॥

अर्थ—शिष्य गुरुसे पूछता है—हे स्वामिन् ! यह जीव दुःखको उठाता हुआ भववन—संसाररूपी अटवीमें क्यों घूम रहा है ? शीघ्र ही गुरुने कहा—कर्मबन्धमें अत्यन्त लीन होनेसे। शिष्यने पूछा कि वह कर्मबन्ध किस कारणसे होता है ? गुरुने उत्तर दिया—रागद्वेषके वशसे। शिष्यने पुनः पूछा कि हे गुरुदेव ! वे रागद्वेष क्यों होते हैं ? गुरुने कहा—

इष्ट और अनिष्टकी कल्पनासे। इस प्रकार यह इष्ट-अनिष्टकी कल्पना ही संसारका मूल कारण है।

भावार्थ—यह जीव मिथ्यात्वके उदयमें आत्माके सुखस्वभावको भूलकर पर-पदार्थोंसे सुख-दुःखकी प्राप्ति मानता है। जिससे वह सुखकी प्राप्ति समझता है उसे इष्ट मानने लगता है और जिससे दुःखकी प्राप्ति मानता है उसे अनिष्ट मानने लगता है। इस इष्ट-अनिष्टकी विपरीत कल्पनासे राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है और उन्हीं राग-द्वेषके वशीभूत होनेके कारण उस कर्मबन्धको प्राप्त होता है जिससे संसाररूपी अटवीमें भ्रमण करना पड़ रहा है। तात्पर्य यह है कि यदि इस भवभ्रमणसे बचनेकी इच्छा है तो सर्वप्रथम आत्मस्वभावकी श्रद्धा करनी चाहिये और पश्चात् उस आत्मस्वभावको प्राप्त करनेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। जीवका यह पुरुषार्थ ही सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥२९१॥

इस प्रकार साम्यक्त्वचिन्तामणिमें बन्धतत्त्वका निरूपण करनेवाला सप्तम मयूख पूर्ण हुआ।

अष्टमो मयूखः

अब अष्टम मयूखके प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करते हुए तीर्थनायक श्री महावीर स्वामीका स्तवन करते हैं—

शार्दूलविक्रिडित

वीरः सोऽत्र तनोतु मोदममितं भव्यात्मनां सन्ततं
यस्य ज्ञानदिवेन्द्रदिव्यविपुलालोकेऽखिलालोकने ।
नानाशैलशिखामणिः सुरमणिक्रीडाकदम्बोच्छ्रितोऽ-
प्याक्रान्तत्रिजगत्तलोऽचलपतिर्मेरुः स कीटायते ॥१॥

अर्थ—इस जगत्‌में वे महावीर भगवान् निरन्तर भव्य जीवोंके अपरिमित आनन्दको विस्तृत करें जिनके कि सबको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानरूपी सूर्यके दिव्य तथा विशाल प्रकाशके बीचमें इन्द्रकी क्रीड़ाओंसे समुन्नत, तीनों लोकोंमें व्याप्त, नाना पर्वतोंका शिरमौर वह पर्वतराज सुमेरु पर्वत भी कीड़ाके समान जान पड़ता है।

भावार्थ—जिनके विशाल-अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेदोंसे युक्त केवलज्ञानमें एक लाख योजन ऊँचाई वाला सुमेरु पर्वत भी तुच्छ जान। पड़ता है वे महावीर भगवान् भव्यात्माओंको आत्मिक सुख प्रदान करें॥१॥

आगे संवरतत्त्वका वर्णन किया जाता है। अतः सर्वप्रथम संवरका लक्षण लिखते हैं—

आस्रवस्य निरोधो यः संवरः सोऽभिधीयते ।
द्रव्यभावविभेदेन स तु द्वेधा विभिद्यते ॥२॥
पुद्गलकर्मणां तत्रानास्रवणं द्रव्यसंवरः ।
तद्धेतुभावनाभावोऽभिहितो भावसंवरः ॥३॥

अर्थ—जो नवीन कर्मोंके आस्रवका रुक जाना है वह संवर कहलाता है। वह संवर, द्रव्यसंवर और भावसंवरके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोंका आगमन रुक जाना द्रव्यसंवर है और उसके कारणभूत भावनाओंका जो सद्भाव है वह भावसंवर है ॥२-३॥

आगे संवरका माहात्म्य कहते हैं—

संवरो हि परो बन्धुः संवरः परमं हितम् ।
नान्तरा संवरं लोके निर्जरा कार्यकारिणी ॥४॥

अर्थ—लोकमें संवर ही उत्कृष्ट बन्धु है और संवर ही उत्कृष्ट हितकारी है क्योंकि संवरके बिना निर्जरा कार्यकारी नहीं है ॥४॥

अब संवरके कारण कहते हैं—

आर्या

गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयैश्च चारित्रैः ।
तपसाऽपि संवरोऽसौ भवतीति निरूपितं सद्भिः ॥५॥

अर्थ—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र और तपके द्वारा वह संवर होता है ऐसा सत्पुरुषोंने कहा है। यहां तपसे संवर और निर्जरा दोनोंकी सिद्धि समझना चाहिये ॥५॥

आगे गुप्तिका लक्षण और भेद कहते हैं—

मनसां वचसां किञ्च कायानां च विनिग्रहः ।
तिस्रस्तु गुप्तयस्तत्र प्रोक्ताः प्रज्ञायुतैर्जिनैः ॥६॥

अर्थ—मन, वचन और काय योगोंका सम्यक् प्रकारसे निग्रह करना गुप्ति है। केवलज्ञानरूप प्रज्ञासे युक्त जिनेन्द्र भगवान्‌ने इसके तीन भेद कहे हैं—१ मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति और ३ कायगुप्ति। इन सबका अर्थ स्पष्ट है ॥६॥

आगे समितिका व्याख्यान करते हैं—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञिताः ।
एताः समितयः पञ्च जिनचन्द्रनिरूपिताः ॥७॥

अर्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग ये पांच समितियां जिनेन्द्र भगवान्‌की कही हैं।

भावार्थ—सम्-प्रमादरहित इति-प्रवृत्तिको समिति कहते हैं। संसारी प्राणीकी प्रवृत्ति पांच प्रकारकी ही होती है—१ चलना, २ बोलना, ३ खाना, ४ रखना-उठाना और ५ मलमूत्र छोड़ना। संसारके समस्त कार्य इन्हीं पांचमें गर्भित हो जाते हैं। इन पांचोंके विषयमें प्रमादरहित होकर कार्य किया जाय तो ये ही पांच समितियां हो जाती हैं। १ ईर्या—प्रमादरहित होकर चलना, २ भाषा—प्रमादरहित होकर हित-मित-प्रिय वचन बोलना, ३ एषणा—प्रमादरहित होकर दिनमें एकबार शुद्ध—निर्दोष आहार करना, ४ आदाननिक्षेपण—प्रमादरहित होकर-देखभालकर किसी वस्तुको रखना-उठाना और ५ उत्सर्ग—प्रमादरहित होकर जीवरहित स्थानपर मलमूत्रादि छोड़ना ॥७॥

आगे ईर्यासमितिका विस्तारसे वर्णन करते हैं—

रश्मिमालिकरस्पृष्टे जनसंचारमर्दिते ।
शष्पादिरहिते सूक्ष्म-जन्तुजातविवर्जिते ॥८॥
मार्गे युगमितां दृष्ट्वा पृथ्वीं सावहितो भवन् ।
सद्दयाविमलस्रोतःपवित्रीकृतविष्टपः ॥९॥
व्रजन् प्रव्रजितस्वामी शान्तिपीयूषसागरः ।
भण्यते मुनिभिर्जैनैरीर्यासमितिधारकः ॥१०॥
प्रमादयोगमुज्झित्वा गच्छतीह महामुनौ ।
प्राणिनि म्रियमाणेऽपि न मुनिस्तस्य घातकः ॥११॥
न वापि म्रियतां जीवो म्रियतां वा निजेच्छया ।
सप्रमादो यतिस्तत्र पापात्मा भवति ध्रुवम् ॥१२॥
गतः प्रमत्तयोगेन प्राणानां व्यपरोपणम् ।
हिंसनं भवतीत्येवं भाषितं पूर्वसूरिभिः ॥१३॥

उक्तञ्च—

'उच्चालिदम्हि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।
आवाधेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥१॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समए ।
मुच्छापरिग्गहो त्ति य अज्झप्पमाणदो भणिदो ॥२॥
मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पमदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥३॥

अर्थ—सूर्यकी किरणोंसे स्पृष्ट, मनुष्योंके गमनसे मर्दित, घास आदिसे रहित और सूक्ष्मजीवोंके समूहसे वर्जित मार्गमें युगप्रमाण भूमिको देखकर जो सावधान होते हुए चल रहे हैं, समीचीन दयारूपी निर्मल निर्झरसे जिन्होंने जगत्‌को पवित्र कर दिया है तथा जो शान्तिरूपी अमृतके सागर हैं ऐसे मुनिराज, जैन मुनियोंके द्वारा ईर्यासमितिके धारक कहे जाते हैं। जब महामुनि प्रमादयोग छोड़कर चल रहे हैं तब जीवका घात हो जानेपर भी वे उस जीवका घात करनेवाले नहीं होते हैं। इसके विपरीत मुनि यदि प्रमादसहित होकर चल रहे हैं तो जीव मरे अथवा निजेच्छासे न

मरे, मुनि निश्चित ही पापके भागी होते हैं, क्योंकि प्रमत्तयोगसे प्राणोंका विघात होना हिंसा है, ऐसा पूर्वाचार्योंने कहा है ॥८-१३॥

जैसा कि कहा गया है—

अर्थ—ईर्यासमितिसे चलनेवाले मुनिने चलते समय मार्गमें अपना पैर ऊपर उठाया और इसी समय कोई क्षुद्रजीव उनके पैरका संयोग पाकर यदि मर जाता है तो उनके उस निमित्तसे होनेवाला सूक्ष्म बन्ध भी आगममें नहीं कहा गया है क्योंकि जिस प्रकार अध्यात्मदृष्टिसे मूर्च्छा—ममता-भावको ही परिग्रह कहा है उसी प्रकार यहाँ रागादिकी उत्पत्तिको ही हिंसा कहा है। जीव मरे अथवा न मरे, अयत्नाचारपूर्वक चलनेवाले मुनिके हिंसा निश्चित रूपसे होती है और जो यत्नाचारपूर्वक ईर्यासमितिसे चल रहा है उसके हिंसामात्रसे बन्ध नहीं होता है ॥१-३॥

आगे भाषासमितिका वर्णन करते हैं—

हितं मितं प्रियं तथ्यं सर्वसंशयनाशनम् ।
वचनं यस्य साधुः स भाषासमितिधारकः ॥१४॥

वंशस्थवृत्त

अये रसज्ञे कविसङ्घसंस्तुते कथं परेषामहिते प्रवर्तसे ।
हिते न ते स्याद्यदि वा प्रवर्तनं प्रमुञ्च दूरादहिते तथापि तत् ॥१५॥

यावता कार्यसिद्धिः स्यात्तावदेव निगद्यताम् ।
शतेन कार्यनिष्पत्तौ सहस्रं कः सुधीस्त्यजेत् ॥१६॥

मालिनी

वदतु वदतु रम्यं सर्वलोकश्रुतीनां
न खलु मधुरवादे दृश्यते कापि हानिः ।
अपि जगति नराणां माधुरी भारतीनां
नृपतिशतकमैत्रीं हेलया संददाति ॥१७॥

अनुष्टुप्

सत्यमेव सदा ब्रूहि प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
न सत्यमन्तरा लोके प्रतिष्ठा प्राप्यते क्वचित् ॥१८॥

आर्या

वनितामृदुभुजयुगलीवेल्लितदोलेव भारती यस्य ।
कुरुते गतागतं वै कथं स रसनाफलं लभते ॥१९॥

अनुष्टुप्

समितौ प्रवर्तमानोऽयं मुनिः साधुष्वसाधुषु ।
भाषाव्यवहृतिं कुर्यात् हितं चापि मितं वदेत् ॥२०॥
सत्यधर्मधरः किन्तु दीक्षितेष्वेव भिक्षुषु ।
तद्भक्तेषु च धर्मस्य वृद्ध्यर्थं बहुकं वदेत् ॥२१॥

अर्थ—जिसके वचन हित, मित, प्रिय, सत्य और समस्त संशयको नष्ट करनेवाले होते हैं वह साधु भाषासमितिका धारक कहा जाता है ॥१४॥ रसना इन्द्रियको लक्ष्य कर ग्रन्थकार कहते हैं कि हे कविसमूहके द्वारा प्रशंसित रसना इन्द्रिय ! तू दूसरोंके अहितमें क्यों प्रवृत्ति करती है ? यदि तेरी हितमें प्रवृत्ति नहीं होती है तो अहितमें प्रवृत्तिको तो छोड़ ।

भावार्थ—यदि किसीका हित नहीं कर सकती है तो मत कर किन्तु अहित तो न कर ॥१५॥ जितने वचनसे कार्यकी सिद्धि हो सकती है उतना ही बोलना चाहिये । जो कार्य सौ रुपयेमें सिद्ध हो सकता है उस कार्यके लिये हजार रुपये कौन बुद्धिमान् खर्च करता है ? ॥१६॥ समस्त मनुष्योंके कानोंके लिये रमणीय-आनन्ददायक वचन बोलना चाहिये क्योंकि रमणीय वचन बोलनेमें कोई हानि नहीं दिखाई देती । संसारमें वचनोंकी मधुरता अनायास ही सैकड़ों राजाओंकी मित्रता प्रदान करती है ॥१७॥ कण्ठगत प्राण होनेपर भी सदा सत्य ही बोलना चाहिये, क्योंकि सत्यके विना लोकमें कहीं भी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती है ॥१८॥ स्त्रियोंके कोमल बाहुयुगलसे प्रेरित झूलाके समान जिसकी वाणी गतागत करती रहती है अर्थात् स्थिर नहीं है वह रसना इन्द्रियके फलको कैसे प्राप्त कर सकता है ॥१९॥ भाषासमितिमें प्रवृत्ति करनेवाला मुनि, साधु तथा साधुसे भिन्न अन्य लोगोंके साथ वार्तालाप कर सकता है परन्तु वार्तालापके समय उसे हित मित ही बोलना चाहिये ॥२०॥ परन्तु सत्यधर्मका धारक मुनि, दीक्षित साधुओं और उनके भक्तोंसे ही वार्तालाप करता है तथा धर्मकी वृद्धिके लिये अधिक भी बोल सकता है ॥२१॥

आगे एषणासमितिका निरूपण किया जाता है—

इदमौदारिकं देहं न विना भोजनात्स्थिरम् ।
भवेदृते न देहान्मे मोक्षयात्राप्रवर्तनम् ॥२२॥
एवं विचार्य संशुद्धः कृतस्वाध्यायसंविधिः ।
प्रतिज्ञानैक्यसंपूर्णः कृतमौनावलम्बनः ॥२३॥

मध्याह्नकालतः पूर्वं नेत्रालोकितभूतलः ।
कलेवरं निजं निन्दन् कर्मपाकं विचिन्तयन् ॥२४॥
अन्तरायांस्तथा दोषवृन्दं दूरात्परित्यजन् ।
विमलाचारसम्पन्नश्रावकव्रतशालिनाम् ॥२५॥
एकं द्वौ चतुरस्त्रीन् वा पञ्च षट् सप्त वा गृहान् ।
गत्वा विद्युच्चमत्कारं दर्शयन् निजविग्रहम् ॥२६॥
अव्यक्तसूचनां मुञ्चन् याञ्चासंकेतदूरगः ।
नवधाविधिसंलाभसम्मानिततपस्ततिः ॥२७॥
सरसं नीरसं वापि स्निग्धं वापि च कर्कशम् ।
क्षारं वा मधुरं वाप्याहारं स्थित्वैव भूतले ॥२८॥
पाणिभ्यामेव पात्राभ्यामेकवारं दिवैव च ।
गृह्णानः सर्वसंतोषी सर्वमान्यो जगद्धितः ॥२९॥
प्रशान्तविग्रहेणैव मोक्षमार्गं निरूपयन् ।
एषणासमितेर्भिक्षुर्धारकः संप्रचक्ष्यते ॥३०॥

अर्थ—'यह औदारिक शरीर भोजनके बिना स्थिर नहीं रह सकता और शरीरके बिना मेरी मोक्षयात्राकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती' ऐसा विचार कर जिसने शुद्धि ली है, जो स्वाध्यायकी विधिको पूर्ण कर चुका है, वृत्तिपरिसंख्यान तपके लिए जो अनेक प्रकारकी प्रतिज्ञाओंसे परिपूर्ण हैं, जो मौन धारण किये हुए हैं, मध्याह्नकालसे पूर्व जो नेत्रोंसे पृथिवीतलको अच्छी तरह देख रहा है, अपने शरीरकी निन्दा करता हुआ जो कर्मोदयका विचार कर रहा है, बत्तीस अन्तराय तथा छयालीस दोषोंका जो दूरसे ही त्याग कर रहा है, निर्मल आचारसे युक्त तथा श्रावकके व्रतोंसे सुशोभित गृहस्थोंके एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह अथवा सात घरों तक जाकर जो बिजलीकी कौंधके समान अपने शरीरको दिखाता है, जो अव्यक्त सूचनासे रहित है अर्थात् खाँस या खकार कर अपने आनेकी कोई सूचना नहीं देता है, याचनासम्बन्धी संकेतोंसे दूर है, नवधाभक्तिकी प्राप्तिसे जिसने तपःसमूहका गौरव बढ़ाया है, जो सरस, नीरस, स्निग्ध, रूक्ष, खारे अथवा मीठे आहारको पृथिवीतलपर खड़े होकर ही हस्तयुगलरूप पात्रके द्वारा दिनमें ही एक बार ग्रहण करता है,

सब प्रकारसे जो संतुष्ट है अर्थात् आहारके मिलने, न मिलने अथवा अन्तरायके आ जानेपर भी जिसे असंतोष नहीं होता है, जो सर्वमान्य है, जगत्का हितकारी है और प्रशान्त शरीरके द्वारा ही मोक्षमार्गका निरूपण कर रहा है ऐसा साधु एषणासमितिका धारक कहा जाता है। ॥२२-३०॥

आगे मुनिको परगृह भोजन करनेमें दोष नहीं है, यह कहते हैं—

वंशस्थ

अलिर्यथा पुष्पसमूहशोभिषु
निकुञ्जरङ्गेषु परागपद्धतिम् ।
समाददानः किल पुष्पसंहते-
र्न दृश्यते पुष्पसमूहपीडकः ॥३१॥

तथा मुनिः श्रावकमानुषादयं
तदीयगेहेषु सुयोग्यभोजनम् ।
समाददानो न परस्य पीडको
न हानिरत्रास्ति ततोऽन्यभोजने ॥३२॥

स्वभोजनग्रासनिषक्तमानसो
यथा प्रकृत्या सरलो गवां गणः ।
न वीक्षते सुन्दरमन्दिरावलीं
न नेकभूषाचयभूषितां स्त्रियम् ॥३३॥

तथा मुनिस्तेन गृहस्थमन्दिरे
विचित्ररामारमणीयभूतले ।
व्रजन्न दोषोच्चयदूषितः क्वचित्
प्रवर्णितो जैनयतीन्द्रचन्द्रैः ॥३४॥

अर्थ—जिस प्रकार भ्रमर, पुष्पोंके समूहसे सुशोभित लतागृहोंमें पुष्पसमूहसे परागसमूहको ग्रहण करता हुआ पुष्पसमूहको पीड़ा पहुँचानेवाला नहीं देखा जाता है उसी प्रकार यह मुनि श्रावकमनुष्योंसे उनके घरोंमें योग्य भोजनको ग्रहण करता हुआ दूसरेको पीड़ा पहुँचानेवाला नहीं देखा जाता है अतः मुनिको दूसरेके घर भोजन करनेमें दोष नहीं

है। जिस प्रकार स्वभावसे सरल गायोंका समूह अपने भोजनके ग्रासमें ही मन लगाता है। वह न सुन्दर भवनोंका समूह देखता है और न अनेक आभूषणोंसे सुशोभित स्त्रीको देखता है। उसी प्रकार मुनि नाना प्रकारकी सुन्दर स्त्रियोंसे सुशोभित गृहस्थके घरमें मात्र अपने पाणिपुटमें स्थित आहारपर मन लगाता है वह वहाँकी न तो साज-सजावटको देखता है और न आहार देनेवाली स्त्रीको देखता है। अतः आहारके लिए परगृहमें जानेवाला मुनि दोषोंसे दूषित नहीं होता ऐसे जैन मुनिराजोंने कहा है।

भावार्थ—एषणासमितिसे परगृहमें भोजन करनेवाला मुनि, मधुकरी, गोचरी, गर्तपूरण, अक्षम्रक्षण और उदराग्निप्रशमन इन पाँच वृत्तियोंका पालन करता है। अतः उसके परगृहभोजन करनेमें आचार्योंने कोई दोष नहीं कहा है। वृत्तियोंका अर्थ उनके नामसे स्पष्ट है। ॥३१-३४॥

अब आदाननिक्षेपणसमितिका स्वरूप कहते हैं—

ज्ञानसंयमशौचानां साधनानि निरन्तरम्।
नेत्रयुग्मेन संवीक्ष्य केकिपिच्छेन मार्जयन् ॥३५॥
निक्षिपन्नाददानश्च साधुः सद्भावशोभितः।
उच्यते धारकस्तुर्यसमितेर्मुनिमण्डलैः ॥३६॥

अर्थ—ज्ञान, संयम और शौचके उपकरणों शास्त्र, पीछी और कमण्डलुको दोनों नेत्रोंसे अच्छी तरह देखकर तथा मयूरपिच्छसे मार्जन कर जो रखता तथा उठाता है और समीचीन भाव—दयापरिणामसे सुशोभित है ऐसा साधु मुनिसमूहके द्वारा चतुर्थ समितिका धारक कहा जाता है ॥३५-३६॥

आगे व्युत्सर्गसमितिका स्वरूप कहते हैं—

निर्जन्तु स्थानमालोक्य मृगस्त्रीषण्डवर्जितम्।
सिङ्घाणमलमूत्रश्लेष्मादिकं संत्यजन् यतिः ॥३७॥
अयुक्तोऽनवधानेन सद्दयाभावमण्डितः।
व्युत्सर्गसमितेः प्रोक्तो धारको मुनिसत्तमैः ॥३८॥

अर्थ—जीवरहित तथा पशु, स्त्री और नपुंसकोंसे वर्जित स्थानको देखकर जो नाक, मल, मूत्र तथा खकार आदिको छोड़ता है, असाव-

घानीसे रहित है और उत्तम दयाभावसे सुशोभित है ऐसा साधु श्रेष्ठ-मुनिवरोंके द्वारा व्युत्सर्गसमितिका धारक कहा गया है ॥३७-३८॥

आगे दश धर्मोंका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम उत्तम क्षमाका वर्णन करते हैं—

कालुष्यस्य ह्यनुत्पत्तिः सत्यपि क्रोधकारणे ।
क्षमा जिनैर्जितक्रोध-दानवैर्गदितागमे ॥३९॥
क्षमते सर्वशत्रूणामपराधशतानि यः ।
सर्वत्र शं व्रजत्येव स नरः शत्रुभञ्जनः ॥४०॥
क्षमाचिन्तामणिर्नित्यं वर्तते यस्य सन्निधौ ।
त्रिलोक्यामपि किं तस्य दुर्लभं ब्रूहि वर्तते ॥४१॥
यस्य पाणौ क्षमाखड्गस्तीक्ष्णधारो हि विद्यते ।
किं कुर्युस्तस्य सैन्यानि शत्रूणां समराङ्गणे ॥४२॥
पुरुषः शर्मशैत्यं यो निजचेतसि लिप्सति ।
कोपवैश्वानरज्वालां क्षमातोयैः स वारयेत् ॥४३॥
क्षमावर्मपरीतोऽस्ति विग्रहो यस्य देहिनः ।
किं कुर्वन्ति शरास्तस्य शत्रुसंघातमोचिताः ॥४४॥

आर्या

अवगाहनमात्रेण परमानन्दप्रदं शिवं ददती ।
भागीरथीव विमला कलिमलसंहारिणी क्षमा जयति ॥४५॥
अविरलजनसंतापं दूरादेव क्षणेन वै जगताम् ।
ज्योत्स्नेव संहरन्ती क्षमा विजयते परं लोके ॥४६॥
उच्चलच्चपलतुरङ्गैर्मत्तगजेन्द्रैर्भटैर्युता सेना ।
नालं यं च विजेतुं क्षमा क्षणार्धेन तं जयति ॥४७॥

इन्द्रवज्रा

या भव्यजीवान् भुवि भावुकानां
सद्धं सवित्रीव सदा अवीति ।
दुर्जेयजन्तून् क्षणतो विजेतु-
मर्हां क्षमां तामहमर्चयामि ॥४८॥

अर्थ—क्रोधका कारण रहते हुए भी कलुषता—क्रोधकी उत्पत्ति नहीं होना, इसे क्रोधरूपी दानवको जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान्‌ने आगममें क्षमा कहा है ॥३९॥ जो समस्त शत्रुओंके सैकड़ों अपराधोंको क्षमा करता है वह शत्रुओंको नष्ट करनेवाला मनुष्य सर्वत्र सुखको ही प्राप्त होता है ॥४०॥ जिस मनुष्यके पास निरन्तर क्षमारूपी चिन्तामणिरत्न रहता है तीनों लोकोंमें उसके लिए क्या दुर्लभ है ? कहो, अर्थात् कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥४१॥ जिसके हाथमें पैनी धारवाला क्षमारूपी कृपाण विद्यमान है, शत्रुओंकी सेनाएँ रणाङ्गणमें उसका क्या कर सकती हैं ? ॥४२॥ जो मनुष्य अपने मनमें शीतलतारूपी सुखको प्राप्त करना चाहता है उसे क्षमा-रूपी जलके द्वारा क्रोधरूपी अग्निकी ज्वालाओंको शान्त करना चाहिये ॥४३॥ जिसका शरीर क्षमारूपी कवचसे वेष्टित है, शत्रुसमूहके द्वारा छोड़े हुए बाण उसका क्या कर सकते हैं ॥४४॥ जो अवगाहनमात्रसे परमानन्ददायक मोक्षको प्रदान करती है, गङ्गाके समान निर्मल है और पापरूपी मैलका संहार करनेवाली है वह क्षमा जयवन्त है—सबसे उत्कृष्ट है ॥४५॥ जो जगत्‌के अविरल-व्यवधानरहित संतापको परमार्थसे क्षणभरमें चाँदनीके समान नष्ट कर देती है ऐसी क्षमा लोकमें अतिशय श्रेष्ठ है ॥४६॥ उछलते हुए चञ्चल घोड़ों, मदोन्मत्त हाथियों और योद्धाओंसे सहित सेना जिसे जीतनेके लिए समर्थ नहीं है, उस शत्रुको क्षमा आधे क्षणमें जीत लेती है ॥४७॥ जो भव्य जीवोंको पृथिवीतलपर माताके समान सदा सुखका उपदेश देनेवाली है, तथा जो कठिनाईसे जीतने योग्य जन्तुओंको आधे क्षणमें जीत लेनेमें समर्थ है तथा दुर्जेय शत्रुओंको जो क्षणभरमें जीत लेती है उस क्षमाकी मैं अर्चा करता हूँ ॥४८॥

आगे मार्दवधर्मका वर्णन करते हैं—

मृदोर्मर्त्यस्य यो भावो मार्दवः सोऽभिधीयते ।
मार्दवमन्तरा मर्त्यो लभते नैव मङ्गलम् ॥४९॥

मार्दवोऽयमलंकारो वर्तते यस्य सन्निधौ ।
तस्य पूरुषरत्नस्य प्रवश्या मुक्तिमानिनी ॥५०॥

मार्दवमण्डिते मर्त्ये प्रसीदन्ति जगज्जनाः ।
विपुला कमला तेन जायते तस्य भूतले ॥५१॥

आर्या

खरतरखरकरबिम्बोपुलितसहस्रारचक्रचारेण ।
आयत्तीकृतसागरवासोवसुधस्य चक्रिरत्नस्य ॥५२॥
यत्राखर्वो गर्वो जातः खर्वः कनिष्ठसोदर्यात् ।
तत्रान्येषां गर्वो न भवेत् खर्वः किमत्र संब्रूहि ॥५३॥

अनुष्टुप्

विद्याविभवयुक्तोऽप्यहङ्कारी जनतेश्वरः ।
दूरादेव जनैस्त्याज्यो मणियुक्तफणीन्द्रवत् ॥५४॥

आर्या

मृदुतानौकानिचयो नूनं यस्येह विद्यते पुंसः ।
तस्य भवः पाथोधिर्विस्तीर्णोऽपि च कियानस्ति ॥५५॥
मृदुतागुणपरिशोभितचित्ते प्रतिफलति भारती जैनी ।
दर्पणतल इव विमले मरीचिमाला दिनेशस्य ॥५६॥
मार्दवघनाघनोऽयं मानदवाग्निप्रदीप्तभवकक्षम् ।
सत्प्रीतिवारिधारां मुञ्चन्निमिषेण सान्त्वयति ॥५७॥

इन्द्रवज्रा

सर्वत्र सद्भावविशोभभानं
मानच्युतौ जातमिहातिमानम् ।
तं मार्दवं मानवधर्ममार्य-
प्रार्थ्यं प्रवन्दे शतधा प्रभक्त्या ॥५८॥

अर्थ—मृदु—कोमल—विनीत मनुष्यका जो भाव है वह मार्दव धर्म कहलाता है। मार्दव धर्मके बिना मनुष्य मङ्गलको प्राप्त नहीं होता है ॥४९॥ वह मार्दवधर्मरूपी आभूषण जिस मनुष्यके पास होता है मुक्ति-रूपी स्त्री उस श्रेष्ठ मनुष्यके वशीभूत होती है ॥५०॥ मार्दवधर्मसे सुशो-भित मनुष्यपर जगत्के जीव प्रसन्न रहते हैं और उससे पृथ्वीतलपर उस मनुष्यको भारी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥५१॥

अत्यन्त तीक्ष्ण सूर्यबिम्बके समान हजार अरवाले चक्ररत्नके संचारसे जिसने समुद्रान्त पृथिवीको वश कर लिया था ऐसे चक्रवर्ती—भरतका

महान् गर्व जहाँ छोटे भाईसे नष्ट हो गया वहाँ दूसरोंका गर्व नष्ट क्यों नहीं होगा ? कहो ॥५२-५३॥ जो राजा विद्याविभवसे युक्त होकर भी अहंकारी है वह मणियारे सर्पके समान दूरसे छोड़ देनेके योग्य है ॥५४॥ इस जगत्में जिस पुरुषके समीप निश्चयसे मार्दवधर्मरूपी नौकाओंका समूह विद्यमान है उसके लिए संसाररूपी सागर विस्तीर्ण होनेपर भी कितना है ? अर्थात् बहुत छोटा है ॥५५॥ मार्दवधर्मरूपी गुणसे सुशोभित चित्तमें जिनवाणी उस प्रकार प्रतिफलित होती है जिस प्रकार कि निर्मल दर्पणतलमें सूर्यकी किरणावली प्रतिफलित होती है ॥५६॥ यह मार्दव धर्मरूपी मेघ, उत्तम प्रीतिरूपी जलधाराको छोड़ता हुआ मानरूपी दावानलसे जलते हुए संसाररूपी वनको निमेषमात्रमें शान्त कर देता है ॥५७॥

जो सर्वत्र—इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंमें समीचीन भावसे शोभमान है, मान कषायका अभाव होनेपर जो उत्पन्न होता है, बहुत भारी सन्मानसे सहित है और आर्य मनुष्य जिसकी प्रार्थना करते हैं—जिसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं उस मार्दवधर्मको हम सैकड़ों प्रकारकी बहुत भारी भक्तिसे नमस्कार करते हैं ॥५८॥

आगे आर्जव धर्मका वर्णन करते हैं—

ऋजोर्नरस्य यो भाव आर्जवः सोऽभिधीयते ।
आर्जवमन्तरा पुंसां न श्रेयःसन्निधिर्भवेत् ॥५९॥
कर्मबन्धाद् विभीतोऽस्ति यदि तन्मुञ्च वक्रताम् ।
मनसो वक्रतैवेयं कर्मबन्धनकारणम् ॥६०॥
मायाविषधरीदष्टमूर्च्छिताखिलसंसृतौ ।
समुक्तं वीरवैद्येन ह्यार्जवोऽयं महौषधम् ॥६१॥

आर्या

भवपाथोधिभ्रमरीं मायां मोक्तुं समस्ति यदि ते धीः ।
आर्जवधर्मसुपोतं तर्ह्यविलम्बं समालम्बय ॥६२॥
मायाशङ्कुसुपूरितचेतसि पुंसः सरस्वती जैनी ।
पादक्षतेर्भियेवादधाति पादं न कुत्रचिल्लोके ॥६३॥
पन्नगवेष्टितवित्तं यथा न लाभाय कल्पते पुंसाम् ।
मायाचारयुतस्य तथा न विद्या धनं चापि ॥६४॥

मायापरिषत्पूरितचेतःसङ्गं ह्यवाप्य धीः शुभ्रा ।
कालिन्दीजलतुलिता मलिना निमिषेण संभवति ॥६५॥
अयमार्जवः सुधर्मः कुरुते चेतःप्रसादमतिविमलम् ।
तेन च कर्माभावः क्षणेन संजायते लोके ॥६६॥
अयमाश्रितस्तु तेन ह्यार्जवधर्मो जिनेन्द्रचन्द्रोक्तः ।
तस्य न निविडे कुटिले भवकान्तारे परिभ्रमणम् ॥६७॥

उपेन्द्रवज्रा

मनोवचःकायकदम्बकानां
समानता यस्य समस्ति लक्ष्म ।
तमार्जवं सन्ततमर्जनीयं
यतीन्द्रपूज्यं परिपूजयामः ॥६८॥

अर्थ—ऋजु-सरल मनुष्यका जो भाव है वह आर्जव कहलाता है। आर्जवके विना पुरुषोंको कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती ॥५९॥ हे प्राणिन्! यदि तू कर्मबन्धसे भयभीत है तो कुटिलताको छोड़, क्योंकि यह मनकी कुटिलता ही कर्मबन्धका कारण है ॥६०॥ यह समस्त संसार मायारूपी सर्पिणीके द्वारा डसा जाकर मूर्च्छित हो रहा है, इसलिये भगवान् महावीर रूपी वैद्यने यह आर्जवधर्मरूपी उत्कृष्ट औषधि कही है ॥६१॥ हे जीव! यदि तेरी बुद्धि संसाररूपी समुद्रकी भँवरको छोड़नेके लिये उत्सुक है तो शीघ्र ही आर्जवधर्मरूपी उत्तम जहाजका आलम्बन ग्रहण कर ॥६२॥ पुरुष के मायारूपी कीलोंसे भरे हुए चित्तमें जिनवाणी लोकमें कहीं भी चरणके घायल होनेके भयसे ही मानों चरण नहीं रखती है। भावार्थ— मायावी मनुष्यके हृदयमें जिनवाणीका प्रवेश नहीं होता है ॥६३॥ जिस प्रकार सर्पसे वेष्टित धन पुरुषोंके लाभके लिये नहीं होता है उसी प्रकार मायाचारी मनुष्यकी विद्या और धन भी पुरुषोंके लाभके लिये नहीं होता ॥६४॥ मायारूपी कीचड़से भरे हुए चित्तका सम्बन्ध पाकर निर्मल बुद्धि निमेषमात्रमें यमुनाके जलके समान मलिन हो जाती है ॥६५॥ यह आर्जव धर्म चित्तकी बहुत भारी निर्मलतासे युक्त प्रसन्नता करता है उस प्रसन्नताके द्वारा जगत्‌में शीघ्र ही कर्मोंका अभाव हो जाता है ॥६६॥ जिसने जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए इस आर्जव धर्मका

१. 'परिषत्कर्दमः पङ्कः' इति धनंजयः ।

आश्रय लिया है उसका सघन तथा कुटिल संसाररूपी अटवीमें परिभ्रमण नहीं होता है ॥६७॥ मन, वचन, काय इन तीनोंके समूहकी समानता ही जिसका लक्षण है, जो निरन्तर अर्जन करनेके योग्य है और बड़े बड़े मुनिराज जिसकी पूजा करते हैं उस आर्जव धर्मकी हम पूजा करते है ॥६८॥

आगे शौचधर्मका व्याख्यान करते हैं—

शिखरिणी

शुचेर्भावं शौचं निगदतितरां सूरिनिचयो
भवेल्लोभाभावे स च किल निजाधीनमनसाम्।
ऋते शौचात्पुंसां न हि न हि भवेन्मुक्तिवसति-
र्जस्रं तत्तुष्टया कलयतु जगच्छौचसुगुणम् ॥६९॥

अनुष्टुप्

दुराशाशाकिनीग्रस्ते लोके दुर्ललिते सति।
सन्तोषः परमो मन्त्रः शासितो जिनसूरिभिः ॥७०॥
तृष्णा हि वल्लरी सैषा त्रिलोक्यां ततपल्लवा।
सन्तोषेण कुठारेण हन्यतां सुखलिप्सुभिः ॥७१॥

इन्द्रवज्रा

सन्तोषमेकं परिहाय लोकाः
शैले वने व्योमनि भूमिमध्ये।
अब्धौ रणे वह्निचयेऽपि वाप्यां
प्राणाभिलाषाद् विरता भ्रमन्ति ॥७२॥

आर्या

सन्तोषामृततुष्टास्त्रिलोकराज्यं तृणाय मन्यन्ते।
अपि भो कष्टसहस्रयां पतिता दुःखं लभन्ते न ॥७३॥
एकस्येह करस्थं त्यक्तुं वस्तु प्रवर्तते वाञ्छा।
इतरो गगननिषण्णं वाञ्छति चन्द्रं स्वसात्कर्तुम् ॥७४॥
अयमेव शौचधर्मो ह्यात्मबलं संददाति लोकानाम्।
यदखिलकार्यकलापे निमित्तमाद्यं प्रमण्यते सद्भिः ॥७५॥

चित्ते यस्य न वासः शौचगुणस्यास्ति भूलोके ।
सकलसुखानुप्रेक्षी दीनतरोऽसावितस्ततो भ्रमति ॥७६॥
चित्तं परमपवित्रं सकलकलानां कुलालयो भवति ।
दूषितहृदयावसथात् कला विलीना भवन्ति ता एव ॥७७॥

इन्द्रवज्रा

कस्यापि यत्रास्ति न काचिदिच्छा
पावित्र्यसंमन्दिरमिन्द्रवन्द्यम् ।
तं लोभलोपे किल जातमात्म्यं
धर्मं सदा शौचमहं नमामि ॥७८॥

अर्थ—शुचि मनुष्यका जो भाव है उसे आचार्योंका समूह शौच कहता है। वह शौचधर्म लोभकषायके अभावमें प्रकट होता है। शौचधर्मके विना पुरुषोंका मुक्तिमें निवास नहीं हो सकता है, इसलिये जगत् निश्चयसे संतोषपूर्वक उत्तम शौच गुणको धारण करे ॥६९॥ जब यह लोक दुष्ट तृष्णारूपी पिशाचीके द्वारा ग्रस्त होकर दुखी हो गया तब जैनाचार्योंने संतोषरूपी उत्तम मन्त्रका उपदेश दिया। भावार्थ—संतोषके द्वारा ही तृष्णाको जीतनेका मार्ग बताया ॥७०॥ तीन लोकमें जिसके पल्लव फैले हुए हैं ऐसी इस तृष्णारूपी लताको सुखके इच्छुक मनुष्य संतोषरूपी कुल्हाड़ेके द्वारा नष्ट करें ॥७१॥ एक संतोषको छोड़कर मनुष्य, प्राणोंकी इच्छासे विरत होते हुए पहाड़में, वनमें, आकाशमें, भूमितलमें, समुद्रमें, रणमें, अग्निसमूहमें और वापिकामें भ्रमण करते हैं ॥७२॥ संतोषरूपी अमृतसे संतुष्ट मनुष्य तीन लोकके राज्यको भी तृणके समान तुच्छ मानते हैं और हजारों कष्टोंमें पड़कर भी दुःखको नहीं प्राप्त होते हैं—दुःखोंके बीच रहते हुए भी दुःखका अनुभव नहीं करते हैं ॥७३॥ इस जगत्में किसी एक मनुष्यकी इच्छा हाथमें स्थित वस्तुको छोड़नेके लिये प्रवृत्त होती है और कोई दूसरा मनुष्य आकाशमें स्थित चन्द्रमाको भी अपने अधीन करनेकी इच्छा करता है। भावार्थ—संतोषी मनुष्य समीपकी वस्तुको छोड़ना चाहता है और असंतोषी मनुष्य, जिसके प्राप्त होनेकी संभावना नहीं है उस वस्तुको भी प्राप्त कर लेना चाहता है ॥७४॥ यह शौचधर्म ही मनुष्योंके लिये वह आत्मबल देता है जो सत्पुरुषोंके द्वारा समस्त कार्योंके कलापमें प्रथम निमित्त कहा जाता है। भावार्थ—प्रत्येक कार्यकी सिद्धिका मूल कारण आत्मबल है और उसकी प्राप्ति संतोषके

द्वारा होती है ॥७५॥ इस पृथिवीलोकपर जिस मनुष्यके चित्तमें शौचगुण-का निवास नहीं है वह अत्यन्त दीन हो समस्त मनुष्योंकी ओर देखता हुआ इधर-उधर भ्रमण करता है ॥७६॥ परम पवित्र चित्त ही समस्त कलाओंका कुलभवन होता है और दूषितहृदयरूपी घरसे वे ही कलाएं विलीन हो जाती हैं—नष्ट हो जाती हैं। भावार्थ—संतोषी मनुष्यमें समस्त कालओंका निवास स्वयं होता है और असंतोषी मनुष्यकी समस्त कलाएँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं ॥७७॥ जिसमें किसी वस्तुकी कोई इच्छा नहीं है, जो पवित्रताका मन्दिर है, इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय है, लोभ कषायका अभाव हो जानेपर जो प्रकट होता है तथा आत्माके लिये अत्यन्त हित-कारी है उस शौचधर्मको मैं सदा नमस्कार करता हूं ॥७८॥

आगे सत्यधर्मका वर्णन करते हैं—

आर्या

असदभिधानत्यागः सत्यं संचक्ष्यते सुधीसङ्घैः ।
अयमेव सत्यवादो निःशङ्कं प्राणिनं कुरुते ॥७९॥

सत्येन नरो लोके धवलां विमलामुपैति सत्कीर्तिम् ।
कीर्त्या च मुदितचेता भवतीह निरन्तरं नूनम् ॥८०॥

सत्यादृते स कश्चिज्जगत्प्रसिद्धो वसुः क्षमापालः ।
अगमन्नरकागारं ह्यहो दुरन्तो मृषावादः ॥८१॥

यश्चैकं किल सत्यं पूर्णं संभाषते सदा लोकः ।
तेन हिंसादिपापात् कृता निवृत्तिर्ह्यनायासात् ॥८२॥

संसारसिन्धुतरणे सत्यं पोतायते चिरं पुंसाम् ।
सत्येन विना लोका ध्रुवं ब्रुडन्तीह भवसिन्धौ ॥८३॥

उपेन्द्रवज्रा

कथञ्चिदेतद्यदि सत्यतत्त्वं
भवेद् विलुप्तं जगतीतलाद् भोः ।
तदा व्यवस्थाव्यवहारहीनं
क्षणेन शीर्येत जगत् समस्तम् ॥८४॥

अनुष्टुप्

कायक्लेशकरैः किम्वा तपोभिर्बहुभिः कृतैः ।
यदि सत्यस्य वासेन न स्वान्तं सुरभीकृतम् ॥८५॥
असत्याहिगरावेग-मूर्च्छाले जनचेतसि ।
नालं सुखेन सद्भावाः क्षणं स्थातुं भवन्ति हि ॥८६॥

आर्या

सत्यहिमानीमण्डितनिखिलशरीरोऽपवाददावाग्नौ ।
लभते परमानन्दं तदितरजनदुर्लभं लोके ॥८७॥

इन्द्रवज्रा

सत्येन मुक्तिः सत्येन भुक्तिः
स्वर्गेऽपि सत्येन पदप्रसक्तिः ।
सत्यात्परं नास्ति यतः सुतत्त्वं
सत्यं ततो नौमि सदा समक्तिः ॥८८॥

अर्थ—असदभिधान—असत्यकथनका त्याग करना विद्वज्जनोंके द्वारा सत्य कहा जाता है। यह सत्यधर्म ही प्राणीको निर्भय करता है। भावार्थ—असदभिधानके चार अर्थ हैं—(१) न सत् असत् तस्याभिधानं अर्थात् अविद्यमान वस्तुका कथन करना यह अविद्यमान वस्तुको विद्यमान कहनेवाला असदुद्भावी नामका पहला असत्य है। (२) सतः अभिधानम् सदभिधानं, न सदभिधानम् असदभिधानम् अर्थात् विद्यमान वस्तुका कथन नहीं करना यह सदपलाप नामका दूसरा असत्य है। (३) ईषत् सत् असत् तस्याभिधानम् असदभिधानम् अर्थात् जो वस्तु तद्रूप तो नहीं है किन्तु तत्सदृश है उसे असत् कहते हैं। जैसे भार वहनकी समानताके कारण अश्वको वृषभ कहना। यह अन्यरूपाभिधान नामका तीसरा असत्य है और (४) सत् प्रशस्तं, न सत् असत् अप्रशस्तमिति यावत् तस्याभिधानम् असदभिधानम् अर्थात् अप्रिय आदि अप्रशस्त वचन। यह अप्रिय-वचनादि चतुर्थ असत्य है। इन चारों प्रकारके असत्यका त्याग करना ही सत्यवचन कहलाता है। सत्यकथनसे मनुष्य सदा निर्भय रहता है ॥७९॥ सत्यवचनसे ही मनुष्य लोकमें उज्ज्वल तथा निर्मल सुयशको प्राप्त होता है और सुयशके द्वारा निश्चित ही निरन्तर प्रसन्नचित्त रहता है ॥८०॥ सत्यवचनके विना वह जगत्प्रसिद्ध वसु राजा नरकको

प्राप्त हुआ। अहो! असत्य वचनका फल बड़ा दुःखदायक होता है ॥८१॥ जो मनुष्य सदा एक सत्य वचनको ही पूर्णरूपसे बोलता है उसके द्वारा हिंसादि पापोंका त्याग अनायास हो जाता है ॥८२॥ सत्यधर्म, संसाररूपी समुद्रसे तैरनेके लिए पुरुषोंको चिरस्थायी जहाजके समान है। सत्यवचनके बिना मनुष्य निश्चित ही इस संसार-सागरमें डूब जाते हैं ॥८३॥

यदि यह सत्यधर्म पृथिवीतलसे किसी प्रकार लुप्त हो जावे तो यह समस्त जगत् व्यवस्था और व्यवहारसे रहित होकर क्षणभरमें नष्ट-भ्रष्ट हो जावेगा ॥८४॥ यदि हृदय सत्यधर्मके निवाससे सुवासित नहीं है तो कायक्लेशको करनेवाले बहुत भारी तपोंके करनेसे क्या होनेवाला है? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥८५॥ असत्यरूपी सर्पविषके वेगसे मूर्च्छित मनुष्यके हृदयमें उत्तमभाव क्षणभरके लिए भी सुखसे निवास करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥८६॥ जिसका समस्त शरीर सत्यधर्मरूपी बहुत भारी हिमसे सुशोभित है वह जगत्में अपवादरूपी दावानलके बीच भी अन्यजन दुर्लभ परमानन्दको प्राप्त होता है ॥८७॥

सत्यसे ही मुक्ति होती है, सत्यसे ही भोगसम्पदाएँ प्राप्त होती हैं, सत्यसे ही स्वर्गकी प्राप्ति होती है और जिस कारण सत्यसे बढ़कर दूसरा तत्त्व नहीं है इस कारण मैं भक्तिसहित सत्यधर्मको सदा नमस्कार करता हूँ ॥८८॥

आगे संयमधर्मका कथन करते हैं—

संयमो मनसोऽक्षाणां वृत्तेः संयमनः मतः।
प्राणीन्द्रियविभेदेन स तु द्वेधा विभिद्यते ॥८९॥

भूजलानलवायूनां तरूणां चरतां तथा।
हिंसनाद् विरतिः प्राणिसंयमः षड्विधो मतः ॥९०॥

इन्द्रियाणां सचित्तानां विषयेष्वप्रवर्तनम्।
इन्द्रियसंयमः प्रोक्तः षोढा कोविदसम्मतः ॥९१॥

आर्या

द्वादशविधः स एवं मुक्त्यै भणितः सुसंयमः सद्भिः।
गतसंयमो जनोऽयं चिरं हिण्डते भवाटवीमध्ये ॥९२॥

द्रुतविलम्बित

विषयदानवमण्डलमण्डिते
विविधदुःखचयं समुपाश्रिते ।
जगति दुर्ललिते सति संयमो
ह्युदभवत्किल राममहीपतिः ॥९३॥

रथोद्धता

संयमो मुनिजनानुरञ्जनः संयमो भवरजःप्रभञ्जनः ।
संयमो निजहितस्य बोधकः संयमो निखिलकर्मरोधकः॥९४॥

स्वागता

संयमो यदि भवेन्न जगत्यां प्राणिवर्गपरिरक्षणदक्षः ।
तन्निगोदनरकादिनिवासे कः पतज्जनततिं प्रतिरुन्ध्यात्॥९५॥

आर्या

संयमसहिता यतयः सुरनरपतिभिः सदा प्रणम्यन्ते ।
अपि च लभन्तेऽमुत्रामन्दानन्दस्य वै कन्दम् ॥९६॥
संयमिजनवरहृदये दयास्रवन्ती सदातना वहति ।
अविरलकलरवनिचयं कुर्वाणा प्रेमरसपूर्णा ॥९७॥

वसन्ततिलका

षट्कायकायिपरिपालनसंप्रवीण-
मक्षप्रसारहरणेऽपि धुरीणमेतम् ।
तं संयमं सुरकदम्बकदुर्लभं वै
चित्ते दधामि सततं वरभक्तिभावात् ॥९८॥

अर्थ—मन और इन्द्रियोंकी वृत्तिको रोकना संयम माना गया है। वह संयम प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमके भेदसे दो प्रकारका होता है ॥८९॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवोंकी हिंसासे विरक्त होना छह प्रकारका प्राणिसंयम माना गया है ॥९०॥ मनसहित पञ्च इन्द्रियोंका विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होना छह प्रकारका इन्द्रियसंयम कहा गया है। यह इन्द्रियसंयम विद्वज्जनोंको अतिशय इष्ट है ॥९१॥ इस

प्रकार यह बारह प्रकारका संयम सत्पुरुषोंके द्वारा मुक्तिके लिए कहा गया है। संयमसे रहित यह मनुष्य संसाररूपी अटवीके मध्यमें चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है ॥९२॥

जब यह जगत् विषयरूपी राक्षसोंके समूहसे दण्डित होता हुआ नाना दुःखोंके समूहको प्राप्त होकर अस्तव्यस्त—दुःखी हो गया तब संयमरूपी रामराजा निश्चयसे उत्पन्न हुए। भावार्थ—जिस प्रकार लोकप्रसिद्धिके अनुसार रामचन्द्रजीने राक्षसोंका नाश किया था उसी प्रकार संयम विषयोंका नाश करता है ॥९३॥ संयम, मुनिजनोंको हर्षित करनेवाला है। संयम, संसाररूपी धूलीको उड़ानेके लिए प्रचण्ड वायु है। संयम, आत्महितको बतानेवाला है और संयम समस्त कर्मोंको रोकनेवाला है अर्थात् संयम ही परम संवर है ॥९४॥ यदि पृथिवीपर प्राणिसमूहकी रक्षा करनेमें समर्थ संयम नहीं होता तो निगोद और नरकादि गतियोंमें पड़ते हुए जनसमूहको कौन रोकता? ॥९५॥ संयमसे सहित मुनि इस लोकमें सदा देवेन्द्र और नरेन्द्रोंके द्वारा नमस्कृत होते हैं तथा परभवमें नियमसे बहुत भारी हर्षके समूहको प्राप्त होते हैं ॥९६॥ संयमी मनुष्योंके हृदयमें प्रेमरससे परिपूर्ण दयारूपी नदी निरन्तर कलकल शब्दसमूहको करती हुई निरन्तर बहती है ॥९७॥

जो छहकायके जीवोंकी रक्षा करनेमें अतिशय निपुण है, इन्द्रियोंका प्रसार रोकनेमें भी समर्थ है तथा देवसमूहको दुष्प्राप्य है उस संयमधर्मको मैं उत्कृष्ट भक्तिभावसे सदा हृदयमें धारण करता हूँ ॥९८॥

आगे तपधर्मका वर्णन किया जाता है—

आर्या

इच्छानां विनिरोधस्तपः प्रगीतं महर्षिसंघातैः।
बाह्याभ्यन्तरभेदाद् द्वेधा तद् भिद्यते मुनिभिः ॥९९॥

अनुष्टुप्

उपवासादिभेदेन प्रायश्चित्तादिभेदतः।
षोढा षोढा विभिद्येते तपसी ते द्विधोदिते ॥१००॥
इदं तपो महातत्त्वं मुनिनाथानुमोदितम्।
आस्रवत्कर्मसंघातघातकं भवनाशनम् ॥१०१॥

उपेन्द्रवज्रा

प्रचण्डवैश्वानरमध्यलीनं यथा विशुद्धं भवतीह भर्म ।
तथा तपोवह्निचयप्रतप्तो ह्ययं निजात्मा भवति प्रशुद्धः ॥१०२॥

आर्या

उत्कटमनोऽश्वरोधस्तपःखलीनेन जायते नियमात् ।
उन्मत्तेन्द्रियवमनं तपोऽन्तरा नैव जायते पुंसाम् ॥१०३॥

त्रिदिवे त्रिदिवरमाभी रन्तुं साकं समस्ति यदि ते धीः ।
एकं तपसामुपचयमुपचिनुहि निरन्तरं तद् भोः ॥१०४॥

मुक्तिरमावरसङ्गमनोत्कं चेतो हि वर्तते यदि ते ।
तर्ह्यविलम्बं तपसां सद्धं रत्नानि संचिनुहि ॥१०५॥

तीव्रं तपःप्रभावं दृष्ट्वा जैनेतरे जना जैनाः ।
जायन्ते जगतीह क्षणेन जैनत्वसंपन्नाः ॥१०६॥

प्रावृषि वज्राघातैर्गिरिशिखराणीव कर्मशिखराणि ।
पुंसां तपोभिरत्र क्षणेन चूर्णानि जायन्ते ॥१०७॥

उपजाति

इच्छानिरोधः खलु यस्य लक्ष्म
सर्वत्र संव्यापकमस्ति तस्य ।
ध्यानादिभिन्नस्य हृतश्रमस्य
सदा हृदाहं तपसः स्मरामि ॥१०८॥

अर्थ—इच्छाओंके रुक जानेको महर्षियोंके समूहने तप कहा है। वह तप बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है ॥९९॥ वे दोनों प्रकारके तप उपवासादिके भेदसे और प्रायश्चित्तादिके भेदसे छह छह प्रकारके कहे गये हैं। भावार्थ—बाह्य तपके उपवास, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेशके भेदसे छह भेद हैं तथा आभ्यन्तर तपके प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यानके भेदसे छह भेद हैं ॥१००॥ मुनिराजोंके द्वारा अनुमोदित यह तप-रूपी महातत्त्व, आनेवाले कर्मसमूहको रोकनेवाला तथा संसारका नाश

करने वाला है। भावार्थ—तपके प्रभावसे ही नवीन कर्मोंका आस्रव रुकता है और सत्तामें स्थित कर्मोंकी निर्जरा होती है जिससे संसार-भ्रमण दूर होता है ॥१०१॥ जिस प्रकार प्रचण्ड अग्निके बीच पड़ा हुआ स्वर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार तपरूपी अग्निके द्वारा संतप्त हुआ अपना आत्मा शुद्ध हो जाता है ॥१०२॥ अत्यन्त चञ्चल मनरूपी अश्वका दमन, तपरूपी लगामके द्वारा नियमसे होता है तथा मनुष्योंकी उन्मत्त इन्द्रियोंका दमन तपके विना नहीं होता है ॥१०३॥ हे आत्मन् ! स्वर्गमें देवाङ्गनाओंके साथ रमण करनेकी यदि तेरी बुद्धि है तो निरन्तर एक तपका ही संचय करो। भावार्थ—तपके कालमें यदि इस जीवकी सराग परिणति रहती है तो उसके फलस्वरूप स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है॥१०४॥ हे आत्मन् ! यदि तेरा मन मुक्तिलक्ष्मीके साथ संगम करनेमें उत्कण्ठित है तो तू शीघ्र ही तपके समूहरूपी रत्नोंका संचय कर। भावार्थ—वीतराग परिणतिके साथ किया हुआ तप मुक्तिका कारण है ॥१०५॥ जगत्में तपके तीव्र प्रभावको देख कर जैनेतर लोग क्षणभरमें जैनत्वसे युक्त हो जाते हैं ॥१०६॥ जिस प्रकार वर्षाऋतुमें वज्रके पड़नेसे पर्वतोंके शिखर चूर-चूर हो जाते हैं उसी प्रकार तपोंके द्वारा पुरुषोंके कर्म चूर-चूर हो जाते हैं ॥१०७॥

निश्चयसे इच्छाओंका निरोध करना ही जिसका सर्वत्र व्यापक लक्षण है, जिसके ध्यान आदि अनेक भेद हैं और संसारसम्बन्धी खेदको नष्ट करनेवाला है उस तपोधर्मका मैं हृदयसे सदा स्मरण करता हूँ ॥१०८॥

आगे त्यागधर्मका वर्णन करते हैं—

आर्या

सद्भाजनेषु भक्त्या योग्यपदार्थप्रदानमिह यत्तत्।
त्यागो भणितो मुनिभिर्निजपरकल्याणकन्दाय ॥१०९॥

आहाराभयबोधौषधिप्रभेदेन भिद्यते स पुनः।
त्यागश्चतुःप्रकारः श्रेयःसम्पत्तिसंहेतुः ॥११०॥

चतुर्विधाहारो यस्तपस्विनिचयाय दीयते भक्त्या।
आहारत्यागोऽसौ यतिपतिभिः शस्यते बहुशः ॥१११॥

प्रवचनपरप्रसारैर्बहूपकारं करोति किल लोके।
एकः प्रवीणभिक्षुर्निजयोग्याहारमादाय ॥११२॥

विषवेदनरक्तक्षयशस्त्रग्रहणसंक्लेशेन ।
नश्यत्प्राणिसुरक्षाऽभयदानमिहोच्यते मुनिभिः ॥११३॥
काञ्चनगिरिसमकाञ्चनदानसमर्जितसुपुण्यमानं हि ।
एकप्राणिसुरक्षाजनितसुकृतमानतो हीनम् ॥११४॥
सूचीमुखदुर्भेद्यध्वान्तविलोचनजगज्जनानां च ।
सद्बोधदिव्यभानुप्रकाशदानं तृतीयदानं स्यात् ॥११५॥
अयि भो जगतां देहि ज्ञानमनन्तं निरन्तरं सद्यः ।
ज्ञानमिदमेकमेव भवसागरतरणसंतरणिः ॥११६॥
श्वासादिवेदनाचयदुःखितवपुषां निरन्तरं पुंसाम् ।
योग्यचिकित्सादानञ्चौषधदानं प्रचक्ष्यते सद्भिः ॥११७॥
औषधदानमहिम्ना नीरोगो भवति देहिनां देहः ।
नीरोगत्वे वपुषो धर्मस्याराधनं भवति सुलभम् ॥११८॥

मेघान्योक्तिः

हंहो गुणधर जलधर ह्यनन्यशरणं विहाय सारङ्गम् ।
वर्षसि भूधरशिखरे पयोधिपूरे च किं नित्यम् ॥११९॥
किमिति कठोरं गर्जसि वर्षसि सलिलस्य शीकरं वै ।
मा मा वर्षम्भोधर त्यजतु कठोरं तु गर्जनः सद्यः ॥१२०॥

समुद्रान्योक्तिः

तृष्णादानवपीडितविपद्यमानं नरं पुरो दृष्ट्वा ।
जलधे चपलतरङ्गैर्विनटमानो न लज्जसे कस्मात् ॥१२१॥

चन्दनपादपान्योक्तिः

हंहो मलयज ! मूले सदा निषण्णान् भुजङ्गमान्वारय ।
येन तव सुरभिसारं भोक्तुं शक्नोतु जगदेतत् ॥१२२॥

रोहणगिर्यन्योक्तिः

मा कुरु मा कुरु शोकं रत्नसमूहव्ययेन हे रोहण ।
झगिति पयोधररावो दास्यति रत्नानि ते बहुशः ॥१२३॥

खर्जूरवृक्षान्योक्तिः

रे खर्जूरानोकह ! किमेवमुत्तुङ्गमानमुद्वहसि ।
छायापि ते न भोग्या पान्थानां किं फलैरेभिः ॥१२४॥

शाख्यन्योक्तिः

अत्यल्पतानिमित्ताच्छाले शाखिन् नु खिद्यसे कस्मात् ।
जीवितजगज्जनोच्च त्वमेव धन्यः समस्तभूभागे ॥१२५॥

इन्द्रवज्रा

त्यागं विना नैव भवेन्नु मुक्ति-
स्त्यागादृते नास्ति हितस्य पन्थाः ।
त्यागो हि लोकोत्तरमस्ति तत्त्वं
यस्मात्ततोऽहं किल तं नमामि ॥१२६॥

अर्थ—उत्तम पात्रोंमें भक्तिपूर्वक जो योग्य पदार्थ दिया जाता है उसे मुनियोंने त्यागधर्म कहा है। यह त्याग धर्म स्वपरकल्याणका मूल कारण है ॥१०९॥ वह त्याग आहार, अभय, ज्ञान और औषधके भेदसे चार प्रकारका होता है। यह चारों प्रकारका दान कल्याणप्राप्तिका उत्तम हेतु है ॥११०॥ मुनिसमूहके लिये भक्तिपूर्वक जो चार प्रकारका आहार दिया जाता है वह आहारदान है। मुनिराजोंके द्वारा यह दान बहुत ही प्रशंसनीय कहा गयाहै ॥१११॥ एक उत्तम साधु अपने योग्य आहार लेकर प्रवचन–जिनागमके उत्कृष्ट प्रसारके द्वारा लोकमें बहुत जीवोंका उपकार करता है ॥११२॥ विष, वेदना, रक्तक्षय, शस्त्रग्रहण तथा अन्य संक्लेश-भावके कारण नष्ट होते हुए प्राणियोंकी रक्षा करना, मुनियों द्वारा अभय दान कहा जाता है ॥११३॥ परमार्थसे विचार किया जाय तो मेरु पर्वतके बराबर सुवर्णदानसे उत्पन्न पुण्यका प्रमाण, एक प्राणीकी सुरक्षासे उत्पन्न पुण्यके प्रमाणसे हीन है ॥११४॥ सूचीके अग्रभागसे दुर्भेद्य अज्ञानान्धकारसे अन्धे जगत्के जीवोंको सम्यग्ज्ञानरूपी दिव्य सूर्यका प्रकाश देना तृतीय दान—ज्ञानदान है ॥११५॥ हे भव्य प्राणियो ! जगत्के जीवोंके लिये निरन्तर शीघ्र ही ज्ञानदान देओ, क्योंकि यह एक ज्ञान ही संसार-सागरसे तारनेके लिये उत्तम नौका स्वरूप है ॥११६॥ श्वास आदिकी वेदनासे जिनका शरीर पीडित हो रहा है ऐसे मनुष्योंके लिये योग्य औषध

प्रदान करना सत्पुरुषोंके द्वारा औषधदान कहा जाता है ॥११७॥ औषध दानकी महिमासे जीवोंका शरीर नीरोग होता है और शरीरकी नीरो गता होने पर धर्मकी आराधना सुलभ होती है ॥११८॥

आगे दानके प्रसङ्गमें अन्योक्तियों द्वारा उचित शिक्षा देते हैं—

कुछ दाता दान देते समय योग्य व्यक्तिका विचार न कर आव श्यकतासे रहित व्यक्तिके लिये दान देते हैं तथा कितने हो लोग कुवचन सुनानेके बाद भी दान नहीं देते हैं उन्हें संबोधित करनेके लिये अन्योक्ति रूपमें मेघसे कहा जा रहा है कि हे गुणोंको धारण करनेवाले मेघ ! तुम जिसका अन्य सहारा नहीं है ऐसे चातकको छोड़कर पर्वतके शिखर औ समुद्रके पूरमें निरन्तर क्यों बरसते हो ? यहाँ बरसनेमें क्या उपयोगित है। और हे मेघ ! तुम कठोर गर्जना क्यों करते हो ? पानीका एक क भी बरसाते नहीं केवल कठोर गर्जना क्यों करते हो ? अच्छा हो कि बर नहीं किन्तु कठोर गर्जना तो शीघ्र छोड़ दो ॥११९-१२०॥

कितने ही लोग अपने आगे धनाभावसे नष्ट होते हुए मनुष्यको देख कर भी तृष्णाके वशीभूत हो उसे कुछ देते नहीं हैं किन्तु अपनी धनिकताका अहंकार करते हैं। उन्हें संबोधित करते हुए समुद्रकी अन्यो क्तिसे कहते हैं—हे समुद्र ! अपने आगे प्यासरूपी दानवके द्वारा पीडित होकर मरते हुए मनुष्यको देखकर अपनी चञ्चल लहरोंसे नाचते हुए लज्जित क्यों नहीं होते हो ॥१२१॥

कितने ही दाताओंके पास दुष्ट मनुष्य रहते हैं जिनके कारण सज्जन पुरुष उनके समीप नहीं पहुँच पाते, ऐसे लोगोंको संबोधित करते हुए चन्दन वृक्षकी अन्योक्तिसे कहते हैं—हे चन्दन वृक्ष ! तुम अपने मूलमें बैठे हुए साँपोंको दूर करो जिससे यह जगत् तुम्हारी श्रेष्ठ सुगन्धका उपभोग करनेके लिये समर्थ हो सके ॥१२२॥

कितने ही लोग दान देकर यह खेद करते हैं कि हमारे पास धनकी कमी हो गई। उन्हें रोहणगिरिकी अन्योक्तिसे संबोधित करते हैं। संस्कृत साहित्यमें एक ऐसे रोहणगिरिका वर्णन आता है कि जिसमें मेघकी गर्जनासे नये नये रत्न उत्पन्न होते रहते हैं—हे रोहणगिरि ! रत्नसमूहके व्यय होनेसे शोक मत करो, शोक मत करो, क्योंकि मेघकी गर्जना तुम्हें शीघ्र ही बहुत रत्न देगी ॥१२३॥

कितने ही लोग सम्पत्तिशाली होने पर भी कभी किसीका उपकार नहीं करते। उन्हें संबोधित करनेके लिये खजूर वृक्षकी अन्योक्ति कहते

हैं—हे खजूरके वृक्ष ! तुम इस प्रकार ऊँचे होनेका अहंकार क्यों करते हो ? क्योंकि तेरी छाया भी पथिक जनोंके उपभोगके योग्य नहीं है फिर ऊँचाई पर लगे हुए इन फलोंसे क्या होगा ? अर्थात् तेरी न छाया किसीके काम आती है और न फल काम आते हैं ॥१२४॥

कितने ही लोग शक्तिवाले होनेसे सदा खिन्न रहते हैं कि हमारे पास दानके लिये पुष्कल धन नहीं है। उन्हें धान्यके पोधेकी अन्योक्तिसे संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे धान्यके पोधे ! मेरे पास अत्यन्त अल्प-साधन है ऐसा विचार कर तू खिन्न क्यों हो रहा है ? तू तो अत्यन्त छोटा होकर भी जगत्के जीवोंको जीवित रख रहा है और इस कारण समस्त पृथिवीतल पर एक तू ही धन्य है ॥१२५॥

त्यागधर्मका उपसंहार करते हुए कहते हैं—कि त्यागके विना मुक्ति नहीं होती, त्यागके विना हितका मार्ग नहीं है और यतश्च त्याग ही लोकोत्तर—अत्यन्त श्रेष्ठ धर्म है अतः उसे मैं नमस्कार करता हूँ ॥१२६॥

आगे आकिञ्चन्य धर्मका वर्णन करते हैं—

यस्य किञ्चन नास्तीहाकिञ्चनः स जनो मतः ।
तस्य भावो भवेन्नूनमाकिञ्चन्यं मुनिप्रियम् ॥१२७॥

उपजातिवृत्तम्

परिग्रहोऽयं द्विविधः समुक्तो
बाह्यस्तथाभ्यन्तरसंगतश्च ।
बाह्यस्य मोक्षेण न तत्र लाभो
बाह्येतरं तेन विमुञ्च पूर्वम् ॥१२८॥

वंशस्थवृत्तम्

परिग्रहग्राहनिपीडितो जनः
क्वचिज्जगत्यां लभते न मङ्गलम् ।
अतो महामङ्गलसङ्गलिप्सुभि-
र्विहीयतामेष परिग्रहग्रहः ॥१२९॥

अहो पलं व्योमचरैर्विहायसि
पयश्चरैर्वारिणि भूमिगोचरैः ।

भुवीह नित्यं परिभुज्यते यथा
तथा धनी सर्वजनैश्च सर्वतः ॥१३०॥

भवेत्तवेच्छा यदि मुक्तिमानिनी-
मुखक्षपानाथमिहैव वीक्षितुम् ।
विमुञ्च तां तर्हि सुमूर्च्छिकां प्रियां
यतो ऽस्त्यसूयासहिताः प्रिया भवे ॥१३१॥

अकिञ्चनत्वोपयुतास्तपस्विनः
सुतोषपीयूषपयोधिमध्यगाः ।
वने गृहे शैलचये सरित्पतौ
समाप्नुवन्त्येव निजात्मजं सुखम् ॥१३२॥

सहस्रमध्ये समुदारघोषणा-
मिमां समक्षं प्रतिपक्षिणां ब्रुवे ।
परिग्रहो नैव जनस्य चेद्भवेत्
न तर्ह्ययं दुःखलवं लभेत वै ॥१३३॥

यथा प्रवातोज्झितमध्यभूमौ
मध्याह्नकाले तरवः समस्ताः ।
निजस्वरूपे ह्यचला भवन्ति
तथा जनाः सङ्गसमूहहीनाः ॥१३४॥

इति स्थिते पण्डितमानिनो नराः
परिग्रहे चापि सुखं दिशन्ति ये ।
कथं न ते नाम विषेण संगतं
गदन्ति दुग्धं बहुजीविकारणम् ॥१३५॥

उपजाति

आत्मानमेतं परितः प्रभावाद्
गृह्णाति यस्माद्धि परिग्रहोऽयम् ।

तस्मादरं तं परिमुच्य पूर्ण-
मकिञ्चनत्वं मनसा स्मरामः ॥१३६॥

अर्थ—इस संसारमें जिसके पास कुछ नहीं है वह मनुष्य अकिञ्चन माना गया है। अकिञ्चनका जो भाव है निश्चयसे वह आकिञ्चन्य कहलाता है। यह आकिञ्चन्य मुनियोंको प्रिय है ॥१२७॥ यह परिग्रह दो प्रकारका कहा गया है—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर। इनमें मात्र बाह्य परिग्रहके त्यागसे लाभ नहीं होता, इसलिये पहले आभ्यन्तर परिग्रह छोड़ो ॥१२८॥ परिग्रहकी चपेटसे पीड़ित हुआ मनुष्य पृथिवी पर कहीं भी मङ्गल—सुख-चैनको प्राप्त नहीं होता, इसलिये महामङ्गलके समागमकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको यह परिग्रहरूपी पिशाच छोड़ देना चाहिये ॥१२९॥ अहो! जिस प्रकार मांस आकाशमें पक्षियोंके द्वारा, जलमें जलचरोंके द्वारा और भूमिमें भूमिगोचरोंके द्वारा निरन्तर परिभुक्त होता है उसी प्रकार धनी—परिग्रहयुक्त मनुष्य सर्वत्र सभी जनोंके द्वारा परिभुक्त होता है ॥१३०॥ हे भव्य प्राणी! यदि तेरी इसी लोकमें मुक्तिरूपी स्त्रीका मुखचन्द्र देखनेकी इच्छा है तो मूर्च्छा—ममतारूपी प्रियाको छोड़ दिया जाय, क्योंकि जगत्में स्त्रियाँ ईर्ष्यासे सहित होती हैं ॥१३१॥

आकिञ्चन्य धर्मसे सहित तथा संतोषरूपी सुधा-सागरके मध्य अवगाहन करनेवाले तपस्वी वनमें, घरमें, पर्वतोंके समूहमें और समुद्रमें स्वकीय आत्मासे समुत्पन्न सुखको नियमसे प्राप्त करते हैं ॥१३२॥ मैं हजारों मनुष्योंके बीच प्रतिपक्षी जनोंके सामने यह जोरदार घोषणा करता हूँ कि यदि मनुष्यके पास परिग्रह नहीं होता तो वह निश्चयसे दुःखके अंशको भी प्राप्त नहीं होता है ॥१३३॥ जिस प्रकार मध्याह्न कालमें जोरदार वायुसे रहित मध्य भूमिमें स्थित समस्त वृक्ष अपने स्वरूपमें स्थिर रहते हैं उसी प्रकार परिग्रहके समूहसे रहित मनुष्य स्वरूपमें स्थिर रहते है ॥१३४॥ इस प्रकारका निर्णय होने पर जो अपने आपको ज्ञानी माननेवाले पुरुष परिग्रहमें भी सुख बताते हैं वे विष मिश्रित दूधको दीर्घकाल तक जीवित रहनेका कारण क्यों नहीं कहते ॥१३५॥ जिस कारण यह परिग्रह अपने प्रभावसे जीवको सब ओरसे पकड़ लेता है उस कारण हम परिग्रहको शीघ्र ही छोड़ कर पूर्ण आकिञ्चन्य धर्मका स्मरण करते हैं ॥१३६॥

आगे ब्रह्मचर्य धर्मका वर्णन करते हैं—

दूरादेव समुज्झित्य नारीं संसारवर्धिनीम्।
ब्रह्मणि चर्यते यत्तद् ब्रह्मचर्यं समुच्यते ॥१३७॥

नारीमात्रपरित्यागी निखिलब्रह्मचर्यवान् ।
स्वस्त्रीसन्तोषमापन्नो देशतो ब्रह्मचर्यवान् ॥१३८॥
मुक्तिस्त्रीप्रीतिसंप्राप्त्यै मनीषा यदि वर्तते ।
तर्हि त्यज झगित्येव नारीं व्रतविदूषिकाम् ॥१३९॥
ब्रह्मचर्यस्य सम्प्राप्त्यै भामिनीमभिधावतः ।
चेतसो गतिमारुध्य स्वात्मध्यानपरो भव ॥१४०॥
दुःशीलजनसंसर्गं कापथस्य प्रवर्तकम् ।
त्यज ब्रह्मव्रतप्राप्त्या अहिसङ्गमिव द्रुतम् ॥१४१॥

स्रग्धरा

चित्तं संबुध्य षण्ढं ह्यनुनयनिपुणं प्रेषितं मानिनीषु
कष्टं भो तत्तु तत्रानवरतमखिलास्वेव सक्तं समासीत् ।
हंहो प्रज्ञापतीनां प्रवर तव मतेः पाणिने विभ्रमः को
येन त्वं मर्त्यरूपे मनसि दिशसि हा सन्ततं षण्ढभावम् ।१४२।
त्यक्त्वैकं ब्रह्मचर्यं जगति ननु जना राजयक्ष्मादिबाधां
क्षोणीपालैः प्रदत्तं कठिनतरमहादण्डनं लोकनिन्दाम् ।
मृत्वाश्वभ्रालयेषज्ज्वलनवितपनं क्षारपानीयसेकं
शाल्मल्यारोहणं वा बहुविधविपुलं दुःखमेवाप्नुवन्ति ॥१४३

आर्या

चिरवर्धितोऽपि संयमफलिनो ब्रह्मव्रतं विना पुंसाम् ।
स्वर्गामृतफलनिचयं फलति न कालत्रये त्रिलोक्यामपि ॥१४४
पलपूतिरुधिररचिते योषिद्गात्रे विमुच्य ये प्रीतिम् ।
आत्मनि निजे रमन्ते त एव धन्या महामान्याः ॥१४५॥

उपजातिः

ये ब्रह्मचर्येण युता भवन्ति
भवन्ति ते नागनरेन्द्रमान्याः ।
योगीन्द्रवन्द्यं सरणिं शिवस्य
नमामि तद्धर्मधरापतिं तम् ॥१४६॥

चित्तं नपुंसकं ज्ञात्वा भार्यासु प्रेषितं मया ।
तत्तु तत्रैव रमते हता पाणिनिना वयम् ॥

अर्थ—संसारको बढ़ाने वाली स्त्रीको दूरसे ही छोड़कर जो आत्मामें रमण किया जाता है वह ब्रह्मचर्य कहलाता है ॥१३७॥ जो स्त्रीमात्रका परित्याग करता है वह पूर्णब्रह्मचर्यसे सहित है और जो स्वस्त्रीमें संतोषको प्राप्त है वह एकदेशब्रह्मचर्यका धारक है ॥१३८॥ हे प्राणी ! यदि तेरी मुक्तिस्त्रीकी प्राप्तिके लिये बुद्धि है तो तू शीघ्र ही व्रतको दूषित करने वाली नारीको छोड़ दे ॥१३९॥ ब्रह्मचर्यकी प्राप्तिके लिये स्त्रीकी ओर दौड़ने वाले मनकी गतिको रोककर स्वात्मध्यानमें तत्पर होओ ॥१४०॥ ब्रह्मव्रतकी प्राप्तिके लिये तूं कुमार्गमें प्रवर्तनेवाले कुशील मनुष्योंकी संगतिको साँपके समागमके समान शीघ्र ही छोड़ दे ॥१४१॥

अनुनय-विनयमें निपुण मनको नपुंसक (नपुंसक लिङ्ग) समझकर मैंने स्त्रियोंमें भेजा, परन्तु दुःखकी बात है कि वह स्वयं ही उनमें निरन्तर आसक्त हो गया । अहो, पण्डितप्रवर ! पाणिनि ! तुम्हारी बुद्धिका यह कौन विभ्रम है कि जिससे तुम मनुष्यरूप मनको निरन्तर नपुंसक कहते हो । **भावार्थ**—संस्कृतव्याकरणमें मनस् शब्दको नपुंसकलिङ्ग कहा है । यहाँ व्याकरणप्रसिद्ध लिङ्ग और लोकप्रसिद्ध लिङ्गको एक मानकर कहा गया है कि मैंने अनुकूल करनेमें निपुण मनको नपुंसक समझकर स्त्रियोंके पास भेजा, परन्तु वह पुरुषके समान उन स्त्रियोंमें स्वयं आसक्त हो गया । इस प्रकार व्याकरणशास्त्रके प्रमुख प्रणेताको उपालम्भ दिया है कि हे पाणिने ! तुम्हारी बुद्धिका यह कौन-सा व्यामोह- कि जिससे तुम पुंलिङ्ग मनको नपुंसक बताया करते हो ॥१४२॥ निश्चयसे मनुष्य संसारमें एक ब्रह्मचर्यको छोड़कर राजयक्ष्मा (टी० बी०) आदिकी पीड़ा, राजाओंके द्वारा दिये हुए कठोर दण्ड और लोकनिन्दाको प्राप्त होते हैं तथा मरकर नरकोंके मध्य अग्निमें जलना, संतप्त होना, खारे पानीसे सींचा जाना एवं सेमरंपर चढ़ाये जाना आदि नाना प्रकारके बहुत दुःख प्राप्त करते हैं ॥१४३॥

चिरकालसे वृद्धिको प्राप्त हुआ भी संयमरूपी वृक्ष, ब्रह्मचर्यके बिना पुरुषोंके लिये तीन काल और तीन लोकमें भी स्वर्ग तथा मोक्षरूपी फल-को नहीं फलता है ॥१४४॥ मांस, पूति तथा रुधिरसे रचित स्त्रीके शरीर-में प्रीतिको छोड़कर जो निज आत्मामें रमण करते हैं वे ही महाभाग्य-वान् तथा महामान्य है ॥१४५॥ जो मनुष्य ब्रह्मचर्यसे सहित होते हैं वे

नागेन्द्र तथा चक्रवर्तीके द्वारा पूज्य होते हैं, इसलिये मैं मुनिराजोंके द्वारा वन्दनीय, मोक्षके मार्गस्वरूप उस धर्मराज ब्रह्मचर्यधर्मको नमस्कार करता हूँ ॥१४६॥

आगे संवरको प्राप्त करानेवाली द्वादश अनुप्रेक्षाओंका वर्णन करते हैं—

अनित्यानुप्रेक्षा—

मालिनी

हरिहरकमलोद्भूकार्तिकेया गणेशो
जिनसुगतमहीपा वासुदेवश्च रामः ।
दशरथजनकौ हा खेचरा भूचराश्च
जगति क्व नु गतास्ते मर्त्यदेवेन्द्रवन्द्याः ॥१४७॥

अयि मम ननु चेतश्चिन्तय त्वं स्वभावं
कथमहह निपत्योद्द्यसे कर्दमेऽस्मिन् ।
कमपि किल विचाराचारमालम्ब्य नूनं
त्यज झगिति ममत्वं दारतोकव्रजेषु ॥१४८॥

इह जगति हि जातं मृत्युना नीतमन्तं
निजतरुणगुणत्वञ्चान्तमाप्तं प्रवृद्धया ।
सुखमनुगतदुःखं सङ्गमोऽसङ्गमेन
न हि किमपि सखे ! हा भाति नित्यं भवेऽस्मिन् ॥१४९॥

क्वचिदथखररश्मिः प्रोद्भवन्भाति लोके
क्वचिदपि करजालैर्भासयन् भूविभागम् ।
क्वचिदहह निपत्योद्द्यते नीरराशौ
क्वचिदपि न हि दृष्टं नित्यमस्तीह यत्तत् ॥१५०॥

अपि च किल निशेशः शस्यते सायमत्रो-
दितिमवलभमानो मानिनीमान्यवृन्दैः ।
अथ गतवति नक्तं काल इन्दुः स एव
ननु भवति हताशः कान्तिकाशः प्रभाते ॥१५१॥

अयि भवति हि पूर्णः पौर्णमास्यां निशेशः
सकलकलकलाभिः शोभते यश्च मान्यः।
बत भवति विपन्नो राहुणा ग्रस्यमानो
हतनिजकरमालो दीनदीनः स एव ॥१५२॥
क्वचिदपि खलु जाते देहजे रम्यरावः
प्रमदभरविशुद्धः श्रूयते वाद्यरावः।
इह तवितरवीथ्यां तद्वियोगेन जातो
विरसविपुलरावः श्रूयते शून्यकर्णैः ॥१५३॥
इतर इह विरौति स्त्रीवियोगाभितप्तो
विलपति नरलोकः कोऽपि तोकप्रणाशात्।
इह विलपति बालो मातृप्रेमप्रहीणो
ननु भवति न किञ्चिन्नित्यमस्यां जगत्याम् ॥१५४॥
इति बत बुद्धया चिन्तयित्वा स्वभावं
क्षणिकमथ कथञ्चिद् भावतानस्य तस्य।
क्वचिदपि परिमोहं मा लभस्वालभस्व
निजशुभगुणपिण्डं कर्मशत्रुप्रचण्डम् ॥१५५॥
इह जगति जनो यः प्राप्नुवानो निजत्वं
परिहरति ममत्वं माननीयेऽपि भोगे।
स खलु भवति शुद्धो मन्दमोहो हि नून-
मुपगतनिजभावश्चारुचैतन्यचिह्नः ॥१५६॥

अर्थ—इस संसारमें मनुष्य और देवेन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय जो हरि, हर, ब्रह्मा, कार्तिकेय, गणेश, जिन, बुद्ध, राजा, कृष्ण, बलराम, दशरथ, जनक, विद्याधर और भूमिगोचरी अनेक पुरुष हुए थे वे सब कहाँ गये? ॥१४७॥ हे मेरे हृदय! तू निश्चयसे आत्मस्वभावका विचार कर। खेद है कि तू इस संसाररूपी पङ्कमें पड़कर क्यों दुखी हो रहा है? कुछ अनिर्वचनीय विचारोंका आश्रय लेकर तू स्त्री तथा पुत्रादिकके समूहमें शीघ्र ही ममत्वभावको छोड़ ॥१४८॥ जो इस जगत्‌में उत्पन्न होता है वह नियमसे मृत्युके द्वारा नाशको प्राप्त होता है। अपना यौवन, रूप-

गुण भी बुढ़ापेके द्वारा अन्तको प्राप्त हो जाता है। सुख दुःखके साथ और संयोग वियोगके साथ मिला हुआ है। हे मित्र ! इस संसारमें कोई वस्तु नित्य नहीं है ।।१४९।। इस जगत्में कहीं सूर्य उदित होता हुआ सुशोभित होता है, कहीं किरणसमूहोंसे पृथिवीको देदीप्यमान करता है और बड़े दुःखकी बात है कि कहीं समुद्रमें पड़कर दुःखी होता है। परमार्थसे संसारमें कहीं भी वह वस्तु नहीं दिखती जो नित्य हो। भावार्थ—यहाँ सूर्यकी उदय, मध्य और अस्त इन तीन अवस्थाओंका जो वर्णन किया गया है वह कविसम्प्रदायकी अपेक्षा किया गया है। कवि लोग मानते हैं कि सायंकालके समय सूर्य समुद्रमें मग्न हो जाता है ।।१५०।। सन्ध्याके समय उदयको प्राप्त होता हुआ चन्द्रमा स्त्रियोंके मान्यसमूहोंके द्वारा प्रशंसाको प्राप्त होता है और रात्रिकाल समाप्त होनेपर प्रभातमें वही चन्द्रमा कान्तिके द्वारा काश पुष्पके समान होता हुआ दयनीय हो जाता है ।।१५१।। जो चन्द्रमा पूर्णिमाकी रात्रिमें पूर्ण होता है और अपनी सुन्दर कलाओंके द्वारा बड़ा मनोहर जान पड़ता है, खेद है कि वही चन्द्रमा राहुके द्वारा ग्रस्त होनेपर किरणावलीसे रहित अत्यन्त दीन हो जाता है ।।१५२।। कहीं पुत्रके उत्पन्न होनेपर हर्षके भारसे वृद्धिको प्राप्त, मनोहर शब्दोंसे युक्त वाद्यध्वनि सुनाई पड़ती है तो कहीं दूसरी गलीमें पुत्रके वियोगसे उत्पन्न करुणक्रन्दनका विशाल शब्द शून्य कानोंके द्वारा सुना जाता है ।।१५३।।

इस संसारमें कोई स्त्रीके वियोगसे संतप्त होता हुआ रोता है, कोई पुत्रके मर जानेसे दुखी होता है तो कोई बालक मातृप्रेमसे वञ्चित होता हुआ विलाप कर रहा है। निश्चयसे इस पृथिवीपर कोई वस्तु नित्य नहीं है ।।१५४।। इस प्रकारकी बुद्धिसे पदार्थसमूहके क्षणिक स्वभावका विचार कर किसी भी पदार्थमें मोहको प्राप्त मत हो किन्तु कर्मशत्रुओंको नष्ट करनेमें समर्थ आत्माके शुभगुणसमूहको प्राप्त हो, ।।१५५।। इस संसारमें जो मनुष्य आत्मत्वको—स्वमें स्वबुद्धिको प्राप्त होता हुआ इष्ट-भोगोंमें भी ममतापरिणामको छोड़ता है वह नियमसे मन्दमोह, निजभाव-को प्राप्त, उत्तम चैतन्यभावसे सहित होता हुआ शुद्ध हो जाता है ।।१५६।।

अशरणभावना—

शरणमिह जगत्यां नास्ति किञ्चित् सखे हा
व्रजसि कथमहो त्वं मोघमोहं जनेषु ।
न खलु गहनमध्ये सिंहपादैर्विपन्नो
हरिणशिशुगणोऽयं त्रायते त्रास्यमानः ।।१५७।।

अथ स किल निशेशो विष्णुपत्नीसनाभि-
रुडुखचितविहायोमध्यसंचारकारी ।
दशशतकिरणेशः प्राप्तपीयूषपुञ्जो
न हि कथमपि रक्ष्यो राहुणा ग्रस्यमानः ॥१५८॥

अपि दिनपतिरीशः पद्मबन्धुर्विजेता
तिमिरकणचयस्यालोककारी विसारी ।
जनगणमहनीयो बालसूर्यः स सायं
न हि कथमपि रक्ष्यः सिन्धुमध्यावपाती ॥१५९॥

रविसुतमुखदंष्ट्रादीर्णदेहं सुदेहं
न हि कथमपि शक्तस्त्रातुमिन्द्रः सुमन्त्रः ।
अपहृतजनबाधस्तन्त्रवादी नरोऽपि
सुरगुरुरथ शुक्रश्चारुचन्द्रश्च सूर्यः ॥१६०॥

इह जगति सनाभिर्बाललीलासहायो
ह्यनितरपितृहस्तध्वस्तखेलाव्यपायः ।
सहगमनविशोभी भिन्नरूपोऽप्यभिन्नो
व्रजति न खलु सार्धं प्रेतवासं विहाय ॥१६१॥

अशरणमिति चेतश्चिन्तयित्वा निजस्य
न खलु परिममत्वं प्राप्नुहि त्वं भवेषु ।
कृतवति भवतीत्थं शुद्धचिन्मात्ररूपो
भवति ननु जनोऽयं शुद्धतत्त्वोपलम्भात् ॥१६२॥

अर्थ—हे सखे ! इस पृथिवीपर कुछ भी शरण नहीं है फिर तू क्यों मनुष्योंमें व्यर्थ मोहको प्राप्त हो रहा है। निश्चयसे वनके मध्य सिंहके चरणोंसे आक्रान्त भयभीत हरिणशिशुओंका समूह किसीके द्वारा नहीं बचाया जाता है ॥१५७॥ जो लोकमें विष्णुकी पत्नी अर्थात् लक्ष्मीका भाई कहा जाता है, जो नक्षत्रोंसे व्याप्त आकाशके बीचमें भ्रमण करता है, एक हजार किरणोंका स्वामी है तथा अमृतके समूहको प्राप्त है ऐसा चन्द्रमा भी जब राहुके द्वारा ग्रसा जाता है तब किसी तरह उसकी रक्षा

नहीं होती है ॥१५८॥ जो दिनका पति—स्वामी है, कमलोंका बन्धु है, अन्धकारके समूहको जीतनेवाला है, प्रकाशका कर्ता है, सर्वत्र विस्तारको प्राप्त है और जनसमूहके द्वारा पूज्य है, ऐसा बालसूर्य—प्रातःकालीन सूर्य भी जब सन्ध्याके समय समुद्रके मध्य पतित होता है तब किसी प्रकार उसकी रक्षा नहीं हो पाती ॥१५९॥ यमराजके मुखकी दाढसे जिसका शरीर विदीर्ण हो गया है, ऐसे प्राणीकी रक्षा करनेके लिये न इन्द्र समर्थ है, न मनुष्योंकी पीड़ाको हरनेवाला उत्तम मन्त्रका ज्ञाता मनुष्य समर्थ है, न बृहस्पति, न शुक्र, न सुन्दर चन्द्र और न सूर्य भी समर्थ है ॥१६०॥ इस जगत्में जो बालक्रीड़ाओंका साथी रहा है, एक ही पिताके हाथोंसे जिसकी क्रीड़ाकी बाधायें दूर की गई हैं, जो सहगमनसे सुशोभित है और भिन्न होते हुए भी अभिन्न है ऐसा सगा भाई भी श्मशानको छोड़कर आगे साथ नहीं जाता है ॥१६१॥ हे मेरे हृदय ! इस प्रकार अशरणभावका विचार कर, तू संसारमें ममताभावको प्राप्त न हो । आपके ऐसा करनेपर शुद्धतत्त्वकी उपलब्धि होनेसे यह जीव शुद्धचैतन्यरूप हो जाता है ॥१६२॥

संसारभावना—

इह किमपि न सारं वर्तते भो भवेऽस्मि-
न्ननुभवति न को वा वृद्धदारिद्र्यदुःखम् ।
नरपरिवृढपुञ्जः स्यात्पदातिः परेऽह्नि
भवति च पतिरूपोऽसौ पदातिः परत्र ॥१६३॥

उदयति दिननाथो ह्यस्तमेति क्षपेशो
न हि भवति निशा वा वासरो विद्यमानः ।
स किल निजसुतोऽपि स्यात्पिता वा पिता च
भवति निजसुतस्य स्वाङ्गजातः सुतोऽपि ॥१६४॥

अभवदिह हि पूर्वं या सवित्री जनाना-
मिह भवति ततः सा प्रीतिपात्रं कलत्रम् ।
गुरुरपि बत पूर्वं यो भवेत्साम्प्रतं स
भजति परिभवं तं नैजशिष्यस्य वृन्दात् ।१६५॥

अपहसति जनो योऽआत्तवित्तः परान् स
भवति हसितपात्रं क्षुण्णगर्वः पराह्णे ।
जलभृतघटयन्त्रीकुम्भसङ्घोऽपि किं नो
भवति समयमात्रं नीरशून्यो ह्यवाङ् च ॥१६६॥

त्यजतु जनसहायं लब्धलक्षव्यपायं
भजतु जिनपधर्मं सन्ततं सौख्यधर्मम् ।
भवति स खलु लोके पालको व्याधिवृन्दात्
परिहतनिजदेहानां जनानां यतो वै ॥१६७॥

विरसमिति चलं वा चिन्तयित्वा भवं यः
सुभगनिजनिकाये लीनतामेति कोऽपि ।
भवति निखिलमान्यो लब्धलक्ष्यव्यवृत्तः
स्फटिकमणिसमानः स प्रसन्नो मुहूर्तात् ॥१६८॥

अर्थ—हे प्राणी ! इस संसारमें कुछ भी सार नहीं है। कौन मनुष्य बुढ़ापा और दरिद्रताका दुःख नहीं भोगता है ? जो आज राजाओंका समूह है वह दूसरे दिन सेवक हो जाता है और जो आज सेवक है वह दूसरे दिन स्वामी हो जाता है ॥१६३॥ सूर्य उदित होता है और चन्द्रमा अस्तको प्राप्त होता है। रात तथा दिन भी सदा विद्यमान नहीं रहते। अपना पुत्र भी पिता हो जाता है और पिता भी अपने पुत्रका पुत्र हो जाता है ॥१६४॥ इस जगत्में जो मनुष्योंकी पहले माता थी वह इस जन्ममें प्रीतिका पात्र स्त्री हो जाती है। इसी प्रकार जो पहले गुरु था वह इस भवमें अपने ही शिष्योंके समूहसे अनादरको प्राप्त होता है ॥१६५॥ जो आज धन प्राप्तकर दूसरोंकी हँसी करता है वह, सायंकाल गर्वरहित होता हुआ स्वयं हँसीका पात्र हो जाता है। जलसे भरी हुई रहटकी घड़ियोंका समूह क्या क्षणमात्रमें जलरहित और अधोमुख नहीं हो जाता है ? ॥१६६॥ लाखों विघ्नबाधाओंसे सहित अन्य मनुष्योंके आलम्बनका भाव छोड़ो और सदा सुखरूप जिनेन्द्रधर्मका आश्रय ग्रहण करो, क्योंकि लोकमें विपन्नशरीरवाले जीवोंकी रोगसमूहसे रक्षा करनेवाला वही एक जिनेन्द्र धर्म है। यह संसार विरस है तथा नश्वर है ऐसा विचार कर जो कोई मनुष्य अपने स्वभावसे सुन्दर आत्मस्वरूपमें

लीनताको प्राप्त होता है वह शीघ्र ही सबके द्वारा मान्य, प्राप्तव्य तत्त्वको प्राप्त तथा स्फटिकके समान स्वच्छ हो जाता है ॥१६७-१६८॥

एकत्वभावना

स्वकृतसुकृतकर्मप्रोद्भवत्पुण्यपाकं
स्वकृतदुरितकर्मप्रोद्भवत्पापपाकम् ।
विपुलमधनदुःखं व्याधिवैविध्यदुःखं
जननमरणदुःखं चैक एव प्रयाति ॥१६९॥

विविधविकटदुःखैर्भीतिदैः सम्परीतं
ज्वलनचपलमालासंश्रितं हा समन्तात् ।
विरसनिनदपूर्णं पूतिरक्तप्रवाहं
नरकसदनमेकः सर्वदा संप्रयाति ॥१७०॥

असिदलतरुपत्रच्छेदनं भेदनं वा
निशितविविधशस्त्रैरग्निपुञ्जाभिपातम् ।
क्वथितजलवगाहं क्षारपानीयसेकं
नरकसदनमध्ये ह्येक एव प्रयाति ॥१७१॥

ज्वलनशतसुतप्तायोरसस्याभिपानं
विकटकठिनशस्त्रैरर्जनं दुःखराशेः ।
सघनदहनमध्ये भर्जनं भर्त्सनश्च
भुवि नरकजनानामेक एव प्रयाति ॥१७२॥

इह जगति जनोऽयं पापपुञ्जं यदर्थं
त्वनवरतमनाः सन्नित्यशः सञ्चिनोति ।
सहगसुतरमालीबन्धुपित्रादयस्ते
न हि न हि न हि सार्धं श्वभ्रवासं प्रयान्ति ॥१७३॥

अनलसलिलवातानोकहेलासु नित्यं
भ्रमति भरति तीव्रं दुःखमेको जनोऽयम् ।
अपि च विकलमध्ये ताडनं रोधनं वा
ह्यनवरतमनन्तं दुःखमेको बिभर्ति ॥१७४॥

बहुविधबहुभारारोहणं शीतमुष्णं
सलिलसमयबाधां भोजनस्याप्यभावम् ।
खलजनकृतपीडां तप्तलोहाभिदाहं
पशुजनिनिकुरम्बे यात्ययं ह्येक एव ॥१७५॥

सुभगसुतसुरामामित्रसोदर्यमातृ-
प्रभृतिहितजनानां दुःखदं तं वियोगम् ।
विविधखररुजोग्रं वार्द्धर्यदारिद्र्यदुःखं
नरभवसमुदाये ह्येक एव प्रयाति ॥१७६॥

अपि च सुरपगेहे मानसव्याधिवृन्द-
मितरसुरसमृद्ध्यालोकजेर्ष्याजदुःखम् ।
मृतिसमयजदुःखं चेष्टलोकाभिघातं
ह्यनुभवति समन्ताद्धन्त लोकोऽयमेकः ॥१७७॥

तदनवरतमात्मन्नात्मनो ह्येकतां त्व-
मनुभव हि समन्तान्मुञ्च मोहं कुटुम्बे ।
भवसि भवसि यावन्नैकदृष्टिर्जगत्या-
मनुभवसि न तावच्छ्रेयसां संपदं त्वम् ॥१७८॥

अर्थ—अपने द्वारा किये हुए पुण्यकर्मसे प्रकट होते हुए पुण्यफलको, अपने द्वारा किये पापकर्मसे प्रकट होते हुए पापफलको, बहुत भारी निर्धनताके दुःखको, अनेक बीमारियोंके दुःखको तथा जन्ममरणके दुःखको यह जीव अकेला ही प्राप्त होता है ॥१६९॥ भय उत्पन्न करनेवाले नानाप्रकारके विकट दुःखोंसे जो व्याप्त है, जो सब ओरसे अग्निकी चञ्चल-ज्वालाओंसे सहित है, जो विरस शब्दोंसे परिपूर्ण है और जहाँ पीप तथा रक्तका प्रवाह बह रहा है ऐसे नरकमें निरन्तर यह जीव अकेला ही जाता है ॥१७०॥ असिपत्रवृक्षके पत्तोंके द्वारा छेदा जाना, नाना प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्रोंके द्वारा भेदा जाना, अग्निकी राशिमें गिराया जाना, खौलते हुए जलमें प्रवेश कराया जाना, और खारे पानीसे सींचा जाना इन दुःखोंको यह जीव नरकके बीच अकेला ही प्राप्त होता है ॥१७१॥ सैकड़ों अग्नियोंसे तपाये हुए अयोरस—पिघले हुए लोहरसका पिलाया

जाना, अत्यन्त कठिन शस्त्रोंके द्वारा दुःखसमूहका प्राप्त होना, प्रचण्ड अग्निके मध्यमें भूँजा जाना और तिरस्कृत होना, इन सब दुःखोंको यह जीव नरकमें अकेला ही प्राप्त होता है ॥१७२॥ इस संसारमें यह जीव जिनके लिए निरन्तर एकाग्र मनसे पापसमूहका संचय करता है वे मित्र, पुत्र, स्त्रीसमूह, भाई तथा पिता आदि नरकमें इस जीवके साथ नहीं जाते हैं, नहीं जाते हैं, नहीं जाते हैं ॥१७३॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक जीवोंमें यह प्राणी अकेला ही निरन्तर घूमता और तीव्र दुःख उठाता है। इसी प्रकार विकलत्रय जीवोंके मध्य भी ताड़ा जाना तथा रोका जाना आदिके अनन्त दुःखको यह प्राणी सदा अकेला ही धारण करता है ॥१७४॥ नाना प्रकारका बहुत भारी भार लादा जाना, सर्दी, गर्मी, वर्षाकालकी बाधा, भोजनका अभाव, दुष्टजनोंके द्वारा की हुई पीड़ा तथा गर्म लोहेसे जलाया जाना आदि दुःखोंको यह जीव पशुओंके जन्मसमूहमें अकेला ही प्राप्त होता है ॥१७५॥

प्रिय पुत्र, उत्तम स्त्री, मित्र, सगा भाई, तथा माता आदि हितकारी-जनोंके उस दुःखदायक वियोगको, नाना प्रकारके कठिन रोगोंसे भयंकर वृद्धावस्था और दरिद्रताके दुःखको यह जीव मनुष्यपर्यायमें अकेला ही प्राप्त करता है ॥१७६॥

स्वर्गलोकमें भी, खेद है कि यह जीव मानसिक व्याधियोंके समूहको, अन्य देवोंकी समृद्धिके देखनेसे उत्पन्न होनेवाली ईर्ष्यासे समुत्पन्न दुःखको, मृत्युसमयके दुःखको तथा इष्टवियोगको सब ओरसे अकेला ही भोगता है ॥१७७॥

इसलिए हे आत्मन्! तू निरन्तर अपने आपके एकत्वका अनुभव कर तथा कुटुम्ब-परिवारमें सब ओरसे मोहको छोड़। यह निश्चित है कि तू इस पृथिवीपर जब तक एकदृष्टि नहीं होता है तब तक कल्याणोंकी संपदाका अनुभव नहीं कर सकता है ॥१७८॥

अन्यत्वभावना

उपगतमिह नीरक्षीरवच्चैकतां यत्
तदपि मम शरीरं स्वात्मनो भिन्नमेव।
अविरलवरबोधज्योतिरात्मस्वरूपं
किमु भवति पुनस्तद्दारपोतादिवृन्दम् ॥१७९॥

प्रबलपरमबोधज्योतिरीशोऽहमात्मा
त्विदमिह जडरूपं बोधहीनं शरीरम् ।
अहमपि सुखकन्दस्तद्विहीनं तदन-
महममूर्तमूर्तिमूर्तियुक्तं शरीरम् ॥१८०॥

इह किल भवसिन्धावेकतासंगतोऽहं
निखिलमपि तदन्यन्नैकतासंगतं तु ।
अहममरणशीलस्तत्तु मृत्युस्वभाव-
महमजननयुक्तस्तत्तु जन्माभियुक्तम् ॥१८१॥

अहमिह जगतां स्यां ज्ञायको दर्शको वा
जगदितरदिह ज्ञेयं च दृश्यं समस्ति ।
अहमतिसुखनिभृतस्तत्तु सौख्यादिहीनं
वदतु वदतु किं तद् ह्येकताप्येतयोः स्यात् ॥१८२॥

कलयतु जगदेतत्स्वात्मनो भिन्नमन्यत्
स्वमपि परपदार्थाद् बुध्यतां भिन्नमेव ।
इदमिह किल भेदज्ञानमर्थो जनानां
न हि भवति विमुक्तिर्यन्तरा भेदबोधम् ॥१८३॥

अर्थ—इस जगत्‌में जो शरीर दूध और पानीके समान एकरूपताको प्राप्त हो रहा है वह भी मेरी आत्मासे जब भिन्न है तब स्त्रीपुत्रादिकका समूह, जो कि स्पष्ट ही भिन्न है, तब अखण्ड ज्ञानज्योतिसे युक्त आत्म-स्वरूप कैसे हो सकता है ॥१७९॥ मैं उत्कृष्ट बलशाली उत्तम ज्ञान-ज्योतिका स्वामी आत्मा हूँ और यह शरीर ज्ञानहीन तथा जडरूप है। अहो ! मैं सुखका कन्द हूँ और शरीर उससे रहित है। मैं मूर्तिसे रहित हूँ और शरीर मूर्तिसे सहित है ॥१८०॥ निश्चयसे इस संसारसागरमें मैं एकत्वसे युक्त हूँ और मुझसे भिन्न अन्य सब पदार्थ एकत्वसे संगत नहीं हैं अर्थात् नानारूप हैं। मैं मृत्युसे रहित हूँ शरीर मृत्युसे सहित है। मैं जन्मसे युक्त नहीं हूँ और शरीर जन्मसे युक्त है। भावार्थ—आत्मामें जन्म-मरणका व्यवहार शरीरके आश्रयसे है। परमार्थसे आत्मद्रव्य जन्म-मरणसे रहित है ॥१८१॥ मैं यहाँ तीनों लोकोंका ज्ञाता द्रष्टा हूँ और

यह लोक मात्र ज्ञेय और दृश्य है अर्थात् यह किसीको जानता देखता नहीं है, मात्र आत्माके ज्ञान और दर्शनका विषय है। मैं अतिशय सुखसे परिपूर्ण हूँ और यह शरीर सौख्यादि गुणोंसे हीन है। इस दशामें कहो कि इन दोनोंमें एकता कैसे हो सकती है ॥१८२॥ इस जगत्को स्वात्मासे भिन्न जानो और परपदार्थोंसे अपने आपको भिन्न समझो। यह भेदज्ञान ही मनुष्योंका प्रयोजन है। वास्तवमें इस भेदज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती है ॥१८३॥

अशुचिभावना

जलनिधिजलपूरैः क्षाल्यतां नित्यशश्चेत्-
तदपि न हि विशुद्धो जायते देह एषः।
मलरचितघटः किं क्षाल्यमानोऽब्धिपूरै-
र्वद शुचिरिह दृष्टः कुत्र लोकेन केन ॥१८४॥

अयमयि निजदेहो पितृशुक्रेण तेन
विरचित इह मातुः शोणितेनापि तेन।
पलरुधिरसमेतः कीकशाद्प्रपूर्णः
ज्वरमुखशतरोगाक्रान्त एवातिशीर्णः ॥१८५॥

कृमिकुलकलितोऽयं नित्यशः शीर्यमाणो-
ह्यसुरभिपरिपूर्णः कोविदप्रीतिरिक्तः।
असुखविततिहेतुः क्षीणतां संप्रयातो
ननु पिहिततमः सन् चर्मणा भाति चारुः ॥१८६॥

यदि कथमपि देहस्यास्य चान्तर्गतं तत्
पलरुधिरमलाद्यं बाह्यदेशस्थितं स्यात्।
वदतु वदतु किं त्वं घ्राणघोणां तदानी-
मपसरसि न दूरं कुञ्चितां संविधाय ॥१८७॥

अपि च यदि शरीरस्योर्ध्वसंवेष्टनं तद्
व्यपहरतु कदाचित् कुत्रचित्कोऽपि लोकः।
झगिति समभियातान् काकगृद्धादिजन्तून्
लगुडशतविघातैः कस्तदा वारयेन्नोः ॥१८८॥

यदिह किल शरीरं पावनं वस्तुजातं
क्षणिकनिजसुयोगाद् दूषयत्येव नित्यम् ।
कथमिति पुनरेतस्मिन्स्वदेहे सदात्मन्
वहसि वद मुधा त्वं शिष्टसंभ्रान्तिमेव ॥१८९॥

इति च जगति यः कोऽपीह देहस्य नित्यं
अनुभवति जुगुप्साभाजनत्वं समन्तात् ।
स किल परविरागं प्राप्नुवन् नैजदेहा-
दनुसरति सुशीघ्रं संयमस्योग्रभारम् ॥१९०॥

अर्थ—इस शरीरको निरन्तर समुद्रके जलप्रवाहसे धोया जावे तो भी यह पवित्र नहीं होता है। मलसे निर्मित घट, समुद्रके पूरसे धोया जानेपर क्या लोकमें कहीं किसीके द्वारा पवित्र देखा गया है? कहो ॥१८४॥ अये भव्यप्राणियो! यह अपना शरीर पिताके शुक्र और माताके रजसे बना हुआ है, मांस और रुधिरसे सहित है, हड्डी आदिसे परिपूर्ण है, ज्वर आदि सैकड़ों रोगोंसे आक्रान्त है, अत्यन्त नश्वर है, कीड़ोंके समूहसे युक्त है, निरन्तर बिखरता जाता है, दुर्गन्धसे भरा हुआ है, विद्वज्जनोंकी प्रीतिसे रहित है, दुःखसमूहका कारण है, क्षीणताको प्राप्त होता रहता है और परमार्थसे चर्मसे आच्छादित होनेके कारण सुन्दर जान पड़ता है ॥१८५-१८६॥ इस शरीरके भीतर जो मांस, रुधिर तथा मल आदिक हैं वे यदि किसी तरह बाहर आ जावें तो कहो कहो, क्या तुम स्वयं नाकको सिकोड़ कर दूर नहीं हट जाओगे? ॥१८७॥ इस शरीरके ऊपर जो वेष्टन है उसे यदि कोई कहीं कभी अलग कर दे तो शीघ्र ही झपटनेवाले कौए तथा गीध आदि जीवोंको सैकड़ों डंडोंके प्रहारसे कौन हटावेगा? ॥१८८॥ इस संसारमें जो कोई पवित्र पदार्थ हैं उन्हें यह शरीर अपने क्षणिक संयोगसे जब निरन्तर दूषित कर देता है तब हे आत्मन्! तुम इस अपने शरीरमें व्यर्थ ही उत्तमपनेका भ्रम क्यों धारण कर रहे हो? ॥१८९॥ इस प्रकार इस संसारमें जो कोई इस शरीरकी ग्लानिका अनुभव करता है अर्थात् यह मानता है कि मेरा शरीर सब ओरसे ग्लानिका पात्र है वह अपने शरीरसे उत्कृष्ट विरागको प्राप्त होता हुआ शीघ्र ही संयमके उत्कृष्ट भारको धारण करता है। भावार्थ—संसारमें रागकी जड़ शरीरके रागमें है। इस प्राणीका सबसे अधिक राग

अपने शरीरसे ही होता है। यदि शरीरका राग छूट जावे तो संयम धारण करनेमें विलम्ब न लगे। शरीरका राग उसकी अपवित्रताका विचार करनेसे ही छूट सकता है। यही कारण है कि अशुचि भावनामें शरीरकी अपवित्रताका विचार किया गया है ॥१९०॥

आस्रवभावना

जलधिजलगता नौ रन्ध्रबाहुल्यपूर्णा
विनिचितजलभारैः संभवन्ती गरिष्ठा।
पथिकजनसुयुक्ता वै यथा वातकम्प्रा
पयसि जलनिधेर्हा जायते संनिमग्ना ॥१९१॥

जगति खलु तथायं सास्रवः प्राणिसंघो
बहुविधविधिभारैः संभृतः सन् गरिष्ठः।
अपि च सुगुणवृन्दैः शोभितः कर्मकम्प्रो
झगिति भवपयोधौ जायते संनिमग्नः ॥१९२॥

अविरलभवहेतुस्तीव्रमिथ्यात्वमेको
ह्यविरतिरतिदर्पा चास्रवोऽयं द्वितीयः।
जगदहितंकरास्ते संकषायास्तृतीयो
यतिपतिततिनिन्द्यः स प्रमादश्चतुर्थः ॥१९३॥

अखिलजनसपत्नः पञ्चमश्चैष योगो
जगति मुनिमतोऽयं ह्यास्रवः पञ्चभेदः।
सततमयमिहात्मा पञ्चभिर्हेतुभेदै-
र्विविधविधिवितानं नित्यशः संतनोति ॥१९४॥

निखिलजनसमूहे घोषणापूर्वमेत—
त्त्वहमिदमभिवक्तुं सर्वथा प्रोद्यतोऽस्मि।
न हि भवति कदाचित्सास्रवः प्राणिपुञ्जो
ह्यभिमतनिजदेशं यातुमर्हः कदाचित् ॥१९५॥

य इति जगति नित्यं चास्रव दुःखरूपं
निजमनसि विशुद्धे भावयेद् भव्यलोकः ।
स किल जगति रुद्ध्वा द्रव्यभावास्रवं तं
निजमहिमनि तथ्यानन्दवृन्दं समेयात् ॥१९६॥

अर्थ—जिस प्रकार समुद्रके जलमें पड़ी, अनेक छिद्रोंसे परिपूर्ण नौका संचित जलके भारसे अतिशय वजनदार होती हुई, पथिकजनोंके साथ वायुसे कम्पित होकर, खेद है कि, समुद्रके जलमें डूब जाती है उसी प्रकार संसारमें आस्रवसे सहित यह प्राणिसमूह बहुविध कर्मोंके भारसे युक्त होनेके कारण गुरुतर—वजनदार होता हुवा उत्तम गुणसमूहोंसे सुशोभित तथा कर्मोंसे कम्पित हो शीघ्र ही संसारसागरमें निमग्न हो जाता है ॥१९१-१९२॥ तीव्र मिथ्यात्व संसारका। अनादिकालीन प्रथम आस्रव है। दूसरा आस्रव अत्यन्त अहंकारसे भरा हुआ अविरति—असंयमभाव है। जगत्का अहित करनेवाले कषाय तीसरा आस्रव है, मुनिजनोंके द्वारा निन्दनीय प्रमाद चौथा आस्रव है और समस्तजनोंका शत्रु यह योग पाँचवाँ आस्रव है। इस जगत्में यह आत्मा उपर्युक्त पाँच आस्रवोंके द्वारा निरन्तर विविध प्रकारके कर्मसमूहका विस्तार करता रहता है ॥१९३-१९४॥ मैं समस्त जनसमूहके बीच घोषणापूर्वक यह कहनेके लिए तैयार हूँ कि आस्रवसे सहित प्राणियोंका समूह कभी भी अपने इष्ट स्थानपर जानेके लिए समर्थ नहीं है ॥१९५॥ इस प्रकार इस संसारमें जो कोई भव्यजीव अपने विशुद्ध हृदयमें इस दुःखरूप आस्रवकी निरन्तर भावना करता है वह द्रव्यास्रव और भावास्रवको रोक कर अपनी महिमामें—आत्माके वीतरागस्वभावमें वास्तविक आनन्दसमूहको प्राप्त होता है ॥१९६॥

संवरभावना

अभिनवखलकर्मानास्रवः संवरो यः
स च समितिसुधर्मोद्भावनासंयमैश्च ।
अपि च बहुलतृषाशीतनाग्न्यादिकानां
भवति विजयहेतोर्भव्यपुंसां कदाचित् ॥१९७॥
अपि सहृदय गन्तुं दीर्घसंसारसिन्धो—
रपरतटभुवं भो वाञ्छसीह द्रुतं चेत् ।
झगिति झगिति मान्यं संवरं शंकरं तद्
कुरु कुरु निजशक्त्या ह्यास्रवत्कर्मपङ्क्तेः ॥१९८॥

इह जगति जनो यः संवरं त्वन्तरेण
अभिलषति सुमुक्तिं दीर्घसंसारबन्धात् ।
कथमिव न हि सोऽयं नौसहायं विनैव
प्रबलपवनकम्प्रं सागरं संतितीर्षुः ॥१९९

भवति खलु विना या संवरं निर्जरा सा
न हि न हि न हि कार्यं मुक्तिदं वै करोति ।
अभिलषति जनो यः कुण्डिकां रिक्ततोया-
मभिनवजलपूरस्तेन रोध्यः पुरस्तात् ॥२००

अनवरतमपि त्वं क्लेशदैः काययष्टेः
कुरु कुरु किल तीव्रैर्निर्जरां संतपोभिः ।
तदपि सुभग न त्वं ह्यन्तरा संवरं तं
भवसि भुवनमध्ये मुक्तिकान्तः कदाचित् ॥२०१

जगति य इति नित्यं संवरं शंकरं तं
विगतनिजसहाये चेतसा चिन्तयेत्सः ।
अचिरममृतराज्यं मुक्तिकान्ताधवत्वं
स्वजनितबहुसौख्यं चैकदैव प्रयाति ॥२०२

अर्थ—नवीन दुष्ट कर्मोंका जो आस्रव रुक जाता है वह संवर का
लाता है। वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, संयम और ती
प्यास, शीत तथा नाग्न्य आदि परीषहोंपर विजय प्राप्त करनेसे क
भव्यजीवोंके होता है ॥१९७॥ हे विचारवान् प्राणी! यदि तू दी
संसार-सागरकी दूसरी तटभूमिको शीघ्र ही प्राप्त करनेकी इच्छा करत
है तो आत्मशक्तिके द्वारा बहुत शीघ्र आते हुए कर्मसमूहका माननी
सुखदायक संवर कर ॥१९८॥ इस संसारमें जो मनुष्य संवरके बिन
दीर्घ संसारके बन्धनसे मुक्तिकी इच्छा करता है वह मनुष्य नौकाक
सहायताके बिना ही तूफानसे लहराते हुए समुद्रको क्या पार करनेक
इच्छुक नहीं है? ॥१९९॥ निश्चयसे संवरके बिना जो निर्जरा होती
वह मोक्षदायक कार्यको नहीं कर सकती है। ठीक ही है जो मनुष
जलाशयको जलरहित करना चाहता है उसे पहले नवीन जलका प्रवा

रोकना चाहिये ॥२००॥ हे भव्य ! भले ही तू शरीरयष्टिको क्लेश देनेवाले उत्कट तपोंसे निर्जरा कर ले तो भी तू इस जगत्में उस संवरके बिना कभी भी मुक्तिकान्ताका स्वामी नहीं हो सकता है ॥२०१॥ इस प्रकार अपने सहायकसे रहित संसारमें जो कोई हृदयसे उस सुखकारक संवरका निरन्तर विचार करता है वह शीघ्र ही मोक्षके राज्य और आत्मजनित बहुत भारी सुखसे युक्त मुक्तिवल्लभाके स्वामित्वको प्राप्त होता है। भावार्थ—यद्यपि इस जीवके सिद्धोंके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणे कर्मपरमाणुओंकी निर्जरा प्रत्येक समय हो रही है तथापि उस निर्जराके द्वारा यह जीव संसारबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता है क्योंकि जितने कर्मपरमाणुओंकी निर्जरा होती है उतने ही नवीन कर्मपरमाणुओंका बन्ध हो जाता है। परन्तु सम्यग्दर्शन, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रका निमित्त मिलनेपर जब नवीन कर्मोंका आगमन रुक जानेसे संवर होता है तब पूर्वबद्ध कर्म निर्जराको प्राप्त होते हैं और उसके फलस्वरूप समस्त कर्मोंका क्षय कर यह जीव मुक्तिको प्राप्त करता है। यही कारण है कि आगममें संवर पूर्वक होनेवाली निर्जराको ही महत्त्व दिया गया है ॥२०२॥

निर्जराभावना—

भवपतननिमित्तानां भवेऽस्मिन् खलानां
सुभग वसुविधानां कर्मणामेकदेशम् ।
क्षपणमयि जनानां जायते यत्तु नित्यं
मुनिपतिनिचयेनोद्गीयते निर्जरा सा ॥२०३॥

भवति युगविधेयं कर्मणां निर्जरा सा
ह्यनशनमुखयत्नैः साधनीया परा च ।
जनहितभरसक्ता तत्र पूर्वा प्रबोध्या
त्वपि भवति परा या सा न दक्षोपकारे ॥२०४॥

अभिलषसि भवाब्धिं चेत्तरीतुं सखे भोः
झटिति तदिह नौकां निर्जरामाश्रय त्वम् ।
न हि न हि न हि लोके निर्जरामन्तरेण
शिवनगरपतित्वं प्राप्यते मर्त्यलोकैः ॥२०५॥

जलधिजलगनौकाया जलं मध्यगं चेत्
सति सुषिरनिरोधे क्षिप्यते नो बहिस्तत् ।
कथमिव खलु नौः सा प्रोत्तरीतुं प्रशक्ता
जलधिसलिलगर्भं लाघवेनेह मुक्त्वा ॥२०६॥

इति जगति तपस्वी निर्जरायाः स्वरूपं
प्रमुदितमनसा वै नित्यशो भावयेद् यः ।
अचिरमिह स मुक्तः कर्मणां बन्धनात्स्याद्
भवतु भवतु भिक्षो निर्जराढ्यस्ततो भोः ॥२०७॥

अर्थ—हे भव्य ! संसारपतनके कारणभूत दुष्ट आठ कर्मोंका मनुष्योंके जो निरन्तर एकदेश क्षय होता रहता है श्रेष्ठ मुनिसमूहके द्वारा वह निर्जरा कही जाती है ॥२०३॥ कर्मोंकी यह निर्जरा दो प्रकारकी होती है—एक तो अनशन आदि तपश्चरणके प्रयत्नोंसे होती है और दूसरी साधारण निर्जरा अपने आप होती रहती है। इन दोनों निर्जराओंमें पहली निर्जरा ही मनुष्योंका हित करनेवाली जाननी चाहिये । और जो दूसरी निर्जरा है वह उपकार करनेमें समर्थ नहीं है । भावार्थ—आबाधा पूर्ण होनेपर कर्मोंके निषेक स्वयं ही निर्जीर्ण होने लगते हैं यह सविपाक निर्जरा है । यह निर्जरा प्रत्येक संसारी प्राणीके होती है परन्तु उससे कोई लाभ नहीं होता। तपश्चरणादि करनेसे जो कर्मपरमाणु उदयावलीमें आनेके पूर्व ही निर्जीर्ण होते हैं उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं । यह अविपाक निर्जरा ही मोक्षका कारण है ॥२०४॥ हे मित्र ! यदि तू संसार-सागरसे शीघ्र ही पार होनेकी इच्छा करता है तो निर्जरारूपी नौकाका आश्रय ले, क्योंकि जगत्में निर्जराके बिना मनुष्योंके द्वारा मोक्षनगरका स्वामित्व नहीं प्राप्त किया जा सकता ॥२०५॥ समुद्रके जलके बीचमें जो नौका पड़ी हुई है उसका छिद्र बन्द कर देनेपर भी यदि भीतर भरा हुआ पानी बाहर नहीं फेंका जाता है तो वह शीघ्र ही समुद्रके जलमध्यको छोड़कर पार करनेके लिए कैसे समर्थ हो सकती है ? ॥२०६॥ इस प्रकार जो तपस्वी प्रसन्न चित्तसे निरन्तर निर्जराके स्वरूपका चिन्तन करता है वह शीघ्र ही कर्मोंके बन्धनसे मुक्त होता है । इसलिये हे साधो ! तुम निर्जरासे युक्त होओ ॥२०७॥

लोकभावना

कटिगतकरयुग्मो व्यस्तपादः पृथिव्या-
मिहमनुज इवायं तुङ्गताङ्गीकृताङ्गः।
नभसि निरवसाने राजुसप्तद्वयात्मा
भवति स किल लोको द्रव्यषट्काभिपूर्णः ॥२०८॥
अयमयि किल लोकोऽधः सुवेत्रासनाभः
पुनरिह निजमध्ये सूर्यबिम्बस्य तुल्यः।
उपरि वरमृदङ्गाकारयुक्तः समन्तात्
पवनवलयवृन्दैर्वेष्टितो राजते सः ॥२०९॥
न हि न हि ननु लोको ब्रह्मणा निर्मितोऽयं
न हि न हि वसुदेवापत्यसंपालितो वा।
न हि न हि हरणीयो भूतनाथेन तेन
न हि न हि खलु शेषधारणीयः शिरोभिः ॥२१०॥
विविधविधिविपाकाज्जायमानः कदाचित्
ह्यपगतनिजसंज्ञो म्रियमाणः कदाचित्।
अमितमिति विशालं संभरन् दुःखभारं
भ्रमति जगति जीवो नित्यशोऽस्मिन् समन्तात् ॥२११
अभिलषसि यदि त्वं लोकसिन्धुं ह्यगाधं
निजभुजबलभूत्या संतरीतुं क्षणेन।
तदनवरतमेतल्लोकसिन्धुस्वरूपं
स्तिमितसरलदृष्ट्या भव्य भोश्चिन्तय त्वम् ॥२१२॥
भवति भुवनसृष्ट्यादिचिन्तनैर्मानवाना-
मपगतचपलत्वं चित्तमुद्भ्रान्तियुक्तम्।
भवति झटिति तेन ध्यानसिद्धिस्तथा च
प्रबलकठिनकर्मारातिजातिप्रणाशः ॥२१३॥

अर्थ—अनन्त आकाशके बीच चौदह राजु ऊँचा तथा छह द्रव्योंसे परिपूर्ण यह लोक उस मनुष्यके आकार है जो पृथिवीपर दोनों पैर फैला

कर खड़ा हुआ है तथा कमरपर दोनों हाथ रखे हुए है ।।२०८।। हे जीव ! यह लोक नीचे वेत्रासनके समान है, मध्यमें सूर्यबिम्बके समान चपटा है और ऊपर मृदङ्गके आकार है । वह लोक सब ओरसे वातवलयोंके समूहसे वेष्टित है । भावार्थ—लोकके तीन भेद हैं—१ अधोलोक, २ मध्यलोक और ३ ऊर्ध्वलोक । इनमें अधोलोक नीचे सात राजू फैला हुआ है और ऊपर एक राजू चौड़ा है अतः इसका आकार वेत्रासन (मूढ़ा) के समान है । मध्यलोक समान धरातलपर एक राजू चौड़ा है इसलिये यह सूर्यमण्डल अथवा झल्लरीके समान है । ऊर्ध्वलोक प्रारम्भमें एक राजू, बीचमें पाँच राजू और ऊपर एक राजू चौड़ा है अतः इसका आकार मृदङ्गके समान है । मेरुपर्वतका मूलभाग पृथिवीमें एक हजार योजन और ऊपर निन्यानबे हजार योजन है । मध्यलोककी ऊपर नीचेकी सीमा मेरुपर्वतके बराबर है । उसके नीचे अधोलोक और ऊपर ऊर्ध्वलोक है । लोकके चारों ओर घनोदधि वातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय ये तीन वातवलय हैं । लोकके नीचे जो वातवलय हैं उनकी मोटाई बीस-बीस हजार योजनकी है । ऊपर क्रमशः घटती गई है । ऊपर लोकान्तमें तीनों वातवलयोंकी मोटाई क्रमशः तीन कोश, दो कोश और पन्द्रह सौ पचहत्तर धनुष प्रमाण है ।।२०९।। यह लोक न तो ब्रह्माके द्वारा रचा गया है, न विष्णुके द्वारा सुरक्षित है, न महेशके द्वारा हरण करने योग्य है और न शेषनागके द्वारा अपने शिरोंसे धारण करने योग्य है ।।२१०।। विविध कर्मोंके उदयसे यह जीव कभी उत्पन्न होता है, कभी निष्प्राण होता हुआ मरता है । इस प्रकार अपरिमित विशाल दुःखके भारको भरता हुआ यह जीव इस जगत्में सब ओर निरन्तर भ्रमण करता है ।।२११।। हे भव्य ! यदि तू इस अगाध संसार-सागरको अपने भुजबलके वैभवके द्वारा शीघ्र ही तैरना चाहता है तो निरन्तर निश्चल तथा सरल दृष्टिसे इस संसार-सागरके स्वरूपका विचार कर ।।२१२।। लोककी रचनाका विचार करनेसे मनुष्योंका चञ्चल चित्त निश्चल हो जाता है । निश्चल चित्तके द्वारा शीघ्र ही ध्यानकी सिद्धि होती है और ध्यानकी सिद्धिके द्वारा प्रबल तथा कठिन कर्मरूपी शत्रुओंके समूहका क्षय हो जाता है ।।२१३।।

बोधिदुर्लभभावना

जगदिदमखिलं हि स्थावरैः प्राणिपुञ्जै-
रभिखचितमनन्तैः सन्ततं वर्तते भोः ।
भवति च किल तत्र द्वयक्षकादित्वलब्धि-
जलधितलगरत्नप्राप्तिवद् दुःखलभ्या ।।२१४।।

विकलविततिमध्ये पञ्चखत्वस्य लाभो
गुणमणिनिकुरम्बे चोपकारज्ञतेव ।
विविधकठिनयत्नैः प्रापणीयः कदाचिद्
भवति भुवनमध्ये त केषांश्चिदेव ॥२१५॥

अहिमृगगवयादौ सङ्गमे मानवानां
सुमणिरिव समन्तात्कृच्छ्रलभ्यं नरत्वम् ।
अपगतवति तस्मिंस्तस्य भूयोऽपि लाभो
दहनगतरुतस्योत्पत्तिवद् दुःखसाध्यः ॥२१६॥

तदपि यदि सुलब्धं जायते कर्महाने-
र्विषयकरणगोत्रारोगकत्वादिकं तत् ।
असुखबहुकयत्नैः प्राप्यतेऽस्यां जगत्यां
सुखदजिनपधर्मस्तत्र भोः कष्टलभ्यः ॥२१७॥

अपि सुकुलबलादिः स्वर्गिनागेन्द्रभोगः
प्रचुरधनसमूहो भामिनीमण्डलं वा ।
नृपतिमधुरमैत्र्यं चेतरत्सर्वमेतत्
सुलभमिह जनानां दुर्लभं बोधिरत्नम् ॥२१८॥

जगति सुखदबोधिं रत्नमासाद्य भाग्याद्
विषयतरलशाते रञ्जनं यत्तु पुंसाम् ।
भवति तदिह तेषामाढ्यतागर्वितानां
मलयजतरुदाहो भस्मपुञ्जाय पुंसाम् ॥२१९॥

विषयजचलसौख्यादाप्नुवन् ना विरामं
न खलु न खलु शीघ्रं ह्येति सम्यक् समाधिम् ।
भवति च सुसमाधौ बोधिलाभः फलाढ्य-
स्तदिति झगिति नित्यं चीयतां भोः समाधिः ॥२२०

य इति जगति नित्यं चिन्तयेद् बोधिरत्नं
प्रबलतरसुभागात्प्रापणीयं जनः सः ।
कथमपि किल लब्धं बोधिरत्नं प्रयत्नैः
सततमिह समग्रं पालयेत्तत्त्वदृष्ट्या ॥२२१॥

अर्थ—हे प्राणियो ! यह समस्त संसार सब ओरसे अनन्त स्थावर-जीवोंके समूहसे भरा हुआ है। इसमें द्वीन्द्रियादिककी प्राप्ति होना समुद्रके तलभागमें पड़े हुए रत्नकी प्राप्तिके समान कष्टसाध्य है ॥२१४॥ विकलत्रय जीवोंके समूहमें पञ्चेन्द्रियपर्यायकी प्राप्ति गुणरूपी मणियोंके समूहमें कृतज्ञतागुणके समान नानाप्रकारके कठिन प्रयत्नोंसे कभी संभव है और वह भी संसारके मध्यमें किन्हीं जीवोंको ही होती है, सबको नहीं ॥२१५॥ जिस प्रकार मनुष्योंकी भीड़में उत्तम मणिका मिलना कठिन है उसी प्रकार सर्प, मृग तथा गवय आदि पञ्चेन्द्रिय जीवोंके मध्यमें मनुष्य-भव सब ओरसे अत्यन्त कष्टसाध्य है। वह मनुष्यभव प्राप्त होकर यदि नष्ट हो जाता है तो उसका पुनः प्राप्त होना जले हुए वृक्षका फिरसे उसी वृक्षके रूपमें उत्पन्न होनेके समान दुःखसाध्य है ॥२१६॥ यदि कर्मकी हानिसे वह मनुष्यभव मिल भी जाता है तो पञ्चेन्द्रियोंके विषय, इन्द्रिय, गोत्र और नीरोगता आदि इस पृथिवीमें बहुत अधिक दुःखदायक प्रयत्नोंसे प्राप्त होते हैं और यह सब भी मिल जावें तो सुखदायक जिन-धर्मका मिलना कष्टलभ्य है ॥२१७॥ अथवा उत्तम कुल, बल आदिक, देव और नागेन्द्रोंके भोग, प्रचुरधनका समूह, स्त्रियोंका समूह, राजाओंकी मधुर मित्रता तथा और भी सब कुछ मनुष्योंको सुलभ है परन्तु बोधि-रूपी रत्नकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥ १८॥ इस जगत्में सुखदायक बोधिरत्नको पाकर विषयजनित नश्वर सुखमें पुरुषोंका जो अनुरक्त होना है वह धनाढ्यताके अहंकारी मनुष्योंका भस्मसमूहके लिए चन्दनवृक्षके जलानेके समान है ॥२१९॥ यदि कोई मनुष्य विषयजन्य चञ्चल सुखसे विरक्तिको भी प्राप्त कर लेता है तो वह शीघ्र ही उत्तमसमाधिको प्राप्त नहीं होता है। चूँकि उत्तमसमाधिके प्राप्त होनेपर ही बोधिकी प्राप्ति सफल होती है इसलिए हे भव्यप्राणियो ! निरन्तर शीघ्र ही उस समाधिको प्राप्त किया जाय ॥२२०॥ इस प्रकार जगत्में जो मनुष्य प्रबलतर भाग्यसे प्राप्त होने योग्य बोधिरत्नका निरन्तर चिन्तन करता है वही किसी प्रकार प्राप्त हुए उस बोधिरत्नकी अनेक प्रयत्नों द्वारा यथार्थरूपमें पूर्ण रक्षा कर सकता है। भावार्थ—परपदार्थसे भिन्न और स्वकीय गुणपर्यायोंसे

अभिन्न ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववाले आत्मस्वरूपमें अभिरुचि तथा लीनता होना बोधि कहलाती है। इसकी दुर्लभताका जो मनुष्य निरन्तर विचार करता है वही इसकी परमार्थसे रक्षा कर सकता है ॥२२१॥

धर्मभावना—

भवजलधितलाद्यः प्राणिनो मोक्षमध्ये
धरति भवति धर्मोऽसौ जिनेन्द्रैः प्रगीतः।
स च शुभतमदृष्टिज्ञानवृत्तप्रभेदात्
त्रिविध इह समुक्तोऽयं मुनीन्द्रैर्महद्भिः ॥२२२॥

जगति यदिह चिन्तारत्नमस्ति प्रसिद्धं
तदपि जनचयेनाऽऽचिन्त्यमानं ददाति।
अभिलषितफलालीं कल्पवृक्षोऽपि तद्वत्
फलमयि खलु दातुं कल्प्यमानः सुशक्तः ॥२२३॥

सुरभिरपि जगत्यां कामदा या प्रसिद्धा
सुरवरनिकरेणाऽऽकाम्यमाना सदैन्यम्।
प्रभवति फलपुञ्जं सापि दातुं सुराणा-
मयमिह जिनधर्मोऽप्रार्थितः कामदस्तु ॥२२४॥

अभिलषसि यदि त्वं मुक्तिकान्तापतित्वं
ह्यभिलषसि यदि त्वं सेन्द्रनागेन्द्रसौख्यम्।
अभिलषसि यदि त्वं चक्ररत्नाधिपत्वं
तदिह जिनपधर्मश्चीयतां चेतसा भोः ॥२२५॥

इति य इह पृथिव्यां शर्मदं जैनधर्मं
ह्यकुटिलहृदयेनाजस्रमाचिन्तयन्ति ।
लघु भवति च तेषां धीरता स्वात्मधर्मे
भवति पुनरवाप्तिर्मोक्षसौख्यस्य नूनम् ॥२२६॥

अर्थ—जो जीवोंको संसार-समुद्रके तलभागसे निकाल कर मोक्षके मध्यमें धर दे—पहुँचा दे, जिनेन्द्र भगवान्‌ने उसे धर्म कहा है। वह धर्म इस जगत्‌में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे महा-

मुनियोंके द्वारा तीन प्रकारका कहा गया है ॥२२२॥ इस जगत्में जो चिन्तामणि प्रसिद्ध है वह जनसमूहके द्वारा चिन्तित होनेपर ही देता है। उसी प्रकार कल्पवृक्ष भी याचित होनेपर अभिलषित फलसमूहको देनेके लिये समर्थ होता है। पृथिवीमें जो कामधेनु प्रसिद्ध है वह भी जब देवसमूहके द्वारा दीनतापूर्वक याचित होती है तभी देवोंको फलका समूह देनेमें समर्थ होती है। परन्तु जिनेन्द्रधर्म प्रार्थनाके बिना ही वांछित फलको देनेवाला है ॥२२३-२२४॥ हे प्राणी ! यदि तू मुक्तिकान्ताके स्वामित्वको चाहता है, यदि तू देव और धरणेन्द्रके सुखको चाहता है और यदि तू चक्ररत्नके स्वामित्वको चाहता है तो इस जगत्में हृदयसे जिनधर्मका संचय किया जाय ॥२२५॥ इस प्रकार इस पृथिवीपर जो सरल हृदयसे निरन्तर सुखदायक जैनधर्मका चिन्तन करते हैं उनको शीघ्र ही स्वात्मधर्ममें स्थिरता होती है और उसके फलस्वरूप उन्हें निश्चयसे मोक्षसुखकी उपलब्धि होती है ॥२२६॥

भावनाओंका फल—

भावना मुनिभिर्ध्याता भाविताः सूरिभाषिताः ।
मुक्तिकान्तासमासङ्गे दूतीतुल्याः प्रकीर्तिताः ॥२२७॥

अर्थ—मुनियोंके द्वारा चिन्तवन की हुई ये ऋषिप्रणीत बारह भावनाएँ मुक्तिरूपी कान्ताका समागम करानेमें दूतीके तुल्य कही गई हैं ॥२२७॥

आगे संवरके साधक परिषहजयका वर्णन करते हैं—

संवराध्वदृढीभाव-निर्जरार्थं मुनीश्वरैः ।
परीषहाश्च सोढव्याः क्षुधाद्या द्व्यग्रविंशतिः ॥२२८॥

अर्थ—संवरके मार्गमें दृढ़ रहने तथा कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिये मुनिराजोंको क्षुधा आदि बाईस परीषह सहन करना चाहिये ॥२२८॥

क्षुधापरीषहजय—

साधोः क्षुत्क्षामकण्ठस्य ताम्यतो व्रतमण्डलैः ।
भुक्तपूर्वस्य भोज्यस्यास्मरतो धैर्यशालिनः ॥२२९॥
भुञ्जानस्यानवरतं वैराग्यामृतभोजनम् ।
शस्यते तपसो हेतुः क्षुद्बाधाविजयो जिनैः ॥२३०॥

अर्थ—जिनका कण्ठ क्षुधासे कृश हो गया है, अनेक व्रतसमूहोंसे जो कायक्लेशको प्राप्त हो रहे हैं, पहले भोगे हुए भोजनका जो स्मरण नहीं करते हैं, जो धैर्यसे सुशोभित हैं, और जो निरन्तर वैराग्यरूपी अमृतमय भोजनका उपभोग कर रहे हैं ऐसे साधुके जिनेन्द्र भगवान्‌ने तपका कारण-भूत क्षुधापरिषहजय कहा है ॥२२९-२३०॥

तृषापरिषहजय—

चण्डभानुसमुत्तप्तदेहयष्टेरनारतम् ।
भ्रमतश्चण्डदेशेषूपवासादिविधायिनः ॥२३१॥
तृषया शुष्ककण्ठस्य यतेः सम्यक्त्वशालिनः ।
तां प्रत्यचिन्तनं प्रोक्तमुदन्याजयनं जिनैः ॥२३२॥

अर्थ—जिनका शरीर सूर्यसे संतप्त हो रहा है, जो निरन्तर गर्म देशोंमें विहार करते हैं, जो उपवासादि करते हैं तथा प्याससे जिनका कण्ठ सूख गया है ऐसे सम्यग्दृष्टि मुनिका उस प्यासकी बाधाका विचार नहीं करना जिनेन्द्रभगवान्‌के द्वारा तृषापरिषहजय कहा गया है ॥२३१-२३२॥

शीतपरिषहजय—

हिमानीपातचन्द्राभीभूतकाननसंचये ।
दरिद्रद्वन्द्वदन्तीयकटात्कारकरम्बिते ॥२३३॥
हेमन्ते वीतवस्त्रस्य सरित्तीरनिवासिनः ।
महावीरस्य संभिक्षोः श्लाघ्यते शीतसंजयः ॥२३४॥

अर्थ—बर्फके पड़नेसे जब वनोंका समूह चन्द्रमाके समान सफेद हो रहा है और जो दरिद्र स्त्री-पुरुषोंके दांतोंकी कटकट आवाजसे व्याप्त है ऐसी हेमन्त ऋतुमें नदीके तटपर निवास करने वाले महाशक्तिशाली दिगम्बर साधुका शीतपरिषहजय प्रशंसनीय होता है ॥२३३-२३४॥

उष्णपरिषहजय—

ग्रीष्मार्कतापसंजीर्णपत्रपादपराजिनि ।
दवदावशिखादीप्ते निदाघे चण्डमारुते ॥२३५॥
नैकोपवाससंभूतपित्तकोपततेर्यतेः ।
अग्निकल्पशिलापृष्ठधृतैकासनशालिनः ॥२३६॥

आतापनादियोगेन रुद्धकर्मचयागतेः ।
उष्णबाधाजयोऽजय्यो गीयते जिनसूरिभिः ॥२३७॥

अर्थ— ग्रीष्मऋतुके सूर्य सम्बन्धी संतापसे जीर्ण पत्रवाले वृक्षोंके द्वारा जो सुशोभित है, जो दावानलकी ज्वालाओंसे देदीप्यमान है तथा जिसमें गर्म लू चल रही है ऐसे ग्रीष्मकालमें अनेक उपवासोंके करनेसे जिनका पित्त भड़क उठा है, जो अग्नितुल्य शिलातलपर एकासनसे सुशोभित हैं, तथा आतापनादि योगके द्वारा जिन्होंने कर्मसमूहका आस्रव रोक दिया है ऐसे मुनिके जिनेन्द्र भगवान्‌ने श्रेष्ठतम उष्णपरिषहजय कहा है ॥२३५-२३७॥

दंशमशकपरिषहजय—

नूतनाब्दमहानादत्रस्तभीरुकचेतसि ।
सलिलासारसंछन्नगगनाभोगशोभिनि ॥२३८॥
काले जलदजालानां वृक्षमूलनिवासिनः ।
चलत्पादपपत्राली पतत्पानीयशीकरैः ॥२३९॥
शीतैरुद्भूतरोमाञ्चप्राञ्चितस्य महामुनेः ।
वृश्चिकैर्दन्दशूकाद्यैर्मशकाद्यैश्च जन्तुभिः ॥२४०॥
दष्टदेहस्य तद्बाधाऽचिन्तनं मुनिसम्मतः ।
उक्तो दंशमशकादेर्बाधाया विजयो जिनैः ॥२४१॥

अर्थ—नवीन मेघोंकी महागर्जनासे जब भीरु मनुष्योंका चित्त भयभीत हो रहा है और जलकी मूसलाधार वर्षासे आच्छादित आकाशके विस्तारसे जो सुशोभित है ऐसे वर्षाकालमें जो वृक्षोंके नीचे निवास कर रहे हैं, वृक्षोंके हिलते हुए पत्रसमूहसे टपकनेवाली पानीकी ठण्डी बूंदोंसे उत्पन्न हुए रोमाञ्चोंसे जो सुशोभित हैं तथा बिच्छू, साँप और मच्छर आदिसे जिनका शरीर डशा गया है ऐसे महामुनिका उस बाधाका विचार नहीं करना जिनेन्द्रभगवान्‌के द्वारा दंशमशकपरीषहजय कहा गया है। यह परिषहजय मुनियोंके द्वारा मान्य है—अर्थात् मुनि इसे सहर्ष सहन करते हैं ॥२३८-२४१॥

नाग्न्यपरिषहजय—

ग्रन्थसम्बन्धमुक्तस्य ब्रह्मचर्यविभासिनः ।
तदात्वोत्पन्नबालस्येवातिनिर्मलचेतसः ॥२४२॥

जितचित्तविकारत्वाल्ललनालतिकाः सदा ।
निन्द्या भावयतो भिक्षोरपवर्गाभिलाषिणः ॥२४३॥
भवभोगशरीरेभ्यो विरक्तस्य प्रशस्यते ।
नाग्न्यबाधाजयः सद्भिरास्रवत्कर्मरोधकः ॥२४४॥

अर्थ—जो परिग्रहके सम्बन्धसे निर्मुक्त हैं, ब्रह्मचर्यसे सुशोभित हैं, तत्काल उत्पन्न हुए बालकके समान जिनका चित्त निर्मल है, मानसिक विकारोंको जीत लेनेसे जो स्त्रियोंको सदा निन्द्य समझते हैं, जो मोक्षके अभिलाषी हैं तथा संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हैं ऐसे मुनिका नाग्न्यपरीषहजय सत्पुरुषोंके द्वारा प्रशंसनीय होता है। यह नाग्न्य-परीषहजय आते हुए कर्मोंको रोकनेवाला है ॥२४२-२४४॥

अरतिपरीषहजय—

वादित्रनृत्यगीतादिशून्ये शून्यनिकेतने ।
शिलागुहाकदम्बे वा कानने तरुकोटरे ॥२४५॥
वसतः सुखदुःखादौ सदा माध्यस्थ्यधारिणः ।
यतेर्जयोऽरतेः प्रोक्तो जिनप्रोक्तमहागमे ॥२४६॥

अर्थ—जो वादित्र, नृत्य तथा गीतादिसे शून्य, सूने घरमें, पत्थरोंकी गुफाओंके समूहमें, वनमें तथा वृक्षोंकी कोटरमें निवास करते हैं तथा सुख-दुःख आदिमें सदा माध्यस्थ्यभावको धारण करते हैं ऐसे मुनिके जिनप्रणीत महागममें अरतिपरिषहजय कहा गया है ॥२४५-२४६॥

स्त्रीपरीषहजय—

मरन्दामन्दमाकन्दकुन्दकुड्मलमञ्जुले ।
निर्जने काननोद्देशे वनिताविभ्रमादिभिः ॥२४७॥
अभ्रान्तचेतसो भिक्षोर्मारमारणकारिणः ।
विजयः शस्यते सद्भिः स्त्रीपरिषहसंहतेः ॥२४८॥

अर्थ—बहुत भारी मकरन्दसे युक्त आम तथा कुन्दकी बोंड़ियोंसे मनोहर निर्जन वनप्रदेशमें स्त्रियोंके हावभाव आदिके द्वारा जिनका चित्त भ्रान्त नहीं हुआ है तथा जिन्होंने कामको परास्त कर दिया है ऐसे मुनिका स्त्रीपरिषहजय सत्पुरुषोंके द्वारा प्रशंसनीय होता है ॥२४७-२४८॥

चैत्यचैत्यालयादीनां वन्दनादिनिमित्ततः ।
चरणावृतिशून्यस्य चरतश्चेर्यया सदा ॥२४९॥
पाषाणकण्टकच्छिन्नपादयुग्मपतत्तरैः ।
शोणितै रक्तरथ्यस्य पथ्यान्वेषणकारिणः ॥२५०॥
पुरानुभूतमातङ्गस्यन्दनाद्यभिसञ्चरम् ।
स्वप्नेऽप्यस्मरतः साधोश्चर्यादुःखजयो मतः ॥२५१॥

अर्थ—चैत्य तथा चैत्यालय आदिकी वन्दनाके निमित्त जो सदा ईर्या-समितिसे विहार करते हैं, जो चरणावृति—पादत्राणसे रहित हैं, पाषाण तथा कण्टक आदिसे खण्डित चरणयुगलमें अत्यधिक मात्रामें पड़नेवाले रुधिरसे जिन्होंने मार्गका सेचन किया है, जो आहारका अन्वेषण कर रहे हैं अर्थात् निरवद्य आहारकी खोजमें विहार कर रहे हैं और पहले गृहस्थावस्थामें अनुभूत हाथी तथा रथ आदि वाहनोंके द्वारा होने वाले संचारका जो स्वप्नमें भी स्मरण नहीं करते हैं ऐसे साधुके चर्यापरिषहका जीतना माना गया है ॥२४९-२५१॥

निषद्या परिषहजय—

शाकिनीभीवहारावप्रतिध्वनितदिक्तटे ।
श्मशाने, सिंहशार्दूलविषमारावसंभृते ॥२५२॥
कान्तारे, शून्यसंवासे गह्वरे तरुकोटरे ।
वसतो विविधव्याधासहने धीरचेतसः ॥२५३॥
वीरकोदण्डदण्डादिनिषद्या बहुदुःखदाः ।
साधोर्धृतव्रतः स्वात्म्यसौख्यसंभारशोभिनः ॥२५४॥
तद्बाधाऽचिन्तनं सद्यो मुक्तिदो मुनिसम्मतः ।
निषद्यादुःखविजयः श्लाघ्यते वरसूरिभिः ॥२५५॥

अर्थ—शाकिनियोंके भयोत्पादक शब्दोंकी प्रतिध्वनिसे जिसमें दिशाओंके तट गूंज रहे हैं ऐसे श्मशानमें, सिंहों तथा व्याघ्रोंके विषम शब्दोंसे परिपूर्ण वनमें, निर्जन मकानमें, गुफामें और वृक्षोंकी कोटरमें जो निवास करते हैं, विविध प्रकारकी बाधाओंके सहनेमें जिनका चित्त धीर है, जो वीरासन, धनुरासन अथवा दण्डासन आदि कष्टदायक आसनोंको

धारण कर रहे हैं तथा जो स्वात्मसुखके समूहसे सुशोभित हैं ऐसे साधुका उन सब बाधाओंका चिन्तन नहीं करना उत्तम आचार्योंके द्वारा निषद्या परीषहजय प्रशंसित किया जाता है। यह निषद्यापरिषह शीघ्र ही मुक्तिको देनेवाला है तथा मुनियोंके लिये अत्यन्त इष्ट है ॥२५२-२५५॥

शय्यापरिषहजय—

शास्त्रपाठाध्वसंचारसंजातश्रमखेदिनः ।
शर्कराकण्टकाकीर्णे भूप्रदेशेऽजने निशि ॥२५६॥
एकपार्श्वेण मौहूर्ती निद्रां प्राप्तवतो यतेः ।
प्रबाधां तत्कृतां शान्त्या सहमानस्य भूतले ॥२५७॥
शय्याबाधाजयो नित्यमास्रवत्कर्मवारकः ।
गदितो गदितग्रन्थैर्निर्ग्रन्थैर्जिनसूरिभिः ॥२५८॥

अर्थ—शास्त्रस्वाध्याय अथवा मार्गमें चलनेके कारण उत्पन्न थकावटसे जो खेदयुक्त है, कङ्कण तथा कांटोंसे व्याप्त विर्जन भूखण्डमें जो रात्रिके समय एक करवटसे मूहूर्तव्यापिनी निद्राको प्राप्त हैं तथा पृथिवीतलपर उसके द्वारा की हुई बाधाको जो शान्तिसे सहन कर रहे हैं ऐसे मुनिके शय्यापरिषहजय अनेक ग्रन्थोंके रचयिता निग्र न्थ जैनाचार्योंके द्वारा कहा गया है। यह शय्यापरिषहजय निरन्तर आनेवाले कर्मोंको रोकने वाला है ॥२५६-२५८॥

आक्रोशपरिषहजय—

मिथ्यादर्शनसंदृप्तदुष्टमानववर्णितम् ।
अवज्ञाभर्त्सनानिन्दासभ्यवाचाकदम्बकम् ॥२५९॥
शृण्वतोऽपि तदर्थेषु न समाहितचेतसः ।
सहसा तत्प्रतिव्याधं कर्तुं शक्नुवतोऽपि च ॥२६०॥
अभिचिन्तयतो नित्यं विपाकं पापकर्मणाम् ।
ततोऽनुष्ठानसंलीनमानसस्य महायतेः ॥२६१॥
कषायगरलाभावो हृदये किल गीयते ।
जयो ह्याक्रोशबाधाया आत्मशौचविधायकः ॥२६२॥

अर्थ—मिथ्यादर्शनसे गर्वित दुष्ट मनुष्योंके द्वारा कहे हुए अनादर तिरस्कार और निन्दारूप असभ्य वचनोंके समूहको सुनते हुए भी जिनका चित्त उन शब्दोंके अर्थमें संलग्न नहीं होता है, जो उनका प्रतिकार करनेके लिये तत्काल समर्थ होनेपर भी जो निरन्तर पापकर्मोंके विपाकका ही विचार करते हैं और तपके अनुष्ठानमें जिनका चित्त संलीन है ऐसे महामुनिके हृदयमें जो कषायरूपी विषका अभाव रहता है अर्थात् उन्हें क्रोध उत्पन्न नहीं होता है वह आत्मशुद्धिको करने वाला आक्रोशपरिषहजय कहलाता है ॥२५९-२६०॥

वधपरिषहजय—

रथाङ्गखड्गकोदण्डदण्डमुद्गरताडनैः ।
ताड्यमानशरीरस्य व्यापादकशरीरिषु ॥२६३॥
अकुर्वतो मनोदुःखं मनागपिकदाचन ।
पूर्वोपार्जितदुष्कर्मफलमेतत्समागतम् ॥२६४॥
इमे वराकाः किं कुर्युरीश्वरस्य ममात्मनः ।
वपुरेतत्क्षीणरोचिः क्षणरोचिरिवाचिरम् ॥२६५॥
दर्शनज्ञानचारित्रसुखवीर्यादिसद्गुणाः ।
न हन्यन्ते कदाप्येतैर्मुधा किं मृत्युचिन्तनैः ॥२६६॥
एवं चिन्तयतः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः ।
वधव्याधक्षमा दुःखक्षमैः सूरिभिरुच्यते ॥२६७॥

अर्थ—चक्र, कृपाण, धनुष, दण्ड और मुद्गरोंके प्रहारसे जिनका शरीर पीडित हो रहा हैं फिर भी जो मारने वालोंके ऊपर मनमें कभी थोड़ा भी दुःख नहीं करते हैं। किन्तु यह विचार करते हैं कि यह मेरे पूर्वोपार्जित पापकर्मका फल आया है। ये वेचारे सामर्थ्यवन्त मेरी आत्माका क्या कर सकते हैं। यह शरीर बिजलीके समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख और वीर्य आदि समीचीन गुण इनके द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकते। इसलिये व्यर्थ ही मृत्युकी चिन्तासे क्या लाभ है। ऐसा विचार करनेवाले सर्वसमदर्शी साधुका वधपरिषहजय दुःख सहन करनेमें शमर्थ आचार्योंके द्वारा कहा जाता है ॥२६३-२६७॥

याचनापरीषहजय—

> तपोऽनुष्ठानलीनस्य तपोभावनया सदा ।
> निःसारीकृतदेहस्य दावदग्धतरोरिव ॥२६८॥
> शिरालदेहयन्त्रस्य क्षुधाक्षीणायुषोऽपि च ।
> आहारभेषजादीन्ययाचमानस्य कुत्रचित् ॥२६९॥
> भिक्षाकालेऽपि शम्पावद् दुर्लक्ष्यवपुषो मुनेः ।
> याचनादुःखविजयः शस्यते शस्तसूरिभिः ॥२७०॥

अर्थ—जो सदा तपकी भावनासे तपके अनुष्ठानमें लीन रहते हैं, जिनका शरीर दावानलसे जले हुए वृक्षके समान साररहित हो गया है, जिनका शरीररूपी यन्त्र उभरी हुई नसोंसे व्याप्त है, क्षुधासे क्षीणायु होनेपर भी जो आहार तथा औषध आदिकी कहीं याचना नहीं करते हैं और चर्याके कालमें भी जिनका शरीर बिजलीके समान कठिनाईसे दिखाई देता है ऐसे मुनिका याचनापरिषहजय प्रशस्त आचार्योंके द्वारा प्रशंसनीय होता है ॥२६८–२७०॥

अलाभपरीषहजय—

> वातस्येवातिसङ्गस्यानेकदेशविहारिणः ।
> वाचंयमस्य सन्तोषसुधास्वादपटीयसः ॥२७१॥
> सकृत्स्वविग्रहालोकमात्रतन्त्रस्य वासरे ।
> एककृत्वः करद्वन्द्वपात्रेऽतिस्वल्पभोजनम् ॥२७२॥
> भुञ्जानस्य महाभिक्षोर्भिक्षां बहुदिनेष्वपि ।
> अनवाप्याप्यसंक्लिष्टचेतसश्चितसद्गुणम् ॥२७३॥
> अलाभबाधाजयनं चयनं सौख्यसन्ततेः ।
> प्रशस्यते सदा सद्भिर्निर्जीर्णाखिलकर्मकम् ॥२७४॥

अर्थ—जो वायुके समान निःसङ्ग हैं, अनेक देशोंमें विहार करनेवाले हैं, मौनसे रहते हैं, सन्तोषरूपी सुधाका स्वाद लेनेमें अत्यन्त चतुर हैं, एक बार अपने शरीरका आलोकन कराते हैं अर्थात् आहारके लिये किसीके घर बार बार नहीं जाते हैं, दिनमें एकबार करयुगलरूपी पात्रमें अत्यन्त अल्प भोजन करते हैं और बहुत दिनोंमें भी भिक्षाके न मिलने पर भी जिनके चित्तमें कुछ भी संक्लेश उत्पन्न नहीं होता है उन महामुनिके सुख-

समूहको संचित करने वाला एवं चेतनके सद्गुण रूप अलाभपरिषहजय सदा सत्पुरुषोंके द्वारा प्रशंसनीय होता है। यह अलाभपरीषहजय समस्त कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला है ॥२७२-२७५॥

रोगपरिषहजय—

विरुद्धाहारपानादिसेवनादिनिमित्ततः ।
वातादिरोगसंघाते संजातेऽपि कलेवरे ॥२७५
जल्लमल्लौषधिव्राते सत्यपि रोगवारणे ।
शरीरत्यक्तमोहस्य प्रतिकारानपेक्षिणः ॥२७६॥
महामुनेर्महाधैर्यशालिनः क्षमतापतेः ।
अभिहितं रुजाबाधासहनं सूरिसंचयैः ॥२७७॥

अर्थ—विरुद्ध-आहार-पानादिसेवनके निमित्तसे वात आदि रोग-समूहके हो जानेपर भी तथा रोगको दूर करनेवाली जल्लमल्लौषधि आदि ऋद्धिसमूहके रहते हुए भी जिन्होंने शरीरमें मोह छोड़ दिया है, जो प्रतिकारकी अपेक्षा नहीं रखते हैं, महान् धैर्यसे सहित हैं तथा सब प्रकारकी सामर्थ्यसे सहित हैं ऐसे महामुनिके रोगपरिषहका जीतना आचार्योंके समूहने कहा है ॥२७५-२७८॥

तृणादिस्पर्शपरिषहजय—

शर्करामृत्तिकाकाष्ठतृणकण्टकशूलकैः ।
छिन्नेऽपि पादयुगले तत्रानासक्तचेतसः ॥२७८॥
चर्य्याशय्यानिषद्यासु हरतः प्राणिपीडनम् ।
यतेस्तृणादिसंस्पर्शबाधाया विजयो मतः ॥२७९॥

अर्थ—छोटे-छोटे कङ्कण, मिट्टी, काष्ठ, तृण, कण्टक तथा शूलके द्वारा चरणयुगलके छिन्नभिन्न हो जानेपर भी उस ओर जिनका चित्त आसक्त नहीं है तथा जो चर्या, शय्या और निषद्यामें प्राणिपीड़ाका परिहार करते हैं ऐसे मुनिके तृणादिस्पर्शपरिषहका विजय माना गया है ॥२७९-२८०॥

मलपरिषहजय—

ग्रीष्मग्रीष्मांशुसन्तापजनितस्वेदबिन्दुभिः ।
संसक्तधूलिपुञ्जस्य सिध्मकण्ड्वादिखेदिनः ॥२८०॥

विग्रहे वीतमोहत्वादस्नानव्रतधारिणः ।
ज्ञानचारित्रदृष्ट्यादिशीततोयावगाहनैः ॥२८१॥
कर्मपङ्कापहाराय नित्यमुद्यतचेतसः ।
आख्यायते मलव्याधसहनं यतिभूपतेः ॥२८२॥

अर्थ—ग्रीष्म ऋतुसम्बन्धी सूर्यके संतापसे उत्पन्न पसीनाकी बूँदोंसे जिनके धूलिका समूह लग गया है, जो सेहुआ तथा खाज आदिके खेदसे युक्त हैं, शरीरसे निर्मोह होनेके कारण जो अस्नानका व्रत धारण करते हैं अर्थात् जिन्होंने जीवनपर्यन्तके लिए स्नानका त्याग कर दिया है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र आदि गुणरूपी शीतल जलके अवगाहनके द्वारा जो कर्मरूपी पङ्कको दूर करनेके लिए उद्यत चित्त रहते हैं ऐसे मुनिराजके मलपरिषहविजय कहा जाता है ॥२८१-२८३॥

सत्कारपुरस्कारपरिषहजय—

महातपस्विनः साधोर्ब्रह्मचर्ययुतात्मनः ।
परवादिमदेभालीक्रुद्धवारणवैरिणः ॥२८३॥
असत्कारपुरस्कारे लेशमात्रमखिद्यतः ।
गीयते खलु सत्कारपुरस्कारव्यथाजयः ॥२८४॥

अर्थ—जो महातपस्वी हैं, जिनका आत्मा स्वरूपरमणरूपी ब्रह्मचर्यसे सहित है, जो परवादीरूपी मदोन्मत्त हाथियोंके लिए क्रुद्ध सिंह हैं तथा सत्कारपुरस्कारके अभावमें जो रञ्चमात्र भी खेद नहीं करते हैं ऐसे साधुके सत्कारपुरस्कारपरिषहजय कहा जाता है ॥२८४-२८५॥

प्रज्ञापरिषहजय—

अङ्गपूर्वादिविज्ञस्य शब्दन्यायादिवेदिनः ।
शारदाकेलिगेहस्य मथितग्रन्थतोयधेः ॥२८५॥
तपोऽनुष्ठानदक्षस्य गर्वानुत्पत्तिरंशतः ।
प्रज्ञाबाधाजयः साधोः शस्यते वरसूरिभिः ॥२८६॥

अर्थ—जो अङ्ग-पूर्वादिके ज्ञाता हैं, व्याकरण तथा न्याय आदि शास्त्रोंके वेत्ता हैं, सरस्वतीके क्रीड़ामन्दिर हैं, शास्त्ररूपी सागरका मन्थन करनेवाले हैं, और तपश्चरण करनेमें समर्थ हैं ऐसे साधुके अंशमात्र अहंकारका उत्पन्न नहीं होना उत्तम आचार्योंके द्वारा प्रज्ञापरिषहजय कहा जाता है ॥२८६-२८७॥

अज्ञानपरिषहजय—

अविज्ञोऽयं पशुप्रख्यो नैव जानाति किञ्चन ।
इत्याद्यवक्षेपवचः सहमानस्य नित्यशः ॥२८७॥
साधोस्तपस्विनश्चेतःसंक्लेशानुदयः क्वचित् ।
अज्ञानबाधाविजयो गीयते मुनिमण्डलैः ॥२८८॥

अर्थ—यह अज्ञानी है, पशुके समान है, कुछ भी नहीं जानता है इत्यादि तिरस्कारके वचन निरन्तर सहन करता है फिर भी जिसके कहीं मानसिकक्लेश उत्पन्न नहीं होता उस तपस्वी साधुके अज्ञानपरीषहजय मुनिसमूहके द्वारा कहा जाता है ॥२८८-२८९॥

अदर्शनपरिषहजय—

वैराग्यभावनायत्तहृदयस्य तपस्विनः ।
ज्ञाताखिलपदार्थस्य धर्मनिष्णातसन्मतेः ॥२८९॥
चिरप्रव्रजितस्यापि ममाद्यापि महस्विनः ।
विज्ञानातिशयः कश्चिन्नोत्पन्नः सुखदो भुवि ॥२९०॥
व्यर्थेयं सर्वथा दीक्षा विफलं व्रतपालनम् ।
इत्येवमादिचिन्ताभिर्दूरगस्य महामुनेः ॥२९१॥
दर्शनशुद्धिसंयोगाद् विमलीकृतचेतसः ।
जयोऽदर्शनदुःखस्य कथ्यते मुनिसत्तमैः ॥२९२॥

अर्थ—मेरा हृदय वैराग्यभावनाके अधीन रहता है, मैं तपस्वी हूँ, समस्त पदार्थोंको जानता हूँ, मेरी बुद्धि धर्ममें निष्णात है, मुझे दीक्षा लिए हुए बहुत समय हो गया और मैं बड़ा प्रतापी हूँ फिर भी मेरे पृथिवी-पर सुखदायक कोई भी विज्ञानका अतिशय प्रकट नहीं हुआ है इसलिये यह दीक्षा सर्वथा व्यर्थ है, और व्रतोंका पालन करना निष्फल है इस प्रकारके विचारोंसे जो दूर रहते हैं तथा सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताके योगसे जिनका हृदय निर्मल है ऐसे महामुनिके अदर्शनपरिषहजय श्रेष्ठ मुनि-राजोंके द्वारा कहा जाता है ॥२९० २९३॥

आगे परिषहोंके कारण तथा स्वामीका वर्णन करते हैं—

चारित्रमोहतो नाग्न्यनिषद्याक्रोशयाचनाः ।
स्त्रीसत्कारपुरस्कारारतयश्च भवन्ति ते ॥२९३॥

अदर्शनं भवेद् दृष्टिमोहतोऽलाभसंज्ञकः ।
अन्तरायोदयात् प्रज्ञाज्ञाने ज्ञानावृतेस्तथा ॥२९४॥
शेषाश्च वेदनीये स्युरेकादश हि वेदनाः ।
एकोनविंशतेर्भाज्या एकाद्याश्चैकदा नरे ॥२९५॥
एकादश जिने प्रोक्ता वेदना जिनभानुना ।
बादरसाम्पराये तु सर्वा अपि भवन्ति ताः ॥२९६॥
सूक्ष्मादौ साम्पराये च छद्मस्थे वीतरागके ।
उपद्रवाः प्रकथ्यन्ते चत्वारो दश चापि ते ॥२९७॥

अर्थ—चारित्रमोहके उदयसे नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, याचना, स्त्री, सत्कारपुरस्कार और अरति परिषह होते हैं ॥२९२॥ दर्शनमोहके उदयसे अदर्शन, अन्तरायके उदयसे अलाभ, ज्ञानावरणके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान तथा वेदनीयके उदयसे शेष ग्यारह—अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मलपरिषह होते हैं । एक साथ-एक कालमें एक मनुष्यके एकसे लेकर उन्नीस तक परिषह होते हैं। **भावार्थ**—चर्या, निषद्या और शय्या इन तीनमेंसे एक कालमें एक ही होता है। इसी प्रकार शीत और उष्णमेंसे एक कालमें एक ही होता है, अतः तीन कम हो जानेसे उन्नीस तक परिषह हो सकते हैं। इससे अधिक नहीं ॥२९३-२९४॥ जिनेन्द्ररूपी सूर्यने अरहन्त भगवान्के वेदनीयके उदयमें होनेवाले ग्यारह परिषह कहे हैं। बादरसाम्पराय अर्थात् छठवेंसे लेकर नौवें गुणस्थान तक सभी परिषह होते हैं। सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमें चौदह परिषह कहे गये हैं। वे चौदह परिषह इस प्रकार हैं—अलाभ, शय्या, वध, रोग, चर्या, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, प्रज्ञा, अज्ञान, मल, तृणस्पर्श और दंशमशक। **भावार्थ**—अरहंत भगवान्के जो ग्यारह परिषह कहे गये हैं वे असातावेदनीय कर्मका उदय रहनेसे कहे गये हैं। मोहका अभाव हो जानेके कारण इन ग्यारह परिषहोंसे कोई कष्ट नहीं होता और न उनके अनन्त सुखमें कोई बाधा ही आती है ॥२९५-२९७॥

---

१. अलाभशय्यावधरोगचर्याक्षुधातृषाशीतनिदाघजाताः ।
प्रज्ञामलाज्ञानतृणादिसञ्जसुदंशदंशादिभवाश्च बाधाः ॥१॥

आगे संवरका कारण जो चारित्र है उसका वर्णन करते हैं—

सामायिकं च छेदोपस्थापना परिहारकः ।
सूक्ष्मस्तथा यथाख्यातं पञ्चैते संयमा मताः ॥२९८॥
एते समुक्तपूर्वत्वात्संयममार्गवर्णने ।
पुनरत्र न वर्ण्यन्ते पुनरुक्तिप्रसङ्गतः ॥२९९॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये संयमके पाँच भेद माने गये हैं। इन सबका स्वरूप पहले संयममार्गणामें कहा जा चुका है इसलिये पुनरुक्तिके प्रसङ्गसे यहाँ फिरसे नहीं कहा जा रहा है ॥२९९-३००॥

आगे संवरका माहात्म्य कहते हुए इस प्रकरणका समारोप करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित

गुप्त्याद्यैः पिहितास्रवः किल मुनिर्निर्जीर्णकर्मोच्चयः
सद्यो याति शिवं सदातनसुखं सज्ज्ञानपुञ्जार्चितम् ।
रिक्तः संवरवस्तुना नरचये देवव्रजे नारके
तिर्यग्जीवकदम्बकेऽनवरतं हा हिण्डते विष्टपे ॥३००॥

आर्या

संसारसिन्धुतरणेऽजस्रं चेतः समुत्सुकं यदि ते ।
यतिवर तर्ह्यविलम्बं स्वात्मसुपोतं सुसज्जितं कुरु भोः ।३०१।

उपजाति

मुक्त्यङ्गनासङ्गसमुत्सुकं ते
यते मनश्चेदविलम्बमेव ।
आत्मानमेतं किल संवरेण
रत्नेन सज्जीकुरु तत्समन्तात् ॥३०२॥

अर्थ—जिसने गुप्ति आदिके द्वारा आस्रवको रोक दिया है तथा जिसके कर्मसमूहकी निर्जरा हो गई है ऐसा मुनि शीघ्र ही शाश्वतसुखसे सहित तथा सम्यग्ज्ञानके समूहसे पूजित मोक्षको प्राप्त होता है। इसके विपरीत जो संवर पदार्थसे रहित है वह नरसमूह, देवसमूह, नारक

और तिर्यञ्च जीवोंके समूहरूप लोकमें निरन्तर भ्रमण करता रहता है ॥३००॥

हे यतिवर ! यदि तुम्हारा चित्त संसारसागरके पार करनेमें निरन्तर उत्सुक रहता है तो तुम शीघ्र ही अपनी आत्मारूपी जहाजको सुसज्जित कर लो—आस्रव रूप छिद्रोंसे रहित कर लो ॥३०१॥

हे साधो ! यदि तुम्हारा मन मुक्तिरूपी अङ्गनाका समागम प्राप्त करनेके लिये उत्कण्ठित है तो तुम शीघ्र ही इस आत्माको सब ओरसे संवररूपी रत्नसे अलंकृत करो ॥३०२॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिन्तामणिमें संवरतत्त्वका वर्णन करनेवाला अष्टम मयूख समाप्त हुआ ।

नवमो मयूखः

अब नवम मयूखके प्रारम्भमें मंगलाचरण और निर्जरातत्त्वका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

आर्या

अर्हन्तं भगवन्तं नत्वा नम्रेण चेतसा सततम् ।
तत्त्वं गदामि किञ्चिन्मत्यनुसारेण निर्जरासंज्ञम् ॥१॥

अर्थ—मैं विनयपूर्ण हृदयसे अर्हन्त भगवान्को नमस्कार कर यथा-बुद्धि निर्जरातत्त्वका कुछ कथन करता हूँ ॥१॥

अनुष्टुप्

तपसा निर्जरा चेति समुक्तं पूर्वसूरिभिः ।
तपसामेव तद्व्याख्या क्रियतेऽस्मिन्मयूखके ॥२॥
उपवासोऽवमौदर्यं वृत्तिसंख्यानमेव च ।
कायक्लेशो रसत्यागो विविक्तासनकं तथा ॥३॥
एतद्बाह्यतपःषट्कं कर्माष्टकनिवारकम् ।
मुक्तिकान्तापतित्वाय सेव्यते मुनिभिश्चिरम् ॥४॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंने 'तपसा निर्जरा च' अर्थात् तपसे निर्जरा और संवर दोनों होते हैं, ऐसा कहा है इसलिये इस मयूखमें तपोंकी ही व्याख्या की जाती है ॥२॥ उपवास, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश, रसपरित्याग और विविक्तशय्यासन यह छह बाह्य तप हैं। ये तप आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले हैं इसलिये मुनियों द्वारा मुक्तिरूपी कान्ताका स्वामित्व प्राप्त करनेके अर्थ चिरकाल तक इनकी उपासना की जाती है ॥४॥

आगे क्रमसे इन छह बाह्य तपोंका लक्षण कहते हैं—

शरीरमोहनाशाय कषायाग्निशमाय च ।
आहारविषयत्याग उपवासो निगद्यते ॥५॥

संयमाय च सन्तोषक्षमस्वाध्यायसिद्धये ।
अल्पभोजनकारित्वमवमोदर्यमुच्यते ॥६॥
आशावह्निनिवृत्त्यर्थं भिक्षार्थं भ्रमतो यतेः ।
रथ्यासौधादिसंख्यानं वृत्तिसंख्यानमुच्यते ॥७॥
देहप्रीतिविनाशाय चेतःशोधनहेतवे ।
आतापनादियोगेन कायक्लेशविधायनम् ॥८॥
कायक्लेशाभिधं बोध्यं तपः कर्मनिवारकम् ।
अक्षदर्पप्रहाराय निद्राया विजयाय च ॥९॥
सुखस्वाध्यायसिद्ध्यर्थं मदनव्याधिहानये ।
सर्पिरादिरसत्यागो रसत्यागः प्रकीर्त्यते ॥१०॥
मृगस्त्रीषण्ढशून्येषु शून्यागारादिधामसु ।
स्वाध्यायध्यानसंसिद्ध्यै ब्रह्मचारित्ववृद्धये ॥११॥
शय्यासनादिकं ज्ञेयं विविक्तासनकं तपः ।
बाह्यद्रव्याभ्यपेक्षत्वात्परप्रत्यक्षतस्तथा ॥१२॥
बाहीकत्वं प्रबोद्धव्यमेतेषां तपसामथो ।
अन्तरङ्गाणि गद्यन्ते सत्तपांसि समासतः ॥१३॥

अर्थ—शरीर सम्बन्धी मोहका नाश करने और कषायरूपी अग्निको शान्त करनेके लिये जो आहार और विषयोंका त्याग किया जाता है वह उपवास कहलाता है ।।५।। संयमके लिये और सन्तोष, शान्ति तथा स्वाध्यायकी सिद्धिके लिये अल्पभोजन करना अवमोदर्य तप कहा जाता है । भावार्थ—इसके कबल चान्द्रायण आदि भेद हैं ।।६।। आशारूपी अग्निकी निवृत्तिके लिये भिक्षार्थ भ्रमण करनेवाले साधुका गली तथा महल आदिकी संख्याका निर्धारित करना वृत्तिपरिसंख्यान तप कहा जाता है ।।७।। शरीरकी प्रीतिका नाश करने तथा चित्तकी शुद्धिके निमित आतापनादि योगके द्वारा कायक्लेश करना कायक्लेश नामका तप है । यह तप कर्मोंका निवारण करनेवाला है । इन्द्रियोंका दर्प नष्ट करने, निद्राको जीतने, सुखपूर्वक स्वाध्यायकी सिद्धि तथा कामबाधाको नष्ट करनेके लिये घी आदि रसोंका जो त्याग होता है वह रसपरित्याग नामका तप कहा जाता

है ॥८-१०॥ हरिण, स्त्री, पशु और नपुंसकोंसे रहित शून्यागार आदि स्थानोंमें स्वाध्याय तथा ध्यानकी सिद्धिके लिये अथवा ब्रह्मचर्यकी वृद्धिके लिये शयनासन करना विविक्तशय्यासन तप कहलाता है। ये सब तप बाह्यद्रव्योंकी अपेक्षा रखते हैं तथा दूसरोंको दिखाई देते हैं इस लिये बाह्य तप कहे जाते हैं। अब आगे संक्षेपसे अन्तरङ्ग तप कहे जाते हैं ॥११-१३॥

आगे अन्तरङ्ग तपोंका वर्णन करते हैं—

आर्या

प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्त्यं प्रचक्ष्यते सद्भिः।
स्वाध्यायो व्युत्सर्गो ध्यानञ्चान्तस्तपःषट्कम् ॥१४॥

अर्थ—१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग और ६ ध्यान ये छह अन्तरङ्ग तप हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है— ॥१४॥

प्रायश्चित्त तप—

अनुष्टुप्

परिहारः प्रमादेन जाताया दोषसन्ततेः।
विशुद्धचेतसा साधोः प्रायश्चित्तं समुच्यते ॥१५॥
आलोचनादिभेदेन तन्नवधा विभिद्यते।
आकम्पितादिभिस्तत्र दशदोषैर्विवर्जितम् ॥१६॥
गुरोश्चरणयोरग्रे निजदोषनिवेदनम्।
आलोचनं तदुद्गीतमात्मशुद्धिविधायकम् ॥१७॥
मिथ्यासुदुष्कृताद्युक्तेरभिव्यक्तप्रतिक्रियम्।
तपः समुच्यते सद्भिः प्रतिक्रमणसंज्ञकम् ॥१८॥
तदुभयं तदाख्यातं संसर्गे सति शोधनात्।
सुसंसक्तान्नपानोपकरणादिविभाजनम् ॥१९॥
आत्मशुद्धिकरः पुंसां विवेकोऽयं मतः सताम्।
कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गो हि समुच्यते ॥२०॥
संलक्ष्यते तपः सद्भिरुपवासादिलक्षणम्।
दिनसप्ताहमासार्धमासादीनां निगद्यते ॥२१॥

प्रव्रज्याहापनं छेदः कर्मनिग्रहकारकः ।
पक्षमासादिभेदेन सङ्घतो दूरवर्जनम् ॥२२॥

आस्रवत्कर्मसंरोधी परिहारोऽभिधीयते ।
दीक्षाया या पुनः प्राप्तिः सा ह्युपस्थापना मता ॥२३॥

अर्थ—प्रमादवश उत्पन्न हुए दोषसमूहका निर्मल हृदयसे परिहार करना प्रायश्चित्त कहलाता है । यह प्रायश्चित्त आलोचना आदिके भेदसे नौ प्रकारका होता है । उनमें आकम्पित आदि दश दोषोंसे रहित होकर गुरुके चरणोंके आगे अपने दोषको प्रकट करना आलोचन नामका प्रायश्चित्त कहा गया है । यह प्रायश्चित्त आत्मशुद्धिको करनेवाला है । भावार्थ—आलोचनाके दश दोष इस प्रकार हैं—१ उपकरणोंके देनेपर थोड़ा प्रायश्चित्त देते हैं ऐसा विचार कर पहले उपकरण देना पश्चात् दोषोंको प्रकट करना यह आलोचनाका पहला दोष है । २ मैं प्रकृतिसे दुर्बल हूँ, बीमार हूँ, उपवासादि करनेके लिये समर्थ नहीं हूँ, यदि कोई लघु प्रायश्चित्त देवें तो दोषोंको प्रकट करूँ इस अभिप्रायसे दोष प्रकट करना दूसरा दोष है । ३ जो दोष दूसरोंके देखनेमें नहीं आये उन्हें छिपा कर दूसरोंके द्वारा देखे हुए दोषोंको प्रकट करना तीसरा दोष है । ४ आलस्य या प्रमाद वश सूक्ष्म दोषोंपर दृष्टि न देकर स्थूल दोषोंको कहना चौथा दोष है । ५ कठिन प्रायश्चित्तके भयसे बड़े दोषोंको न कह कर लघु दोषोंको कहना पाँचवाँ दोष है । ६ व्रतमें ऐसा अतिचार होनेपर क्या प्रायश्चित्त होता है इस प्रकार अपने आपको अपराधी घोषित किये बिना पूछ कर चुपचाप प्रायश्चित्त लेना छठवाँ दोष है । ७ पाक्षिक, चातुर्मासिक अथवा सांवत्सरिक प्रतिक्रमणके समय जब सब साधु प्रतिक्रमण कर रहे हों और उसका कोलाहल हो रहा है उसी—कोलाहलमें अपना भी दोष कहना सातवाँ दोष है । ८ एक गुरुके द्वारा प्रायश्चित्त बताये जाने पर दूसरे गुरुसे पूछना कि क्या यह प्रायश्चित्त ठीक है आठवाँ दोष है । ९ जो गुरु अपने ही समान दोष कर रहे हैं उनसे प्रायश्चित्त लेना नौवाँ दोष है । और १० इस साधुके समान ही मेरा अपराध है इसलिये जो प्रायश्चित्त इसे दिया गया है वही मैं लिये लेता हूँ ऐसा विचार कर अपना दोष प्रकट नहीं करना दशवाँ दोष है । आलोचनाके ये दोष १ आकम्पित, २ अनुमानित, ३ दृष्ट, ४ बादर, ५ सूक्ष्म, ६ छन्न, ७ शब्दा-

कुलित, ८ बहुजन, ९ अव्यक्त और १० तत्सेवी इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं।[1] अपने दोषको अपने हृदयमें चिरकाल तक न रखकर बालकके समान निश्छल भावसे जो गुरुके समक्ष प्रकट कर देता है उसके ये दोष नहीं रहते और न भविष्यमें अन्य दोष हो पाते हैं। साधुका आलोचन एकान्तमें साधु और आचार्य इन दोके सन्निधानमें हो सकता है परन्तु आर्यिकाका आलोचन खुले स्थानमें तीन व्यक्तियोंके सन्निधानमें होता है। लज्जा या परतिरस्कारके कारण जो साधु अपना अपराध गुरुके सामने प्रकट कर उसकी शुद्धि नहीं करता है वह आय-व्ययका लेखा नहीं रखने वाले कर्जदारके समान दुखी होता है। आलोचनासे रहित बड़ा भारी तप भी इष्ट फलको नहीं देता है। आलोचना करके भी जो गुरुके द्वारा दिये प्रायश्चित्तको नहीं करता हे उसका तप असुरक्षित खेतीके समान महाफलदायक नहीं होता है और जो विधिपूर्वक आलोचना करता है उसका चित्त परिमार्जित दर्पणके समान सुशोभित रहता है ॥१५-१७॥ 'मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु' इत्यादि शब्दोंके उच्चारणपूर्वक जो स्वयं अपने अपराधके प्रति ग्लानिका भाव प्रकट किया जाता है वह प्रतिक्रमण कहलाता है ॥१८॥ जो आलोचना और प्रतिक्रमण—दोनोंके द्वारा अपराधकी शुद्धि की जाती है उसे तदुभय नामका प्रायश्चित्त कहते हैं। भावार्थ—कुछ अपराध आलोचना मात्रसे शुद्ध हो जाते हैं, कुछ प्रतिक्रमण मात्रसे शुद्ध हो जाते हैं और कुछ ऐसे अपराध होते हैं जिनका पहले प्रतिक्रमण होता है और पश्चात् गुरुका संयोग मिलनेपर आलोचना की जाती है। जिसमें प्रतिक्रमण और आलोचना—दोनों किये जाते हैं वह तदुभय कहलाता हे ॥१९॥ संसक्त अन्न पान तथा उपकरणादिका विभाजन करना विवेक नामका प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त आत्मशुद्धिको करनेवाला है। भावार्थ—अपराधी साधुको इस प्रकारका प्रायश्चित्त देना कि तुम अन्यसाधुओंके साथ आहार ग्रहण नहीं कर सकते और अन्य साधुओंके पीछी कमण्डलु आदि उपकरणोंका उपयोग नहीं कर सकते, यह विवेक नामका प्रायश्चित्त है। आचार्य, यह प्रायश्चित्त समयको अवधि निश्चित कर देते हैं। कायोत्सर्गादिका करना व्युत्सर्ग नामका प्रायश्चित्त है। इस प्रायश्चित्तमें आचार्य ऐसी आज्ञा देते हैं कि अपराधी साधु अमुक स्थानपर इतने समय तक

---

१. आंकपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाउलियं बहुजण अव्वत्त तत्सेवी ॥
इति दश दोषाः।

कायोत्सर्ग करे—उपसर्गादिके आने पर भी निश्चित समयके भीतर उस स्थानका परित्याग न करे ॥२०॥ उपवास आदि करनेका प्रायश्चित देना तप नामका प्रायश्चित्त है। इस प्रायश्चित्तमें गुरु अपराधकी हीनाधिकता देख कर आदेश देते हैं कि इतने दिनके भीतर इतने उपवास करो अथवा इतने समयके लिये अमुक रसोंका परित्याग करो। एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष अथवा एक मास आदिकी दीक्षा कम कर देना छेद नामका प्रायश्चित्त है। भावार्थ—साधुओंमें यह व्यवस्था है कि नवीन दीक्षित साधु पुराने दीक्षित साधुको नमस्कार करते हैं। यदि किसी पुराने दीक्षित साधुकी दीक्षा कम कर दी जाती है तो उसे नवदीक्षित साधुको नमस्कार करना पड़ता है। यह प्रायश्चित्त कर्मोंका निग्रह करनेवाला है। एक पक्ष अथवा एक मास आदिके लिये संघसे अपराधी साधुको पृथक् कर देना यह आते हुए कर्मोंको रोकनेवाला परिहार नामका प्रायश्चित्त है। तथा पुरानी दीक्षाको समाप्त कर पुनः नवीन दीक्षा देना यह उपस्थापना नामका प्रायश्चित्त है। संघमें जिस साधुके लिये यह प्रायश्चित्त दिया जाता है वह नवदीक्षित कहलाता है तथा उसे पूर्व दीक्षित सब साधुओंको नमस्कार करना पड़ता है ॥२१-२३॥

विनयतप—

पूज्येषु भक्तिसम्पत्तिर्विनयः स चतुर्विधः।
ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारादिप्रभेदतः ॥२४॥
सहितं बहुमानेन मोक्षार्थं ज्ञानसश्रयः।
उच्यते ज्ञानविनयः केवलज्ञानकारणम् ॥२५॥
जीवादितत्त्वजातस्य शङ्काकाङ्क्षादिवर्जितम्।
श्रद्धानं विनयः प्रोक्तो दर्शनस्य जिनेन्दुना ॥२६॥
चारित्रे यत्सभक्तित्वं चारित्रविनयः स हि।
उपचारो द्विधा बोध्यः प्रत्यक्षेतरभेदतः ॥२७॥
प्रत्यक्षे तत्र गुर्वादावागते निजविष्टरात्।
समुत्थायाभिगमनं प्राञ्जलीनां च बन्धनम् ॥२८॥
ईषत्स्मेरकपोलत्वमहोभाग्यनिवेदनम्।
गतानुगमनं किञ्च शिरसा नमनादिकम् ॥२९॥

आहोपचारविनयं पूर्वाचार्यकदम्बकम् ।
परोक्षेऽपि तनूवाङ्मनोभिरञ्जलिबन्धनम् ॥३०॥
गुणसंकीर्तनं नित्यं तमाहुः पूर्वसूरयः ।
इत्थं विनयाभिधानं तपो ज्ञेयं मुमुक्षुभिः ॥३१॥

अर्थ—पूज्य पुरुषोंमें भक्तिका होना विनय है। वह विनय ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचारके भेदसे चार प्रकारका है ॥२४॥ मोक्ष प्राप्तिके लिये बहुत सन्मानके साथ ज्ञानका संचय करना ज्ञानविनय कहलाता है। यह ज्ञानविनय केवलज्ञानका कारण है ॥२५॥ जीवादि तत्त्वोंके समूहका शङ्का, कांक्षा आदि दोषोंसे रहित श्रद्धान करना जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा दर्शनविनय कहा गया है ॥२६॥ चारित्रमें भक्तिसहित होना चारित्रविनय है। प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे उपचारविनयके दो भेद जानना चाहिये ॥२७॥ गुरु आदिके आनेपर अपने आसनसे खड़े होकर उनके सामने जाना, हाथ जोड़ना, मन्द हास्यसे कपोलोंका विकसित होना, मेरा अहोभाग्य है जो आपके दर्शन हुए, जब वे जाने लगें तब उनके पीछे चलकर उन्हें पहुँचा देना, और शिरसे नमस्कार आदि करना, इस सबको पूर्वाचार्यका समूह उपचारविनय कहते हैं। गुरुजनोंके परोक्षमें भी मन, वचन, कायसे उन्हें हाथ जोड़ना, तथा निरन्तर उनके गुणोंकी प्रशंसा करना, इन सबको पूर्वाचार्य परोक्षविनय कहते हैं। इस प्रकार मुमुक्षु जनोंके द्वारा विनय नामका तप जाननेके योग्य है ॥२८-३१॥

वैयावृत्यतप—

अथ वच्मि तपःश्रेष्ठं वैयावृत्यं सुखाकरम् ।
वैयावृत्यं तपो ज्ञेयं सेवनीयस्य सेवनम् ॥३२॥
अथाचार्य उपाध्यायस्तपस्वी शैक्ष्यसंज्ञकः ।
ग्लानो गणः कुलं सङ्घः साधुः किञ्च मनोज्ञकः ॥३३॥
दशानामिति साधूनां सेवनाद् दशधा स्थितम् ।
वैयावृत्यमपि ज्ञेयं तपो निर्जरकारणम् ॥३४॥
आचरन्ति व्रतं यस्मादाचार्यः स च साधवः ।
शास्त्राण्युपेत्य यस्माच्चाधीयते स हि पाठकः ॥३५॥

उपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी तपनप्रभः ।
शिक्षाशीलो मुनिः शैक्ष्यो ग्लानः क्लिष्टकलेवरः ॥३६॥
उच्यते जिनचन्द्रेण गणः स्थविरसन्ततिः ।
दीक्षकाचार्यशिष्याणां सन्ततिः कुलमुच्यते ॥३७॥
चातुर्वर्ण्यमुनिव्रातः सङ्घः साधुभिरुच्यते ।
चिरप्रव्रजितो भिक्षुः साधुसञ्ज्ञोऽभिधीयते ॥३८॥
कल्याणदर्शनोदक्षो मनोज्ञो लोकसम्मतः ।

अर्थ—अब तपोंमें श्रेष्ठ तथा सुखकी खान स्वरूप वैयावृत्त्य तपका कथन करता हूँ । सेवा करने योग्य साधुकी सेवा करना वैयावृत्त्य तप जानना चाहिये ॥३२॥ आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकारके मुनियोंकी सेवा करनेसे वैयावृत्त्य तप दश प्रकारका जानना चाहिये । यह तप निर्जराका कारण है ॥३३-३४॥ जिनसे साधु व्रतोंका आचरण करते हैं वे आचार्य हैं । जिनके पास आकर शास्त्र पढ़ते हैं वे उपाध्याय हैं ॥३५॥ जो उपवासादि करते हैं वे सूर्यके समान देदीप्यमान तपस्वी कहलाते हैं। जो शिक्षा ग्रहण करते हैं वे शैक्ष्य कहलाते हैं । जिनका शरीर रोगादिके क्लेशसे सहित है वे ग्लान हैं ॥३६॥ वृद्ध मुनियोंका समूह जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा गण कहा जाता है । दीक्षा देनेवाले आचार्योंकी जो सन्तति है वह कुल कहलाती है । ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोंका समूह संघ कहा जाता है । चिरकालके दीक्षित मुनियोंका संघ साधु कहलाता है और कल्याणके दिखानेमें अत्यन्त समर्थ लोकप्रिय साधु मनोज्ञ कहे जाते हैं । इन दश प्रकारके मुनियोंकी वैयावृत्ति करना दश प्रकारका वैयावृत्त्य तप है ॥३७-३८॥

स्वाध्यायतप—

सुज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्याय इष्यते ॥३९॥
वाचनाप्रच्छनाम्नायानुप्रेक्षाधर्मदेशनैः ।
पञ्चधा भिद्यते सोऽयं स्वाध्यायः साधुसम्मतः ॥४०॥
अथानवद्यग्रन्थार्थोभयदानं हि वाचना ।

संशयस्य विनाशाय दार्ढ्यार्थं निश्चितस्य च ॥४१॥
यः परान् प्रति संप्रश्नः प्रच्छना सा प्रचक्ष्यते।
अर्थस्य मनसाभ्यासो ज्ञातस्यार्थो समुच्यते ॥४२॥
अनुप्रेक्षा, घोषशुद्धमाम्नायः परिवर्तनम्।
वीतरागकथादीनामनुष्ठानं च संसदि ॥४३॥
भाषितं जिनचन्द्रेण हितं धर्मोपदेशनम्।

अर्थ—सम्यग्ज्ञानकी भावनामे आलस्यका त्याग करना स्वाध्याय माना जाता है ॥३९॥ साधुजनोंको अतिशय इष्ट यह स्वाध्याय वाचना, प्रच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मोपदेशके द्वारा पांच प्रकारका है ॥४०॥ निर्दोष ग्रन्थ, अर्थ अथवा दोनोंका दान करना अर्थात् पढ़कर दूसरोंको सुनाना वाचना नामका स्वाध्याय है। संशयका नाश करने और निश्चित वस्तुकी दृढ़ताके लिये दूसरोंके प्रति जो प्रश्न किया जाता है वह प्रच्छना स्वाध्याय कहलाता है। जाने हुए पदार्थका मनसे अभ्यास करना अर्थात् बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। उच्चारणकी शुद्धतापूर्वक आवृत्ति करना आम्नाय नामका स्वाध्याय है और सभामें वीतरागकथा आदिका अनुष्ठान करना अर्थात् उपदेश देना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय् श्रीजिनेन्द्रदेवने कहा है। यह धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय सर्वजनहितकारी है ॥४१-४३॥

व्युत्सर्गतप—

अथात्मात्मीयसंकल्पत्यागो व्युत्सर्ग उच्यते ॥४४॥
बाह्याभ्यन्तरसङ्गानां त्यागाद् द्वेधा स इष्यते।
ध्यानं चाग्रे प्रवक्ष्यामि सभेदं च सलक्षणम् ॥४५॥

अर्थ—यह मैं हूँ और यह मेरा है, इस प्रकारके संकल्पका त्याग करना व्युत्सर्ग कहलाता है ॥४४॥ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहोंके त्यागसे वह व्युत्सर्ग तप दो प्रकारका माना जाता है। आगे भेद और लक्षण सहित ध्यानका कथन करूँगा ॥४५॥

आगे ध्यानतपका लक्षण कहते हैं—

चेतोविक्षेपसंत्यागो ध्यानं यतिभिरुच्यते।
आर्त्तरौद्रादिभेदेन तच्चतुर्धा विभिद्यते ॥४६॥

आद्यत्रयेण युक्तस्य षट्संहननसंहते ।
आन्तर्मुहूर्तकादेव तद्भवेत् स्थिरचिन्तनम् ॥४७॥

अर्थ—चित्तकी चञ्चलताका त्याग करना मुनियोंके द्वारा ध्यान कहा जाता है। वह ध्यान आर्त्त तथा रौद्रादिके भेदसे चार प्रकारका होता है और छह संहननोंमेंसे आदिके तीन संहननोंसे युक्त जीवके ही अन्तर्मुहूर्त तक होता है ॥४६-४७॥

आर्तध्यान—

ऋते जातं भवेदार्त्तं ध्यानं संसारकारणम् ।
तत्रानिष्टस्य संयोगे तद्वियोगाय चिन्तनम् ॥४८॥
आर्त्तमाद्यं प्रविज्ञेयं निरन्ताशर्मकारणम् ।
स्वपुत्रदारवित्तादेर्वियोगे सत्यरुन्तुदे ॥४९॥
तद्योगाय मनःक्षेपो द्वितीयं ह्यार्त्तमुच्यते ।
वातपित्तादिकोपेन जाते नैकरुजाचये ॥५०॥
तदपायः कथं मे स्यादित्यजस्रं प्रचिन्तनम् ।
उक्तं तृतीयमार्त्तं तज्जिननक्तमधीशिना ॥५१॥
सततं भोगकाङ्क्षाभिर्लम्पटस्य नरस्य या ।
अप्राप्तविषयप्राप्तिं प्रति चित्तस्य व्यापृतिः ॥५२॥
तन्निदानाभिधं ज्ञेयमार्तध्यानं तुरीयकम् ।
अवृत्तदेशवृत्तानामार्त्तध्यानं चतुर्विधम् ॥५३॥
भवेत्प्रमत्तवृत्तानामन्यदार्त्तत्रयं पुनः ।
निदानवर्जितं ज्ञेयं जातुचिन्न तु सर्वदा ॥५४॥

अर्थ—ऋत अर्थात् दुःखमें जो ध्यान होता है वह संसारका कारण आर्तध्यान कहलाता है। वह आर्तध्यान अनिष्टसंयोगज, इष्टवियोगज, वेदनाज और निदानके भेदसे चार प्रकारका है। उनमेंसे अनिष्टका संयोग होनेपर उसे दूर करनेके लिये बार-बार चिन्तन करना अनन्त दुःखका कारणभूत पहला आर्तध्यान जानना चाहिये। अपने पुत्र, स्त्री तथा धन आदिका मर्मघाती वियोग होनेपर उनके संयोगके लिये मनका विक्षेप होना दूसरा आर्तध्यान कहलाता है। वात, पित्त आदिके प्रकोपसे

अनेक रोगोंका समूह उत्पन्न होनेपर 'मेरे इनका वियोग किस प्रकार हो सकता है' इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना तीसरा आर्तध्यान जिनेन्द्र-चन्द्रके द्वारा कहा गया है ॥४८-५१॥ निरन्तर भोगोंकी आकांक्षाके द्वारा लम्पटका अप्राप्त विषयसामग्रीको प्राप्त करनेके लिये जो मनका व्यापार होता है वह निदान नामका चौथा आर्तध्यान जानने योग्य है ॥५२॥ अविरत अर्थात् पहलेसे चतुर्थ गुणस्थान तक और देशविरत नामक पञ्चम गुणस्थानमें चारों प्रकारका आर्तध्यान होता है परन्तु प्रमत्त विरत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके निदानको छोड़ कर तीन आर्तध्यान होते हैं। वे भी कभी-कभी होते हैं और सर्वदा नहीं ॥५३-५४॥

रौद्रध्यान—

रुद्रस्य कर्म भावो वा ध्यानं रौद्रं समुच्यते ।
तदेतद्रुद्रदुष्कर्मसन्ततिश्वभ्रकारणम् ॥५५॥

उपजाति

हिंसानृतस्तेयपरिग्रहाणां
संरक्षणेभ्यश्चलचित्तवृत्तेः ।
चतुर्विधत्वात्किल भिद्यते तद्
ध्यानं पुनश्चापि चतुर्विधानैः ॥५६॥

आर्या

अविरतदेशव्रतयोर्ध्यानं रौद्रं समुच्यते मुनिभिः ।
इदमस्ति पुनर्ध्यानं नरकायुःकारणं नियतम् ॥५७॥

अर्थ—रुद्र अर्थात् क्रूर मनुष्यका जो कार्य अथवा भाव है वह रौद्रध्यान कहलाता है। यह रौद्रध्यान दुष्ट कर्मोंकी सन्ततिका बन्ध करनेवाला है तथा नरकका कारण है ॥५५॥ हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहके संरक्षणसे चञ्चल चित्तवृत्ति चार प्रकारकी होती है और उस चञ्चल चित्तवृत्तिके कारण रौद्रध्यान भी चार प्रकारका होता है ॥५६॥ यह ध्यान मुनियोंके द्वारा अविरत अर्थात् पहलेसे चतुर्थ तक चार गुणस्थानों और देशव्रत नामक पञ्चम गुणस्थानमें कहा गया है यह ध्यान निश्चित ही नरकायुका कारण है ॥५७॥

धर्म्यध्यान—

धर्मादनुज्झितं ध्यानं धर्म्यं कर्मनिरोधनम् ।
अथाज्ञापायसंस्थानविपाकविचया इति ॥५८॥
चतुर्धा भिद्यते ध्यानं धर्म्यं स्वर्गादिकारणम् ।
उपदेष्टृजनाभावात्तीव्रकर्मोदयात्पुनः ॥५९॥
सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां मन्दमत्युदयात्तथा ।
अभावे हेतुदृष्टान्तप्रत्यक्षादेः समन्ततः ॥६०॥
सर्वज्ञभाषितं ग्रन्थं प्रमाणीकृत्य चेतसा ।
इदमेवेत्थमेवात्र वस्तु नान्यन्न चान्यथा ॥६१॥
न भवन्ति मृषावादतत्परा वीतरागकाः ।
इत्याद्येन विचारेण गभीरार्थावधारणम् ॥६२॥
तत्राज्ञाविचयो ज्ञेयं ध्यानं कर्मनिबर्हणम् ।

अर्थ—धर्मसे सहित ध्यान धर्म्यध्यान कहलाता है। यह ध्यान कर्मोंके आस्रवको रोकने वाला है। स्वर्गादिका कारण जो धर्म्यध्यान है वह आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचयके भेदसे चार प्रकारका होता है। उपदेशक जनोंका अभाव होनेसे, तीव्रकर्मोंका उदय होनेसे, पदार्थोंके सूक्ष्म होनेसे, बुद्धिके मन्द होनेसे तथा सब ओर हेतु दृष्टान्त तथा प्रत्यक्षादि—प्रमाणोंका अभाव होनेसे सर्वज्ञभाषित ग्रन्थको हृदयसे प्रमाण मानकर इस जगत्में वस्तु यही है ऐसी ही है अन्य नहीं है तथा अन्य प्रकार नहीं है। वीतराग देव असत्य-कथनमें तत्पर नहीं होते हैं इत्यादि विचारके द्वारा गम्भीर पदार्थोंका निश्चय करना आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान है। यह ध्यान कर्मोंका निराकरण करने वाला है ॥५८-६२॥

अपायविचयधर्म्यध्यान—

मिथ्यात्वोदयसंतप्ता जात्यन्धा यथा जनाः ॥६३॥
मार्गात्सर्वज्ञनिर्दिष्टादपवर्गगृहावधेः ।
सम्यङ्मार्गापरिज्ञानादपयान्त्येव दूरतः ॥६४॥
इति सन्मार्गतोऽपायचिन्तनं स्थिरचेतसा ।

यद्वा संसृतिमध्यस्था एते देहधराः कथम् ॥६५॥
अपेयुर्नाम मिथ्यात्वमार्गादित्येव चिन्तनम् ।
अपायविचयो ध्यानं कथ्यते हितसाधनम् ॥६६॥

अर्थ—मिथ्यात्वके उदयसे संतप्त प्राणी, जन्मान्ध मनुष्योंके समान मोक्षमहल तकका जो मार्ग सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा बतलाया गया है उससे मार्गका ठीक परिज्ञान न होनेके कारण दूर भटक रहे हैं इस प्रकार स्थिर चित्तसे सन्मार्गसे दूर हटनेका विचार करना अथवा संसारके मध्यमें स्थित ये प्राणी मिथ्यात्वके मार्गसे किस प्रकार दूर हट सकते हैं, ऐसा चिन्तन करना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। यह ध्यान स्वपर-हितका कारण है ॥६३-६६॥

विपाकविचयधर्म्यध्यान—

ज्ञानावृत्यादिभेदानां कर्मणामुदयं प्रति ।
चेतसः प्रणिधानं हि विपाकविचयो मतः ॥६७॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयके प्रति चित्तका लगाना अर्थात् किस कर्मके उदयसे क्या फल प्राप्त होता है ऐसा विचार करना विपाक-विचय नामका धर्म्यध्यान है ॥६७॥

संस्थानविचयधर्म्यध्यान—

लोकाकारस्वभावादेश्चेतसा चिन्तनं तथा ।
संस्थानविचयो ध्यानं ज्ञेयं सर्वज्ञभाषितम् ॥६८॥
तच्चासंयतसदृष्टिदेशव्रतविशोभिनाम् ।
प्रमत्तेतरसाधूनां भणितं परमागमे ॥६९॥

अर्थ—लोकके आकार तथा स्वभाव आदिका चित्तसे चिन्तन करना संस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा कहा गया है। यह धर्म्यध्यान अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्त विरत मुनियोंके होता है ॥६८-६९॥

शुक्लध्यान—

शुक्लध्यानमथो वक्ष्ये शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
जीर्णकर्ममहासैन्यं मुक्तिकान्तामनोरमम् ॥७०॥

तदेतच्छुक्लं ध्यानं चतुर्धा भिद्यतेतराम् ।
पृथक्त्वेन युतं प्रोक्तं वितर्कं प्रथमं ततः ॥७१॥
एकत्वसंयुतं शुक्लं द्वितीयध्यानमीप्सितम् ।
सूक्ष्मक्रियाप्रतीपातं शुक्लध्यानतृतीयकम् ॥७२॥
गतक्रियानिवर्त्यैतत्तुरीयञ्च तथा मतम् ।
तत्राद्ये धवले ध्याने जायेते पूर्ववेदिनः ॥७३॥
परे केवलिनः प्रोक्ते क्षीणज्ञानावृतेस्तु ते ।
त्रियोगिनां भवेदाद्यं द्वितीयञ्चैकयोगिनः ॥७४॥
तृतीयं काययोगस्य चतुर्थं स्यादयोगिनः ।
एकाश्रयं वितर्केण वीचारेण च संयुतम् ॥७५॥
आद्यं हि भवति ध्यानं शरदब्दमनोहरम् ।
अवीचारं द्वितीयं तु सवितर्कं समिष्यते ॥७६॥
श्रुतं वितर्को विज्ञेयस्तर्कवैशिष्ट्यशोभितः ।
अर्थव्यञ्जनयोगानां संक्रान्तिः परिवर्तनम् ॥७७॥
वीचारो मुनिभिः प्रोक्तः श्रुतज्ञानविशोभिभिः ।
इत्थं संक्षेपतः प्रोक्तं सत्तपो ध्यानसंज्ञितम् ॥७८॥

अर्थ—आगे उस शुक्लध्यानको कहूँगा जो शुद्ध स्फटिकके समान है, कर्मरूपी बड़ी भारी सेनाको नष्ट करनेवाला है, और मुक्तिरूपी कान्ताके मनको हरण करनेवाला है ॥७०॥ वह शुक्लध्यान चार प्रकारका है। पहला पृथक्त्ववितर्कवीचार है, दूसरा एकत्ववितर्क है, तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति है और चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति माना गया है। इनमें आदिके दो ध्यान पूर्वविद्—पूर्वोंके ज्ञाता मुनिके होते हैं और आगेके दो ज्ञानावरणका क्षय करनेवाले केवली भगवान्‌के कहे गये हैं। पहला शुक्लध्यान तीनों योगोंके धारक मुनिके होता है, दूसरा शुक्लध्यान तीन योगोंमेंसे किसी एक योगके धारक मुनिके होता है। तीसरा शुक्लध्यान काययोगके धारक केवलीके होता है और चौथा शुक्लध्यान योगरहित मुनि अर्थात् चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली भगवान्‌के होता है। पहला शुक्लध्यान आगमके किसी शब्द या अर्थका आश्रय लेकर उत्पन्न होता है तथा

उसमें शब्द, अर्थ और योगका परिवर्तन होता रहता है। दूसरा भेद भी आगमके आश्रयसे होता है परन्तु उसमें वीचार—शब्द, अर्थ और योगका परिवर्तन नहीं होता। तर्ककी विशिष्टतासे सुशोभित मुनिका जो श्रुतज्ञान है—शास्त्रज्ञान है उसे वितर्क कहते हैं तथा शब्द, अर्थ और योगोंकी जो संक्रान्ति—परिवर्त्तन है उसे श्रुतज्ञानसे शोभायमान मुनियोंने वीचार कहा है। इस प्रकार संक्षेपसे ध्यान नामक समीचीन तपका कथन किया।

विशेषार्थ—शुक्लध्यानका पहला भेद अष्टम गुणस्थानसे शुरू होकर एकादश गुणस्थान तक चलता है। इस ध्यानके द्वारा दशम गुणस्थानके अन्त तक मोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय होता है। उपशमश्रेणी वालेके उपशम होता है और क्षपक श्रेणीवालेके क्षय होता है। क्षपकश्रेणीवाला दशम गुणस्थानके अन्तमें मोहकर्मकी क्षपणाको पूर्ण कर बारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है। इस पहले भेदमें दशम गुणस्थान तक चारित्रमोहका उदय रहनेसे अबुद्धिपूर्वक इच्छा रहती है और उसके कारण शब्द, अर्थ तथा योगोंमें परिवर्तन होता है। पहला भेद तीनों योगोंके आलम्बनसे शुरू होता है अतः बीच बीचमें उन योगों तथा ध्यानके विषयभूत शब्द, अर्थ, द्रव्य, गुण अथवा पर्यायमें परिवर्तन होता है। दूसरा भेद बारहवें गुणस्थानमें प्रकट होता है। यहाँ इच्छाका सर्वथा अभाव होता है अतः जिस योगके द्वारा ध्यान शुरू किया जाता है उसीसे अन्तर्मुहूर्त तक चलता है उसमें परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार जिस शब्द, अर्थ, द्रव्य, गुण अथवा पर्यायको ध्येय बनाकर ध्यानको शुरू करता है उसीपर अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रहता है। इस ध्यानके फलस्वरूप ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मों तथा नामकर्मकी तेरह प्रकृतियोंका क्षय होता है। तीसरा भेद तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें जब मनोयोग, वचनयोग तथा स्थूल काययोग नष्ट होकर मात्र सूक्ष्मकाय योग रह जाता है तब प्रकट होता है। इसके द्वारा यद्यपि किसी कर्मप्रकृतिका क्षय नहीं होता तथापि गुणश्रेणी निर्जरा सबसे अधिक होती है। चौथा शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थानमें प्रकट होता है। इस ध्यानके कालमें कोई भी योग नहीं रहता, पूर्ण अयोग अवस्था होती है और उसके फलस्वरूप उपान्त समयमें ७२ और अन्त समयमें १३ प्रकृतियोंका क्षय होता है। इस प्रकार शुक्लध्यान ही कर्मक्षयका प्रमुख कारण है ॥७१-७८॥

आगे गुणश्रेणी निर्जराकी न्यूनाधिकता बताते हैं—

सद्दृष्टिः श्रावकः किञ्च प्रत्यनन्तवियोजकः।
क्षपको दृष्टिमोहस्य तस्योपशमकस्तथा ॥७९॥

शान्तमोहः क्षपकश्च क्षीणमोहस्तथा जिनः ।
इत्येषां दशपात्राणां निर्जरोद्यतचेतसाम् ॥८०॥
निर्जरा किल विज्ञेयाऽसंख्येयगुणिता क्रमात् ।
इत्येवं निर्जरातत्त्वं यथाग्रन्थं निवेदितम् ॥८१॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशमश्रेणीवाला, उपशान्त-मोह, क्षपकश्रेणीवाला, क्षीणमोह और जिन इन निर्जरा करनेमें उद्यत चित्तवाले दश पात्रोंकी निर्जरा क्रमसे असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी जानना चाहिये । इस प्रकार पूर्व ग्रन्थोंके अनुसार निर्जरातत्त्वका कथन किया ॥७९-८१॥

आगे तपका माहात्म्य कहते हैं—

भवसिन्धुसमुत्तारसोत्कण्ठं मानसं यते ! ।
वर्तते यदि तत्क्षिप्रं तपस्तीव्रं समाचर ॥८२॥
मुक्तिकान्तापरिष्वङ्गसंभवानन्दकन्दलीम् ।
लब्धुमिच्छसि चेत्साधो तत्तपः शीघ्रमाचर ॥८३॥

अर्थ— हे मुनिराज ! यदि आपका मन संसाररूपी सागरको पार करनेके लिये समुत्कण्ठित है तो शीघ्र ही तीव्र तपश्चरण करो ॥८२॥ हे साधुराज ! यदि आप मुक्तिरूपी स्त्रीके समालिङ्गनसे उत्पन्न होनेवाले आनन्दकी परम्पराको प्राप्त करना चाहते हैं तो शीघ्र ही तपश्चरण करो ॥८३॥

द्रुतविलम्बित

यदि मनस्तव मुक्तिमनस्विनी-
प्रणयभारसमालमनोद्यतम् ।
भवति साधुपते तपसां चयं
तदचिराद् धर सुन्दरभूषणम् ॥८४॥

अर्थ—हे मुनिराज ! यदि तुम्हारा मन मुक्तिरूपी स्त्रीका प्रेमसमूह प्राप्त करनेके लिये उद्यत है तो शीघ्र ही तपःसमूहरूपी सुन्दर आभूषणको धारण करो ॥८४॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिंतामणिमें निर्जरातत्त्वका वर्णन करनेवाला नवम मयूख समाप्त हुआ ॥९॥

दशमो मयूखः

अब मङ्गलाचरण पूर्वक मोक्षतत्त्वको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

रथोद्धता

नष्टकर्मनिचयं जिनेश्वरं
बोधदृष्टिसुखवीर्यशालिनम् ।
मोक्षतत्त्वमथ कीर्त्यतेऽधुना
भक्तिभारनिभृतं प्रणम्य च ॥१॥

अर्थ—जिनके कर्मोंका समूह नष्ट हो चुका है तथा जो ज्ञान, दर्शन, सुख, और वीर्यसे सुशोभित हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान्‌को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर इस समय मोक्षतत्त्वका कथन किया जाता है ॥१॥

मोक्षका स्वरूप—

सर्वकर्मनिचयस्य योगिना-
मात्मनः किल विमोक्षणं तु यत् ।
तद्धि सर्वसुखदं प्रकीर्त्यते
मोक्षतत्त्वमिह साधुसंचयैः ॥२॥

अर्थ—योगियों—मुनियोंकी आत्मासे समस्त कर्मसमूहका जो छूटना है वह इस जगत्‌में साधुसमूहके द्वारा सर्वसुखदायक मोक्ष कहा जाता है।

भावार्थ—संवर और निर्जराके द्वारा समस्त कर्मोंका सदाके लिये सब प्रकारसे छूट जाना मोक्ष कहलाता है। यह मोक्ष मुनियोंको ही प्राप्त होता है, गृहस्थोंके लिये नहीं ॥२॥

आगे केवलज्ञानपूर्वक ही मोक्षकी प्राप्ति होती है यह कहते हैं—

ध्यानतीक्ष्णकरवालधारया कृत्तमोहविधिसैन्यभूपतिः ।
न्यक्कृतत्रिविधघातिको जनो बोधराज्यमतुलं प्रपद्यते ॥३॥

अर्थ—ध्यानरूपी तीक्ष्ण तलवारकी धारासे जिन्होंने सर्वप्रथम मोहरूपी कर्मसेनाके सेनापतिको नष्ट किया है और पश्चात् शेष तीन घातिया कर्मोंको नष्ट किया है ऐसा मनुष्य केवलज्ञानरूप अनुपम राज्यको प्राप्त करता है।

भावार्थ—क्षपकश्रेणीमें आरूढ़ मुनि शुक्लध्यानके प्रथम भेदके द्वारा दशम गुणस्थानके अन्तमें मोहनीय कर्मका पूर्ण क्षय करते हैं। यह मोहनीय कर्म, समस्त कर्मोंमें प्रधान है क्योंकि इसके उदयमें होनेवाले मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषायरूप परिणामोंसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है। मोहनीयका पूर्ण क्षय हो जानेपर मुनि, सेनापतिको नष्ट करनेवाले राजाके समान निश्चिन्तताको प्राप्त होते हैं। पश्चात् शुक्लध्यानके द्वितीय भेदके द्वारा बारहवें गुणस्थानके अन्तमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और नामकर्मकी सोलह प्रकृतियोंका क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं ॥३॥

नास्ति तत्किमपि भूत्रयेऽपि यज्जैनबोधविषयं न पद्यते।
अन्तशून्यमथ दर्शनं सुखं वीर्यमत्र लभते जिनेश्वरः ॥४॥

अर्थ—तीनों लोकोंमें वह कोई भी पदार्थ नहीं है जो जिनेन्द्र भगवान्के ज्ञानके विषयको प्राप्त नहीं होता है। वे जिनेन्द्र भगवान् घातिचतुष्कका क्षय करके अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यको प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि अरहंत भगवान् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस अनन्तचतुष्टयसे सहित होते हैं ॥४॥

नष्टनैकविधकर्मलेपनः
प्राप्तनिर्मलगुणोच्चयो जिनः।
वीतवारिधरमण्डलावलिः
संचकास्ति गगने यथा रविः ॥५॥

अर्थ—जिनका नाना प्रकारका कर्मरूपी लेप नष्ट हो गया है और जिन्हें निर्मल गुणोंका समूह प्राप्त हुआ है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् आकाशमें मेघके समूहके आवरणसे रहित सूर्यके समान देदीप्यमान होते हैं ॥५॥

आर्या

देशोनकोटिपूर्वं देशे देशे विहारमारभ्य ।
दिव्यध्वनिप्रकाशैर्जनतामोहान्धतामसं हरते ॥६॥

अर्थ—वे देशोनकोटिपूर्व तक अनेक देशोंमें विहार कर दिव्यध्वनिके प्रकाशद्वारा जनसमूहके मोहरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट करते हैं ॥६॥

भावार्थ—कर्मभूमिज मनुष्यकी उत्कृष्ट स्थिति एक कोटिपूर्व वर्षकी है और उसे शीघ्रसे शीघ्र केवलज्ञान हो तो आठ वर्ष तथा अन्तर्मुहूर्तमें हो सकता है। उसके बाद उनका आर्यदेशोंमें विहार होने लगता है जो वर्तमान आयुके अन्तिम अन्तर्मुहूर्त छोड़ कर शेष काल तक होता रहता है। उनके उपदेशोंसे भव्य जीवोंका मोहान्धकार नष्ट होता है ॥६॥

शालिनीछन्द

अन्ते शुक्लध्यानवह्निप्रतापै-
रन्तं नीत्वाऽघातिनां तच्चतुष्कम् ।
आत्मानन्दं स्वात्मजातं समग्रं
मुक्तो भूत्वोपाश्नुते स क्षणेन ॥७॥

अर्थ—अन्तमें शुक्लध्यानरूपी अग्निके प्रतापसे अघातिचतुष्कको नष्ट कर वे क्षणभरमें मुक्त हो कर स्वात्मोत्थ सम्पूर्ण आत्मानन्दको प्राप्त होते हैं ॥७॥

उपजाति

काले गते कल्पशतेऽपि सिद्धो
नायाति भूयो भवसिन्धुनाथम् ।
मुक्त्यङ्गनासङ्गमसौख्यपीयू-
षपानसंभूतमुदावलिप्तः ॥८॥

अर्थ—सैकड़ों कल्पकाल बीत जानेपर भी सिद्ध परमेष्ठी पुनः संसार-सागरको प्राप्त नहीं होते हैं। वे सदा मुक्तिरूपी स्त्रीके समागम सम्बन्धी सुखामृतके पानसे उत्पन्न हर्षसे युक्त रहते हैं ॥८॥

आगे सिद्धोंकी विशेषताका वर्णन करते हैं—

सम्यक्त्वज्ञानसद्दृष्टिसिद्धत्वानि विहाय वै ।
कर्मसम्बन्धजाताया अभावो भावसंहतेः ॥९॥

भव्यत्वस्यापि विज्ञेयो नाशो मुक्तिवधूपतेः ।
कर्मदुर्लेपनाभावे जीवश्चोर्ध्वं व्रजत्यसौ ॥१०॥

आलोकान्तात्स्वयं सिद्धो ह्येकेन समयेन च ।
धर्मास्तिकायसद्भावस्ततोऽग्रे नास्ति कुत्रचित् ॥११॥

न सिद्धानां भवेत्तेन ततोऽग्रे जातुचिद् गतिः ।
तृतीयवातवलयस्थाने संतिष्ठते चिरम् ॥१२॥

अर्थ—क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, सिद्धत्व (तथा अनन्तवीर्य) को छोड़कर कर्मसम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले भावसमूहका सिद्धोंके अभाव हो जाता है। मुक्तिवधूके स्वामी सिद्ध परमेष्ठीके भव्यत्वभावका भी नाश हो जाता है। कर्मरूपी दुःखदायक लेपका अभाव होनेपर वह सिद्धपरमेष्ठी एक समयमें ऊर्ध्वगति स्वभावसे लोकान्त तक पहुँच जाते हैं। लोकान्तके आगे कहीं भी धर्मास्तिकायका सद्भाव नहीं है इसलिये उसके आगे सिद्धोंकी कभी भी गति नहीं होती है। वे तृतीय वातवलय—तनुवातवलयके पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण अन्तिम क्षेत्रमें चिर कालके लिये स्थिर हो जाते हैं ॥९-१२॥

अब हेतु और उदाहरणोंके द्वारा सिद्धोंके ऊर्ध्वगमन स्वभावको सिद्ध करते हैं—

पूर्वप्रयोगतो बन्धच्छेदान्निःसङ्गतोऽपि वा ।
तथागतिस्वभावाद्वा तेषामूर्ध्वगतिर्भवेत् ॥१३॥

कुलालप्रेरितं चक्रं निवृत्ते प्रेरणेऽपि वै ।
भ्रमत्येव यथा जीवस्तथा कर्मणि निर्गते ॥१४॥

कोशबन्धोद्गतं बीजमेरण्डस्य यथोत्पतेत् ।
छिन्नबन्धस्तथा जीवो नियतं चोर्ध्वमेति सः ॥१५॥

गतलेपो यथालाबूरुद्गच्छेत् सलिलाशये ।
नष्टकर्ममृदालेपस्तथोद्गच्छति मुक्तिभाक् ॥१६॥

यथा वैश्वानरज्वाला, स्वभावदूर्ध्वमेति सा ।
तथा प्रयाति जीवोऽयं मुक्त ऊर्ध्वस्वभावतः ॥१७॥

अर्थ—पूर्वप्रयोग, बन्धच्छेद, निःसङ्गता और तथागतिस्वभावसे उन सिद्धोंकी ऊर्ध्वगति होती है ॥१३॥ जिस प्रकार कुम्भकारके द्वारा प्रेरित हुआ चक्र, प्रेरणाके दूर हो जानेपर भी संस्कारवश घूमता रहता है उसी प्रकार जीव भी कर्मके नष्ट हो जानेपर संस्कारवश ऊपरकी ओर गमन करता है। अथवा जिस प्रकार कोशबन्धके छिन्न होनेपर एरण्डकी मिगी ऊपरकी ओर जाती है उसी प्रकार कर्मबन्धनके छिन्न होनेपर सिद्ध जीव भी ऊपरकी ओर जाता है। अथवा लेपके गल जानेपर जिस प्रकार जलाशयमें तूमा ऊपरकी ओर उठता है उसी प्रकार कर्मरूपी मिट्टीका लेप नष्ट हो जानेपर मुक्त जीव ऊपरकी ओर गमन करता है। अथवा जिस प्रकार अग्निकी ज्वाला स्वभावसे ही ऊपरकी ओर जाती है उसी प्रकार यह मुक्त जीव भी स्वभावसे ऊपरकी ओर जाता है ॥१४-१७॥

आगे सिद्धोंके आठ गुणोंका वर्णन करते हैं—

ज्ञानावृतेः क्षये जातेऽनन्तज्ञानं प्रकाशते ।
दर्शनावरणे क्षीणे निरन्ता दृष्टिरुद्भवेत् ॥१८॥
वेदनीयविनाशेन ह्यव्याबाधो गुणो भवेत् ।
प्रपन्ने पञ्चतां मोहे सम्यक्त्वमुपजायते ॥१९॥
विरहेणायुषः किञ्चावगाहनगुणो भवेत् ।
सूक्ष्मत्वमिष्यते नूनमभावे नामकर्मणः ॥२०॥
गोत्रकर्मणि संछिन्ने गुणोऽगुरुलघुर्भवेत् ।
अन्तरायविनाशेन वीर्यत्वमुपजायते ॥२१॥

अर्थ—ज्ञानावरणका क्षय होनेपर अनन्तज्ञान प्रकाशित होता है। दर्शनावरणके नष्ट होनेपर अनन्तदर्शन प्रकट होता है। वेदनीयका विनाश होनेसे अव्याबाध गुण होता है। मोहके नष्ट हो जानेपर सम्यक्त्वगुण उत्पन्न होता है। आयुके अभावसे अवगाहनगुण होता है। निश्चय ही नामकर्मका अभाव होनेपर सूक्ष्मत्वगुण माना जाता है। गोत्रकर्मका क्षय होनेपर अगुरुलघुगुण होता है और अन्तरायके विनाशसे वीर्यगुण प्रकट होता है ॥१८-२१॥

आगे मुक्त जीवोंके वैभाविकी शक्तिका स्वाभाविक परिणमन होता है, यह कहते हैं—

जीवे वैभाविकीशक्तिः प्रोक्तायाः पूर्वसूरिभिः ।
ज्ञेया स्वाभाविकी वृत्तिर्मुक्तौ मुक्तिभृतां नृणाम् ॥२२

अर्थ—पूर्वाचार्योंने जीवमें जिस वैभाविकी शक्तिका कथन किया है उस शक्तिका मोक्षमें मुक्त जीवोंके स्वाभाविक परिणमन होता है ॥२३॥

अब मुक्त जीवोंकी अवगाहनाका वर्णन करते हैं—

ईषन्न्यूनाकृतिस्तेषामन्त्यदेहप्रमाणतः ।
क्षुण्णकर्मकदम्बानां प्रोक्ता मुक्तिर्महीतले ॥२३॥

अर्थ—जिनके कर्मसमूहका क्षय हो चुका है ऐसे सिद्ध परमेष्ठियोंकी अवगाहना मुक्तिमें अन्तिम शरीरसे कुछ कम कही गई है ॥२३॥

आगे मुक्त जीवोंमें आसनका कथन करते हैं—

द्वे एव चासने प्रोक्ते सिद्धानां सिद्धिसद्मनि ।
एकं पद्मासनं त्वन्यत् कायोत्सर्गासनं तथा ॥२४॥

अर्थ—सिद्ध जीवोंके मोक्षमें दो आसन कहे गये हैं—एक पद्मासन और दूसरा कायोत्सर्गासन ॥२४॥

आगे यद्यपि आत्मगुणोंके विकासकी अपेक्षा सब सिद्धोंमें समानता है तथापि क्षेत्र आदिकी अपेक्षा विशेषता बताते हैं—

क्षेत्रं कालं गतिं तीर्थं चारित्रं बुद्धबोधितम् ।
ज्ञानावगाहने लिङ्गं संख्यामल्पबहुत्वकम् ॥२५॥
अन्तरं च समाश्रित्य भूतप्रज्ञापनैर्नयैः ।
भेदाः सिद्धेषु संसाध्याः पण्डितानामधीश्वरैः ॥२६॥

अर्थ—ज्ञानी जनोंको भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा सिद्धोंमें क्षेत्र, काल, गति, तीर्थ, चारित्र, बुद्ध-बोधित, ज्ञान, अवगाहना, लिङ्ग, संख्या, अल्पबहुत्व और अन्तर इन बारह अनुयोगोंका आश्रय कर भेद सिद्ध करना चाहिये ।

विशेषार्थ—क्षेत्रादि अनुयोगोंका वर्णन वर्तमानग्राही तथा भूतग्राही इन दो नयोंके द्वारा किया गया है । जो इस प्रकार है—

क्षेत्र—

प्रश्न—क्षेत्रकी अपेक्षा किस क्षेत्रमें सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—वर्तमानग्राही नयकी अपेक्षा सिद्धक्षेत्रमें, अपने आत्म-प्रदेशोंमें अथवा आकाशप्रदेशमें सिद्धि होती है। भूतग्राही नयकी अपेक्षा जन्मसे पन्द्रह कर्मभूमियोंमें और अपहरणकी अपेक्षा मानुष क्षेत्र—अढ़ाई द्वीपमें सिद्धि होती है।

काल—

प्रश्न—कालकी अपेक्षा किस कालमें सिद्धि होती है ?

उत्तर—वर्तमानग्राही नयकी अपेक्षा एक समयमें सिद्ध होता है और भूतग्राही नयकी अपेक्षा जन्मसे सामान्य रूपमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-में उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। विशेषरूपमें अवसर्पिणी कालमें सुषमा दुःषमाके अन्त भागमें और दुःषमासुषमामें उत्पन्न हुआ मनुष्य सिद्ध होता है। दुःषमामें उत्पन्न हुआ दुःषमामें सिद्ध नहीं होता। अन्य कालमें सिद्ध नहीं होता। अपहरणकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोंमें सिद्ध होता है।

गति—

प्रश्न—गतिकी अपेक्षा किस गतिसे सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—सिद्ध गति अथवा मनुष्यगतिसे सिद्ध होते हैं।

लिङ्ग—

प्रश्न—किस लिङ्गसे सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—अवेदभावसे अथवा तीनों वेदोंसे सिद्ध होते हैं। यह भाव-वेदकी अपेक्षा कथन है। द्रव्यवेदकी अपेक्षा केवल पुरुषवेदसे ही सिद्ध होते हैं। अथवा लिङ्गके दो भेद हैं—१ निर्ग्रन्थ लिङ्ग और २ सग्रन्थ-लिङ्ग। इनमेंसे निर्ग्रन्थलिङ्ग—दिगम्बर मुद्रासे ही सिद्ध होते हैं सग्रन्थ-लिङ्गसे नहीं। अथवा भूतपूर्व नयकी अपेक्षा सग्रन्थलिङ्गसे भी सिद्ध होते हैं।

तीर्थ—

तीर्थसिद्ध दो प्रकारके होते हैं—१ तीर्थंकर सिद्ध और २ इतर सिद्ध। जो स्वयं तीर्थंकर होकर सिद्ध होते हैं वे तीर्थंकर सिद्ध कहलाते हैं और जो तीर्थंकर न होकर साधारण मनुष्यपदसे मोक्ष प्राप्त करते हैं वे इतर सिद्ध कहलाते हैं। इतर सिद्ध भी दो प्रकारके हैं—एक तीर्थंकरके रहते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं और दूसरे तीर्थंकरके अभावमें मोक्ष प्राप्त करते हैं।

चारित्र—

प्रश्न—किस चारित्रसे सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—अव्यपदेश—नामरहित चारित्रसे सिद्ध होते हैं अथवा यथा-ख्यात चारित्रसे सिद्ध होते हैं। अथवा सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात इन चार चारित्रोंसे सिद्ध होते हैं अथवा जिनके परिहारविशुद्धि चारित्र भी होता है उनकी अपेक्षा पाँच चारित्रोंसे सिद्ध होते हैं।

प्रत्येकबुद्ध—बोधितबुद्ध—

कोई मनुष्य पूर्वभवके संस्कारकी प्रबलतासे परोपदेशके बिना स्वयं ही विरक्त हो दीक्षा लेकर सिद्ध होते हैं वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं और कोई दूसरेके उपदेशसे प्रभावित हो दीक्षा लेकर सिद्ध होते हैं वे बोधित-बुद्ध कहलाते हैं।

ज्ञान—

प्रश्न—किस ज्ञानसे सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—वर्तमान नयकी अपेक्षा केवलज्ञानसे सिद्ध होते हैं और भूत-पूर्वग्राही नयकी अपेक्षा कोई मति, श्रुतके बाद केवलज्ञानी होकर सिद्ध होते हैं, कोई मति-श्रुत और अवधिके बाद अथवा मति, श्रुत और मनः-पर्ययके बाद अथवा मति आदि चारों ज्ञानोंके बाद केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होते हैं।

अवगाहना—

प्रश्न—सिद्धोंकी कितनी अवगाहना है ?

उत्तर—सिद्धोंकी उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढे तीन हाथ प्रमाण है। मध्यम अवगाहना-के अनेक विकल्प हैं। साढ़े तीन हाथकी अवगाहना चतुर्थ कालके अन्तमें होनेवाले जीवोंके संभव होती है अथवा चतुर्थ कालमें जब मनुष्यकी पूर्ण अवगाहना सात हाथके लगभग होती है तब किसी बालकको आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्तकी अवस्थामें केवलज्ञान हो जावे तो उसकी अपेक्षा संभव होती है क्योंकि केवलज्ञान होनेपर शरीरकी बाढ़ नहीं होती।

अन्तर—

प्रश्न—सिद्धोंमें अन्तर कितना होता है ?

उत्तर—लगातार सिद्ध होते हुए सिद्धोंमें जघन्य अनन्तर दो समय और उत्कृष्ट अनन्तर आठ समय है। जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर छह माह है।

संख्या—

प्रश्न—एक समयमें कितने जीव सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—कम-से-कम एक और अधिक-से-अधिक एकसौ आठ जीव सिद्ध होते हैं।

अल्पबहुत्व—

क्षेत्रादि अनुयोगोंकी अपेक्षा परस्पर हीनाधिकताका विचार करना अल्पबहुत्व है। वर्तमानग्राही नयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्रमें सिद्ध होनेवाले जीवोंमें अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्वग्राही नयकी अपेक्षा विचार करते हैं—क्षेत्रसिद्ध जीव दो प्रकारके हैं—१ जन्मसिद्ध और २ संहृरणसिद्ध। इनमें संहृरणसिद्ध जीव सबसे अल्प हैं। जन्मसिद्ध जीव इनसे संख्यातगुणे हैं। क्षेत्रोंका विभाग सात प्रकारका है—१ कर्मभूमि, २ अकर्मभूमि, ३ समुद्र, ४ द्वीप, ५ ऊर्ध्वलोक, ६ अधोलोक और ७ तिर्यग्लोक। इनमें ऊर्ध्वलोक सिद्ध सबसे थोड़े हैं। इनसे अधोलोक सिद्ध संख्यातगुणे हैं। इनसे तिर्यग्लोकसिद्ध संख्यातगुणे हैं। समुद्रसिद्ध सबसे कम हैं। इनसे द्वीपसिद्ध संख्यातगुणे हैं। यह सामान्य कथन है। विशेषरूपसे विचार करनेपर लवण-समुद्रसे सिद्ध होनेवाले सबसे अल्प हैं, कालोदधिसे सिद्ध होनेवाले इनकी अपेक्षा संख्यातगुणे हैं, इनसे संख्यातगुणे जम्बूद्वीपसिद्ध हैं, इनसे संख्यातगुणे धातकीखण्डसिद्ध हैं, इनसे संख्यातगुणे पुष्करार्धद्वीपसिद्ध हैं।

कालविभाग तीन प्रकारका है—१ उत्सर्पिणी, २ अवसर्पिणी और ३ अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणी। इनमें उत्सर्पिणीसिद्ध सबसे अल्प हैं, अवसर्पिणीसिद्ध इनसे विशेष अधिक और अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणी सिद्ध अर्थात् विदेहक्षेत्रसे सिद्ध होने वाले सिद्ध इनसे संख्यातगुणे हैं।

अनन्तर सिद्धोंमें अष्टसमयानन्तर सिद्ध सबसे अल्प हैं, सप्तसमयानन्तर सिद्ध उनकी अपेक्षा संख्यातगुणे हैं, इस प्रकार द्विसमयानन्तर सिद्ध तक संख्यातगुणे संख्यातगुणे हैं। सान्तर सिद्धोंमें छह मासके अन्तरसे सिद्ध होनेवाले सबसे अल्प हैं और एक समयके अन्तरसे सिद्ध होनेवाले संख्यातगुणे हैं।

तिर्यञ्चगतिसे मनुष्यगतिमें आकर सिद्ध होनेवालोंकी संख्या सबसे थोड़ी है। मनुष्यगतिसे मनुष्यगतिमें आकर सिद्ध होनेवालोंकी संख्या उनसे संख्यातगुणी है। नरकगतिसे मनुष्यगतिमें आकर सिद्ध होने वालोंकी संख्या उनसे संख्यातगुणी है और देवगतिसे मनुष्यगतिमें आकर सिद्ध होनेवालोंकी संख्या उनसे संख्यातगुणी है।

परमार्थसे वेदरहित जीव ही सिद्ध होते हैं क्योंकि वेदका उदय नवम गुणस्थान तक ही रहता है। भूतग्राही नयकी अपेक्षा भावनपुंसकवेदसे सिद्ध होनेवाले सबसे थोड़े हैं, भावस्त्रीवेदसे सिद्ध होनेवाले उनकी अपेक्षा संख्यातगुणे हैं और द्रव्य तथा भाव पुंवेदसे सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं। तीर्थानुयोगकी अपेक्षा तीर्थंकरसिद्ध सबसे अल्प हैं और अन्य सिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं।

चारित्रानुयोगकी अपेक्षा सब यथाख्यातचारित्रसे ही सिद्ध होते हैं, परन्तु भूतग्राही नयकी अपेक्षा पाँच चारित्रों और चार चारित्रोंसे सिद्ध होते हैं। उनमें पाँच चारित्रोंसे सिद्ध होनेवाले अल्प हैं और चार चारित्रोंसे सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं।

प्रत्येकबुद्ध अल्प हैं और बोधितबुद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं।

मति, श्रुत और मनःपर्यय ज्ञानके बाद केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले सबसे थोड़े हैं। मति, श्रुत ज्ञानके बाद केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान पूर्वक केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं और मति, श्रुत, अवधि पूर्वक केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं।

जघन्य अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले सबसे थोड़े हैं। उत्कृष्ट अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं और मध्यम अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यात गुणे हैं।

एकसौ आठकी संख्यामें सिद्ध होनेवाले सबसे थोड़े हैं। एकसौ आठसे लेकर पचास तक सिद्ध होनेवाले अनन्तगुणे हैं। उनंचाससे २५ तक सिद्ध होनेवाले असंख्यातगुणे हैं और चौबीससे एक तक सिद्ध होनेवाले संख्यातगुणे हैं ॥२५-२६॥

आगे मोक्षकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

स्रग्धरा छन्द

वातव्याधूततोयोद्धुरितजलधरव्यूहसन्मार्गतुल्यो
वायुद्दीप्तप्रचण्डानलचपलशिखातप्तमर्मप्रभावः ।
शाणोल्लीढप्रभास्वत्किरणयुतमणिज्योतिराढ्यः समन्तान्
मुक्तात्मा रिक्तकर्मा विहतनिखिलतत्कर्मसङ्घोऽपि जीयात् ।२७

अर्थ—जिसके सजल मेघोंका समूह वायुसे उड़ा दिया गया है ऐसे आकाशके समान हैं, जिनका प्रभाव, वायुसे प्रदीप्त प्रचण्ड अग्निकी चञ्चल शिखाओंसे सन्तप्त स्वर्णके समान है, जो शाणपर कसे हुए देदीप्यमान किरणोंसे युक्त मणिकी ज्योतिसे परिपूर्ण हैं, जो कर्मरहित हैं तथा जिनके समस्त पुण्यकर्मोंका समूह भी नष्ट हो गया है ऐसे सिद्ध भगवन्त सदा जयवन्त प्रवर्तें ॥२७॥

आर्या

काञ्चनपञ्जरपतितो वनचरनाथः सुलालितो यद्वत् ।
वाञ्छति सततं सघनं गहनं स्वातन्त्र्यसद्गेहम् ॥२८॥
सुरपतिनरपतिभोगावलीं प्रपन्नः सचेतनस्तद्वत् ।
भवकारागृहपतितो वाञ्छति मोक्षं सदा सुखदम् ॥२९॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्णके पिंजड़ेमें पड़ा और अच्छी तरहसे पाला गया सिंह स्वतन्त्रताके घरस्वरूप सघन वनकी सदा इच्छा करता है उसी प्रकार संसाररूपी कारागृहमें पड़ा यह जीव इन्द्र तथा चक्रवर्तीके भोगसमूहको प्राप्त कर भी सदा सुखदायक मोक्षकी इच्छा करता है ॥२८-२९॥

शालिनी

कैवल्याढ्यं दृष्टिवीर्यप्रपूर्णं
सौख्यप्राप्तं कर्मशून्यं समन्तात् ।
भास्वद्भास्वज्ज्योतिरीशं स्वतन्त्रं
सिद्धात्मानं नौमि भक्त्या सदाऽहम् ॥३०॥

अर्थ—जो केवलज्ञानसे सहित हैं, दर्शन और वीर्यसे परिपूर्ण हैं, अनन्तसुखसे युक्त हैं, सब ओरसे देदीप्यमान सूर्यसदृश ज्ञानज्योतिके स्वामी हैं तथा स्वतन्त्र हैं उन सिद्धात्माकी मैं सदा भक्तिपूर्वक स्तुति करता हूँ ॥३१॥

आगे व्यवहारसम्यग्दर्शनके विषय होनेसे उपस्थित देव, शास्त्र, गुरुकी, लक्षणगर्भित स्तुति करते हैं—

हिन्दीगीतिकाछन्द

गुणरत्नभूषण ! विगतदूषण ! सौम्यभावनिशापते !
सद्बोधभानुविभाविभासितसकललोक ! विदांपते ! ।

निःसीमसौख्यसमूहमण्डित ! योगखण्डितरतिपते !
अर्हन्नभङ्गुरशर्मभारं देहि मे समतापते ! ॥३१॥

अर्थ—जो गुणरूपी रत्नमय आभूषणोंसे सहित हैं, दूषणोंसे रहित हैं, सौम्यभावके लिए चन्द्रस्वरूप हैं, सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशसे जिन्होंने सकल लोकको प्रकाशित कर दिया है, जो ज्ञानियोंमें अतिशय श्रेष्ठ हैं, अनन्तसुखसमूहसे सुशोभित हैं, जिन्होंने ध्यानके द्वारा कामको नष्ट कर दिया है तथा जो समताके स्वामी हैं ऐसे हे अर्हन्त भगवान् ! आप मेरे लिए अविनाशी सुख प्रदान कीजिये ॥३१॥

वसन्ततिलका

रागाद् विना किमपि वस्तु हितं दिशन्तं
भव्योत्कराय हतकर्मचतुष्टयं तम् ।
मोहादिदोषरहितं विमलीभवन्तं
सेवे मुदा गतभवं भगवन्तमाप्तम् ॥३२॥

अर्थ—जो भव्यसमूहके लिए रागके बिना किसी हितकारी अनिर्वचनीय वस्तुका उपदेश देते हैं, जिन्होंने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं, जो मोहादि दोषोंसे रहित हैं, निर्मल हो रहे हैं तथा जिनका संसार समाप्त हो चुका है ऐसे भगवान् अर्थात् अष्टप्रातिहार्यरूप ऐश्वर्यसे सहित अरहन्तकी मैं हर्षपूर्वक सेवा—आराधना करता हूँ ॥३२॥

हिन्दीगीतिकाछन्द

सद्ध्यानतीक्ष्णकृपाणधारानिहतकर्मकदम्बकं
कृतकृत्यमखिलनरेन्द्रवन्द्यं प्राप्तसुखनिकुरम्बकम् ।
योगीन्द्रयोगनिरूपणीयं स्वात्मकेलिकलापतिं
चैतन्यपिण्डमखण्डरूपं भजे मुक्तिरमापतिम् ॥३३॥

अर्थ—समीचीन ध्यानरूपी खड्गकी धारासे जिन्होंने कर्मसमूहको नष्ट कर दिया है, जो कृतकृत्य हैं, समस्त नरेन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय हैं, जिन्होंने सुखसमूहको प्राप्त कर लिया है, योगीन्द्र—बड़े बड़े मुनिराज अपने ध्यानमें जिनका अवलोकन करते हैं, जो स्वकीय शुद्ध आत्मामें रमण करनेकी कलाके स्वामी हैं, चैतन्य—ज्ञान-दर्शनरूप चेतनाके समूह हैं, तथा अखण्डरूप हैं उन सिद्धपरमेष्ठीको मैं सेवा करता हूँ ॥३३॥

वसन्ततिलका

सिद्धान् विशुद्धवरबोधधरान् प्रसिद्धान्
कर्मारिसङ्घविजयेन विवर्धमानान् ।
शुद्धान्तरीक्षतुलितानमितांश्च नित्यं
वन्दे विभून् भगवतोऽवहितो हिताय ॥३४॥

अर्थ—जो निर्मल केवलज्ञानको धारण कर रहे हैं, प्रसिद्ध हैं, कर्मरूप शत्रुसमूहपर विजय प्राप्त करनेसे निरन्तर बढ़ रहे हैं, निर्मल आकाशके समान हैं तथा अपरिमित—अनन्त हैं उन विभु, भगवन्त सिद्धपरमेष्ठियोंको मैं हितके लिए एकाग्र होता हुआ नमस्कार करता हूँ ॥३४॥

हिन्दीगीतिका छन्द

संसारसिन्धुनिमग्नजन्तुसमूहहितकरदेशनं
सर्वज्ञयोगिनिवेदिताखिलवस्तुरूपनिवेशनम् ।
पूर्वापरादिविरोधशून्यमनन्तधर्मविकाशनं
शास्त्रं नमामि निरन्तरं नरकादिदुःखविनाशनम् ॥३५॥

अर्थ—जो संसार-सागरमें निमग्न प्राणिसमूहके लिए हितकारी उपदेश देनेवाला है, जिसमें सर्वज्ञ जिनेन्द्रके द्वारा प्रतिपादित समस्त वस्तुओंका समावेश है, जो पूर्वापर आदि विरोधसे रहित है, अनन्त धर्मोंको प्रकट करनेवाला है, तथा नरकादिके दुःखोंका नाश करनेवाला है उस शास्त्रको मैं निरन्तर नमस्कार करता हूँ ॥३५॥

आर्या

पूर्वापरादिबाधारहितं सर्वज्ञवीतरागेण ।
रचितं निचितं श्रेयोनिचयैः शास्त्रं भजे भक्त्या ॥३६॥

अर्थ—जो पूर्वापरादि बाधाओंसे रहित है, सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा रचित है तथा कल्याणोंके समूहसे परिपूर्ण है उस शास्त्रकी भक्तिपूर्वक सेवा करता हूँ ॥३६॥

हिन्दीगीतिका छन्द

आचारपञ्चकचरणचारणतत्परं समताधरं
नानातपोभरकृत्तकर्मकलापमाचितशमभरम् ।
गुप्तित्रयीपरिशीलनादिविशोभितं वदतांवरं
आचार्यमञ्चितसर्वथा आर्चामि सञ्चितसंमरम् ॥३७॥

अर्थ—जो पञ्चाचारका स्वयं पालन करने तथा दूसरोंसे पालन करानेमें तत्पर हैं, साम्यभावको धारण करते हैं, नाना तपोंके समूहसे कर्मसमूहको नष्ट करनेमें उद्यत हैं, जिन्होंने शान्तिके समूहका संचय किया है, जो तीन गुप्ति आदिके परिशीलनसे सुशोभित हैं, वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं, पूजा-आराधनासे सहित हैं तथा निराकुलतारूप सुखसमूहको सञ्चित करनेवाले हैं ऐसे आचार्यपरमेष्ठीकी मैं पूजा करता हूँ ॥३७॥

वसन्ततिलका

आचारयन्ति किल पञ्चतया विभिन्न-
माचारमन्तिकगतानितरान्यतीन् ये ।
तांश्च स्वयं खलु तथा चरतः समर्च्या-
नाचार्यकानवहितः प्रणमामि भक्त्या ॥३८॥

अर्थ—जो निकटस्थ मुनियोंको पञ्चाचारका आचरण कराते हैं और स्वयं भी उनका आचरण करते हैं उन पूज्य आचार्यपरमेष्ठियोंको मैं एकाग्र होता हुआ भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ ॥३८॥

हिन्दीगीतिका छन्द

द्वादशविभेदविभिन्नश्रुतभरपठनपाठनकर्मठं
दुर्योगयोगनिरोधरोधितनिखिलदुःखददुर्हठम् ।
कर्त्तव्यदेशनतत्परं विज्ञानगौरवशालिनं
वन्दे सदाऽमितमोदतो गुरुदेवदीधितिमालिनम् ॥३९॥

अर्थ—जो द्वादशाङ्ग श्रुतसमूहके पठन-पाठनमें दक्ष हैं, जिन्होंने दुर्ध्यानोंका प्रसङ्ग रोक कर समस्त दुःखदायक कदाग्रहोंको दूर कर दिया है, जो कर्त्तव्यका उपदेश देनेमें तत्पर हैं, और वीतराग-विज्ञानके गौरवसे सुशोभित हैं उन उपाध्यायपरमेष्ठीरूपी सूर्यको मैं सदा अपरिमित हर्षसे नमस्कार करता हूँ ॥३९॥

वसन्ततिलका

एकादशाङ्गकुशलांश्च समग्रपूर्व-
विज्ञान् यतीन् पठनपाठनकर्मठांस्तान् ।
अध्यापकान् श्रुतधरान् सुगतान् समस्तान्
वन्दामहे सुरवरैः श्रितपादपद्मान् ॥४०॥

अर्थ—जो ग्यारह अङ्गोंमें कुशल हैं, समस्त पूर्वोके ज्ञाता हैं, पठन-पाठनमें निपुण हैं, शास्त्रोंके धारक हैं, उत्तम ज्ञानसे सहित हैं तथा इन्द्रोंके द्वारा पूजितचरण हैं उन समस्त उपाध्याय परमेष्ठियोंको हम नमस्कार करते हैं ॥४०॥

हिन्दीगीतिका छन्द

संयमसमित्यावश्यकापरिहाणिगुप्तिविभूषितं
पञ्चाक्षदान्तिसमुद्यतं समतासुधामरभूषितम् ।
भूपृष्ठविष्टरशायिनं ह्यातापनादिविभूषितं
साधुं सदा परमेष्ठिनं वन्दे मुदा शमभूषितम् ॥४१॥

अर्थ—जो संयम, समिति, आवश्यकापरिहाणि और गुप्तियोंसे विभूषित हैं, पञ्चेन्द्रियोंका दमन करनेमें उद्यत हैं, समतारूपी अमृतके समूहसे सुशोभित हैं, पृथिवीतलरूप शय्यापर शयन करनेवाले हैं, आतापनादि योगोंसे अलंकृत हैं तथा प्रशमभाव—लोकोत्तर शान्तिसे विराजमान हैं उन साधुपरमेष्ठीको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥४१॥

उपजाति

संसारमेतं खलु सारहीनं
विबुध्य मुक्त्यध्वनि वर्तमानाः ।
ये साधयन्त्यात्महितं वनेषु
यतीन्यजे तान् वरभक्तिभावात् ॥४२॥

अर्थ—जो निश्चयसे संसारको सारहीन जानकर मुक्तिके मार्गमें वर्त्तमान हैं—प्रयाण कर रहे हैं तथा जो वनोंमें आत्महितकी साधना करते हैं उन मुनियों—साधुपरमेष्ठियोंकी मैं उत्कृष्ट भक्तिभावसे पूजा करता हूँ ॥४२॥

आगे अन्तमङ्गल करते हैं—

आर्या

गतविरुजं जितजलजं नततमदिविजं समग्रगुणसज्जम् ।
हृतमुक्तिस्त्रीलज्जं चरणपयोजं भजे जिनेन्द्रस्य ॥४३॥

अर्थ—जो रोगरहित हैं, कमलको जीतनेवाले हैं, जिन्हें देव अत्यन्त नमस्कार करते हैं, जो समस्तगुणोंसे सुसज्जित हैं और जिन्होंने मुक्ति-

रूपी स्त्रीकी लज्जाको दूर कर दिया है ऐसे जिनराजके चरणकमलोंकी सेवा करता हूँ ॥४३॥

स्रक्छन्दः

विषमविषयदवदहनघनहितः
सकलमनुजखगदिविजप्रणतः ।
निखिलहृदयरथपूरणनगतति-
र्जयति जगति गुणविपुलजिनपतिः ॥४४॥

अर्थ—जो विषम विषयरूपी दावानलको शान्त करनेके लिए मेघके समान हितकारी हैं, समस्त मनुष्य, विद्याधर और देवोंके समूह जिन्हें नमस्कार करते हैं और जो, सबके मनोरथोंकी पूर्ति करनेके लिए कल्प-वृक्षोंके समूह हैं ऐसे विशाल गुणोंके धारक जिनेन्द्र भगवान् जगत्‌में सदा जयवंत प्रवर्तते हैं ॥४४॥

इस प्रकार सम्यक्त्व-चिन्तामणिमें मोक्षतत्त्व तथा देव-शास्त्र-गुरुका वर्णन करनेवाला दशम मयूख समाप्त हुआ ॥१०॥

सम्यक्त्व-चिन्तामणिः समाप्तः ।

●

प्रशस्तिः

गल्लीलालतनूजेन जानक्युदरसंभुवा ।
दयाचन्द्रस्य शिष्येण सागरग्रामवासिना ॥१॥

पन्नालालेन बालेन पूर्वाचार्यानुसारिणा ।
देव-शास्त्र-गुरून् भक्त्या नमता शुद्धचेतसा ॥२॥

पूर्वसूरिकृतान् ग्रन्थानाश्रित्य मन्दबुद्धिना ।
अल्पप्रज्ञजनोद्धारहेतवे रचितो ह्ययम् ॥३॥

ग्रन्थः सम्यक्त्वचिन्तादिर्मणिश्चिन्तामणीयताम् ।
भव्यानां भद्रबुद्धीनां तत्त्वज्ञानाभिलाषिणाम् ॥४॥

मुनिरसाब्धियुग्माख्ये(२४६७) वीरनिर्वाणवत्सरे ।
रचितोऽयं मया ग्रन्थः प्रतिष्ठां लभतां सदा ॥५॥

असाधवो हसिष्यन्ति स्खलितं ह्यवलोक्य मे ।
साधवस्तु महाप्रज्ञाः समाधास्यन्ति निश्चितम् ॥६॥

जिनागमविरुद्धस्य तत्त्वस्य प्रतिपादने ।
निरन्तरं विभीतोऽस्मि क्षमन्तां मां ततो बुधाः ॥७॥

येषामाधारमासाद्य ग्रन्थोऽयमुदितः क्षितौ ।
सर्वांस्तान्मनसा वन्दे पूर्वाचार्यान्पुनः पुनः ॥८॥

श्लोकानुक्रमणिका

प

म

य

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२५	विज्ञातलोक त्रितय	विज्ञातलोकत्रितयं
३	१२	जयाताच्छुभ	जयताच्छुभ
३	१५	कुन्दकन्दाचार्य	कुन्दकुन्दाचार्य
४	१	जिन	जिनने
५	१३	श्लोकै	श्लोकै
६	४	—विमोहितम	—विमोहिनम्
७	१	अधारभूत	आधारभूत
७	१३	कृश	कृशं
९	१८	आत्मा	आत्माको
१०	१३	आत्मनैव कृत	आत्मनैव कृतं
१०	१५	तत्प्रतीकाराभावे	तस्य प्रतीकाराभावे
१६	१०	एव	एवं
१६	१५	दीर्णस्येव	दीर्णस्य
१९	३	विधाय	विधाय
२०	२०	सर्वज्ञनामभाक	सर्वज्ञनामभाक्
२०	२६	वयः कृत	वयःकृत
२२	२०	मुक्ति	मुक्तिं
२५	१८	याग्यता	योग्यता
२६	९	पूर्वोका	पूर्वोक्त
५०	१०	भव्यजीवान	भव्यजीवाना
५२	२८	देशघती	देशघाती
५७	२३	औपशामिक	औपशमिक
६६	३	ध्येय	ज्ञेय
६८	१८	अद्धानोऽन्यथा	अद्धानोऽन्यथा
७२	१२	मतिः	यतिः
८०	१४	विजयन्ते	राजन्ते
८४	१३	मूर्च्छका	मूर्च्छाकं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८८	१५	भुञ्जन्ते	भुञ्जते
९२	१	कुण्डे	कुण्डेषु
१०२	२	यभिधीयन्ते	अभिधीयन्ते
१०३	२६	कृतकर्मकलेवरैः	कृतकर्मकलेवरैः
१०४	१७	आर्येतरपञ्चखण्डेषु	आर्यादितरखण्डेषु
११०	१५	महातले	महीतले
१११	१७	प्राकारायते	तत्प्राकारायते
११२	१०	भविनां	भविताम्
११२	१६	केचिद्गर्भजन्मानः	केचिद्वै गर्भजन्मानः
१२६	११	हाता जाता है	होता जाता है
१२६	२०	इत्थमेकेन्द्रियानामवगाहः	इत्थमेकेन्द्रियादीनामवगाहः
१२८	२०	सूचिकलाप	सूचीकलाप
१२८	२१	प्रवाताभृत	प्रवातामृत
१३०	४	कर्मागमकरणं	कर्मागमकारणं
१३०	१४	प्रजापते	प्रजायते
१३०	२०	विरच्यते	विधीयते
१३२	१८	चेतायुतानां	चेतोयुतानां
१३८	६	विनाशनाम	विनाशनाय
१३८	२५	विधुंतदोऽयं	विधुंतुदोऽयं
१३९	१६	भूरिभूतिः	भूरिभूतेः
१४४	२१	लोकावभासकं	वै लोकावभासकम्
१४८	११	यमिसंयतः	यमिसंमतः
१४८	१३	यातेषु या तेषू	यातेषु
२०६	७	मिचुमर्दस्य	पिचुमर्दस्य
२२२	१८	बन्धोः नुः	बन्धो नुः
२२३	१२	षडपि च	षट् च हि
२२५	१६	विक्रियाञ्च शरीरस्य	विक्रियाख्यशरीरस्य
२३१	२८	बन्धन्तीह	बध्नन्तीह
२३४	२५	तद्वुभुत्सुभिः	तद्वुभुत्सुभिः
२३४	२९	प्रोक्ता संक्षेपाद्वा	प्रोक्ताऽसंक्षेपाद्वा
२३७	१५	आगे अनुभाग	आगे उत्कृष्ट अनुभाग
२३७	१८	अतिसंक्लेशभावे न	अतिसंक्लेशभावेन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३७	१९	शुभानाशुभानां	शुभानामशुभानां
२४९	३०	भज्जनं	भञ्जनं
२५०	१९	सदृषा	सदृषां
२५८	१४	जाना	जान
२६०	२०	पमदस्स	पयदस्स
२६४	१९	नेकभूषा	नैकभूषा
२७३	६	कालओं का	कलाओंका
२७५	२०	संयमनः	संयमनं
२७८	८	मुपचिनुहि	मुपचिनु हि
२७८	१०	संचिनुहि	संचिनु हि
२८०	१	विषवेदनरक्तक्षय	विषवेदनरक्तक्षयभय
२८०	१६	शीकरं वै	शीकरं नैव
२८१	२०	रक्तक्षय	रक्तक्षयभय
२८८	१५	झगिति	झगिति
२८९	१३	इति वत बुद्धया	इति वत किल बुद्धया
२९८	२७	काक गृद्धादि	काकगृद्ध्रादि
३०१	२७	बहुल तृषा	बहुलतृष्णा
३०५	४	राजुसप्तद्वयात्मा	रज्जुसप्तद्वयात्मा
३०५	१३	शेषर्धारणीयः	शेषैर्धारणीयः
३०७	४	त	तद्धि
३१६	१५	क्षीणरोचि	क्षीणरोचिः
३२०	१६	चिन्ताभिर्दूरगस्य	चिन्ताभ्यो दूरगस्य
३३६	२०	सदृष्टि	सद्दृष्टि
३३८	३२	प्रत्यनन्तवियोजकः	प्रत्यनन्तवियोजकः